समर्पण

प्रातःस्मरणीया श्रीमती परम पूज्या माता जी

की

स्वर्गीय पुण्यात्मा की शुभ स्मृति के लिये उन्हीं के चरण-
कमलों में यह तुच्छ प्रणति सादर-
सप्रेम-समर्पित है

आज्ञाकारी प्रिय पुत्र—
रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

सम्पादकीय-वक्तव्य

श्रद्धेय भ्रातृवर श्री० 'रसाल' जी के 'अलंकार पीयूष' नामी ग्रंथ के पूर्वार्ध भाग का हिन्दी-संसार ने जैसा सम्मान किया है, आशा है, वैसे ही हिन्दी-साहित्य-मर्मज्ञ एवं काव्य-कला-कुशल-विद्वान् पाठक उनके उसी ग्रन्थ के इस उत्तरार्ध भाग को भी सम्मानित करने की कृपा करेंगे। हिन्दी के प्रायः सभी प्रतिष्ठित-विद्वानों ने पूर्वार्ध पर अपनी सुसम्मतियाँ दी हैं जिनके कारण हमें इस उत्तरार्ध भाग के शीघ्र प्रकाशित करने में अच्छा प्रोत्साहन मिला है। कतिपय विशेष कारणों से अभी हम इसके प्रकाशित करने में समर्थ न थे किन्तु अपने बहुतेरे परम मित्रों एवं बहुत से सहृदय पाठकों की सानुरोध आग्रह से हमें इस कार्य को इसी समय शीघ्रता के साथ करना ही पड़ा। उस समय हमें और भी अधिक प्रोत्साहन तथा आनन्द मिला, जिस समय प्रकाशक महोदय ने हमारे पास यह सूचना भेजी कि अलंकार-पीयूष का पूर्वार्ध नागपुर-विश्वविद्यालय में उच्च-कक्षाओं के लिये स्वीकृत किया गया है और इसके उत्तरार्ध भाग की भी माँग आई है। यह सूचना पाकर हमें इसके उत्तरार्ध भाग को शीघ्र ही प्रकाशित करने की आवश्यकता अनिवार्य जान पड़ी और हमने जैसे भी हो सका इस कार्य के करने का गुरुतर भार ले ही लिया।

आज अत्यन्त प्रसन्नता के साथ हम 'अलंकार-पीयूष' के इस उत्तरार्ध भाग को अपने सहृदयोदार पाठकों की सेवा में उपस्थित हुए यह निवेदन करते हैं कि-

हमारे विचारशील पाठक इसकी उन समस्त त्रुटियों के लिये जो इसमें किसी प्रकार बच कर रह गई हों हमें क्षमा करें। जैसाकि हम पूर्वार्ध में ही कह चुके हैं, सम्पादन-कार्य एक गुरुतर कार्य है, यदि वह यथावत रूप में किया जाय। फिर ऐसे गम्भीर एवं गवेषणा पूर्ण उच्चकोटि के साहित्यिक-ग्रन्थ का सम्पादन तो और भी गुरुतम है। अस्तु, अभी यथाशक्ति 'ब्रज-भाषा-पीयूष' नामी ग्रंथ में, जो छप कर शीघ्र ही आप महानुभावों की सेवा में उपस्थित होरहा है, व्यस्त रहने के कारण हम इसमें उतना अधिक समय एवं उतनी अधिक शक्ति नहीं लगा सके जितनी कि हम लगाते यदि हमारे पास और कोई आवश्यक कार्य न होता।

हमें कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थ में कितनी एवं कैसी मौलिकता और क्या विशेषता है, हमारे सुयोग्य पाठक इसे स्वतः देख सकते हैं। यहाँ हम केवल यही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अलंकार-शास्त्र की ऐतिहासिक-आलोचना एक शास्त्रीय शैली से पूर्वार्ध भाग में की गई है उसी प्रकार अलङ्कारों की मार्मिक-विवेचना, व्याख्या एवं गवेषणा वैज्ञानिक ढङ्ग से इस उत्तरार्ध भाग में दिखलाई गई है। कतिपय मौलिक और नवीन अलंकार तथा भेदोपभेद भी श्री 'रसाल' जी ने दिये हैं। हाँ, विस्तार-भय से हमने इसमें उदाहरणों का बाहुल्य नहीं किया क्योंकि हमारी यह धारणा है कि यह ग्रंथ बस उन्हीं के आनन्द के लिये है जो अलंकारों से सुपरिचित हैं और उनके विविध-उदाहरणों की अपेक्षा न रख के केवल विवेचना एवँ गवेषणा पर ही पूर्ण ध्यान देते हैं।

उन विद्यार्थियों की आग्रह से, जो अलङ्कारों से परिचित ही होना चाहते हैं और अलङ्कार-शास्त्र की गम्भीरता में साम्प्रतं नहीं प्रवेश कर सकते, श्री० 'रसाल' जी एक स्वतंत्र पुस्तक लिख

हैं। इसके साथ ही काव्य-कला-चातुर्य्य एवं चित्रालंकार सम्बन्धी एक स्वतंत्र ग्रन्थ और भी वे लिख रहे हैं।

अन्त में हम उन समस्त महानुभावों को जिन्होंने इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध पर अपनी अमूल्य सम्मतियों के भेजने की कृपा की है, और जिन्होंने इसे अपना कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है, हृदय से धन्यवाद देते हुए 'अलंकार-पीयूष' के इस उत्तरार्ध भाग को भी उन्हें सादर समर्पित करके कृतार्थ हो रहे हैं और आशा रखते हैं कि वे इसे भी अपनाने की कृपा कर के हमें अनुग्रहीत करेंगे।

सुधाकर-कार्य्यालय
प्रयाग
१—१२—१६२६

भवदीय,
रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

वक्तव्य

अलंकार-शास्त्र का विषय बहुत ही जटिल, गूढ और गम्भीर है। इसमें सब से अधिक कठिन भाग अर्थालंकार-प्रकरण है। अर्थालंकारों के क्षेत्र में हमारे प्राचीन आचार्यों ने बहुत बड़ा विकास सम्बन्धी कार्य किया है, जिससे अर्थालंकारों का विस्तार एवं विकास बड़े ही अच्छे रूप में हो गया है, और इनकी संख्या भी बहुत पर्याप्त हो चुकी है। इनकी विवेचना एवं व्याख्या जिस प्रगाढ़ पाँडित्य, कला-कौशल और जिस विवेक के साथ संस्कृतज्ञ विद्वानाचार्यों ने की है, उस पटुता, स्वाभाविक मार्मिकता एवं चतुरता के साथ हिन्दी के आचार्यों ने नहीं की। हिन्दी के लेखक प्रायः संस्कृत-ग्रन्थों के ही आधार पर चलते तथा उनका अनुवाद ही करते हुए मिलते हैं।

अर्थालंकारों की संख्या, उनकी परिभाषाओं तथा भेदोपभेदों आदि के विषय में बड़ा मत-भेद है। भिन्न भिन्न आचार्यों ने इनके संम्बन्ध में अपने भिन्न भिन्न मत एवं विचार जो तर्क-साहाय्य से प्रबल एवं पुष्ट हैं, प्रकट किये हैं। इस ग्रंथ में हमने प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों के मतों को सूक्ष्म रूप में दिखला कर विषय को सुबोध एवं सरल स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है, इस कार्य में हम कहाँ तक सफलता प्राप्त कर सके हैं, यह हम नहीं कह सकते, हाँ हमारे उदार विद्वान अवश्य ही अपनी सत्समालोचना के द्वारा कह सकते हैं।

हम अपने पूर्वार्ध में अलंकारों का ऐतिहासिक विकास दिखलाते हुए यह कह चुके हैं कि भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न आचार्य-प्रवरों के द्वारा अर्थालंकारों के नवीन रूपों, भेदों एवं उपभेदों की कल्पनायें की गई हैं और कतिपय नवीन अर्थालंकारों तथा उनके भेदोपभेदों की रचना या उत्पत्ति होती आई है। इन नवीन अलंकारों तथा उनके भेदों में से बहुतों को उत्तरकालीन सभी आचार्यों ने मान्य ठहरा कर अपने ग्रंथों तथा काव्य-क्षेत्र में स्वतंत्र स्थान प्रदान किया है, और कुछ नवीन अलंकारों को छोड़ भी दिया है, उन्हें केवल उनके विरंचिवरों के ही ग्रंथों में रहने दिया है। अलंकारों के इस विकास-करण में न केवल संस्कृत काव्याचार्यों का ही हाथ रहा है, वरन् हमारे हिन्दी के काव्याचार्यों (जैसे, केशव, मतिराम एवं देवादि) का भी अच्छा हाथ रहा है। हमने इस प्रकार के विकास-कार्य पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया है और नवोदित अलंकारों तथा उनके नवकल्पित भेदों को यथा साध्य एवं यथोचित रूप में दिखला भी दिया है। हाँ ग्रंथ के बहुत बढ़ जाने के भय से हमें इस विषय को सूक्ष्मता के ही साथ लिखना पड़ा है।

यद्यपि अलंकारों की इतनी विकाश-वृद्धि हो चुकी है, तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जावे, वह अभी पूर्णतया पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता है कि अभी और भी नवीन अर्थालंकारों तथा उनके भेदोपभेदों की कल्पना या रचना की जावे। हमने ऐसा करने का कुछ प्रयत्न किया है, किन्तु वह तभी सफल एवं सार्थक माना जा सकता है जब हमारे विद्वान हमारे इस प्रयास को देख कर तथा हमारे नवीन अलंकारों एवं भेदोपभेदों पर विचार करके उन्हें अपनाने की उदारता एवं कृपा करें। साथ ही हमारे श्रद्धेय कवि लोग भी उनको अपने काव्य में स्थान प्रदान करने का कष्ट उठाने

की दया दिखलावें। हमने जितने भी नवीन अलंकारों तथा भेदोपभेदों की कल्पना की है, प्रायः उन सब के रूप हमें अपने काव्य-साहित्य में मिलते हैं, यहाँ ग्रन्थ के विस्तार-भय से ही हम उनके उदाहरण नहीं दे सके, और यदि दे भी सके हैं तो बहुत ही सूक्ष्म एवं न्यून रूप में।

इतना होने पर अभी अलंकारों के विकास तथा उनकी वृद्धि के लिये बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है, और हमारे विद्वान एवं विचारशील पाठक ऐसा करके इस शास्त्र को समुन्नत एवं विकासित करते हुए पूर्ति-स्फूर्ति की शिखा पर पहुँचा सकते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अलंकारो का विकास एवं उनकी संख्या में वृद्धि बहुत पर्याप्त रूप में हो चुकी है, अब और अधिक नवीन अलंकारों एवं भेदोपभेदों की आवश्यकता नहीं, किन्तु हमारा इस सम्बन्ध में यही कहना है कि इससे कोई भी हानि नहीं, वरन् सब प्रकार लाभ ही है। प्रथम तो अलंकार-शास्त्र की ऐसा करने से प्रशस्त उन्नति एवं वृद्धि हो जावेगी और फिर उसके आधार पर काव्य-साहित्य में भी नवीन श्री-समृद्धि आ जायेगी। हाँ यह हो सकता है कि यह विकास एवं परिवर्धन हमारे विद्यार्थियों को कुछ अरुचिकर हो, किन्तु हमें विश्वास है कि इससे उन समस्त विद्यार्थियों एवं पाठकों को अवश्य आनन्द मिलेगा जो इस विषय का शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक शैली से अध्ययन करना चाहते हैं और जो विषय की मार्मिक गवेषणा, आलोचना और विवेचना से अनुराग रखते हुए मौलिक खोज और नवाविष्कार के चाहने और सराहने वाले हैं।

अलंकार-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास पर यदि सूक्ष्म दृष्टि डाली जाय तो यह जान पड़ेगा कि अलंकारों का विकास एवं संवर्द्धन मुख्यतया निम्नाङ्कित बातों के ही आधार पर हुआ है—

१—प्रथम कुछ आवश्यक, व्यापक (सर्व साधारण) और स्वाभाविक उपमा आदि अलंकारों की उत्पत्ति हुई थी. फिर उनके विलोम या विरोधी रूप बनाए गए और उन्हें स्वतंत्र अलंकार मान कर पृथक् स्थान दे दिया गया।

२—कुछ अलंकारों के अंगों का विपर्यय अथवा परिवर्तन कर दिया गया, और यों कुछ नये अलंकार रच लिये गये।

३—दो अलंकारों को मिला कर एक नवीन अलंकार की कल्पना की गई। हाँ, यह शैली विशेष रूप से पल्लवित और पुष्पित न हो सकी, और केवल कुछ ही अलंकार इसके द्वारा कल्पित किए गए, और कदाचित् इसे संकर अथवा संसृष्टि का एक विशिष्ट रूप ही मान कर आचार्यों ने इसे विकसित नहीं किया।

४—व्याकरण, न्याय एवं दर्शन शास्त्रादि के कुछ मूल सिद्धान्तों के आधार पर कारक-दीपक, देहरी-दीपक, यथाक्रम असंगति एवं प्रमाणादि अलंकारों की कल्पना की गई। इसे हम अपने पूर्वार्ध में दिखला ही चुके हैं।

अब हम इन उक्त तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली बातों को ध्यान में रख कर यदि चाहें तो अलंकारों का अच्छा विकास कर सकते हैं। हमने ऐसा करने का कुछ प्रयत्न किया भी है जो अब आप महानुभावों के सन्मुख, जैसा भी कुछ है, उपस्थित है। हमें खेद है कि विस्तार-भय से हमें अभी बहुत सी बातें यहाँ छोड़ देनी पड़ीं और बहुत सी बातों को केवल संकीर्ण रूप में ही रखना पड़ा। तो भी हमें विश्वास है कि हमारे सहृदय-पाठकों के लिए यह पर्याप्त होगा। सम्भव है कि हम इस ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति में इसकी ऊनता की पूर्ति करने का प्रयत्न कर सकें।

अब इस ग्रंथ के विषय में हम कुछ और विशेष नहीं कहना चाहते और न हमें कहने का अधिकार ही है। ग्रंथ जैसा कुछ भी है सहृदय विद्वानों की सेवा में उपस्थित है और वे ही इसकी सुसमालोचना करने की क्षमता रखते हैं। हाँ हमें यह विश्वास अवश्य है कि जिस उदारता एवं कृपा के साथ हिन्दी-साहित्य मर्मज्ञों तथा काव्य-कला-कुशल विद्वानों ने इस ग्रंथ के पूर्वार्ध को अपनाने तथा उसकी सुसमालोचना कर के हमें प्रोत्साहित करने की दया दिखलाई है उसी उदार सदयता एवं सहृदयता के साथ वे इस उत्तरार्ध भाग को भी सप्रेम अपना कर हमें कृतार्थ करने की अनुकम्पा अवश्य करेंगे और इसकी मौलिक बातों पर विचार करके हमें अपनी सम्मतियाँ प्रदान करेंगे। एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ होकर आभारी रहेंगे।

अन्त में हम हृदय से अत्यन्त प्रसन्नता के साथ अपने उन महानुभावों को सादर तथा सप्रेम अनेक धन्यवाद देते हैं जिनके कृपापूर्ण प्रोत्साहन का यह एक फल है। हम चिरआभारी हैं अपने परम श्रद्धेय डाक्टर गंगानाथ जी झा एम० ए०, डी० लिट, एलएल-डी०, वाइस चान्सलर के जिन्होंने इस ग्रंथ पर अपने प्राक्कथन के देने तथा इसके देखने की कृपा की है तथा पूज्य डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, डो० एस सी०, महाकवि बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' बी०ए० तथा श्रद्धेय पं० कृष्णकान्त जी मालवीय सम्पादक अभ्युदय (Ex. M. L. A.) के जिन्होंने हमें इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने के लिए सब प्रकार प्रोत्साहित किया है। श्रीयुत पंडित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, श्रीयुत पंडित कृष्णविहारी जी मिश्र सम्पादक माधुरी, श्रीयुत पंडित देवीदत्त जी शुक्ल सम्पादक सरस्वती, श्रीयुत पंडित गयाप्रसाद जी शुक्ल 'सनेही' तथा, आनरेबुल पंडित श्यामविहारी जी मिश्र एम० ए०,

रायबहादुर, रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी जी मिश्र बी० ए० दीवान छतरपुर, श्रीयुत लाला भगवान दीन जी 'दीन' तथा उन अन्य महानुभावों को भी हम हृदय से धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते जिन्होंने अपनी सुसम्मतियों के द्वारा हमें समुत्साह प्रदान किया है।

हम कृतज्ञ हैं उन सब सज्जनों के भी जिन्होंने इसके पूर्वार्ध को अपनाने की कृपा की है।

अन्त में हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं अपने परम प्रिय मित्र श्री बाबू बेनीप्रसाद जी अग्रवाल तथा बाबू रामनरायन लाल जी के प्रति, जिन्होंने इस बड़े ग्रन्थ को प्रकाशित करके उदारता के साथ आज हमें अपने इस 'पीयूष' को हिन्दी-संसार के विद्वानों तथा प्रिय पाठकों के सन्मुख उपस्थित करने का अवसर दिया है।

अन्तिम दो शब्दों में हम यह भी कह देना चाहते हैं कि हमें कतिपय कारणों से इस ग्रंथ के देख रेख का भार अपने अनुजवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' को ही सौंपना पड़ा, इसलिए यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो उनके लिए पाठक उदारता के साथ कृपया हमें ही क्षमा करें। हाँ इसमें जो कुछ भी सुचारुता उनको आनन्द दे उसके लिए वे मुझे तो नहीं वरन् मेरे उक्त अनुजवर को ही अपने सुशब्दों से स्मरण करने व साधुवाद देने की कृपा करें।

तथास्तु

काव्य-कुटीर प्रयाग कार्तिक पूर्णिमा सम्वत् १९८६ वि०	विद्वज्जन कृपा कांक्षी रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

विषयानुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ

अलंकार-पीयूष

[उत्तरार्ध-भाग]

तुल्ययोगिता

जहाँ अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) एवं अप्रस्तुतों (उपमानों) के एक ही धर्म गुण, अथवा क्रियादि का वर्णन किया जावे। इस प्रकार इसके दो मुख्य भेद हो जाते हैं:—

१—प्रस्तुतों का एक धर्मः—

नेह भरे लागत सुप्रिय, देत न कबहूँ चैन।
चलैं कुटिल ह्वै, दुष्ट जन, गणिका, कामिनि-नैन॥

—र० मं०

इसे श्लेषमय भी कर सकते हैं, ऐसी दशा में यह और अधिक रोचक और सुन्दर प्रतीत होता है। इस भेद को श्लेष-संकीर्ण या श्लिष्टयोगिता कहा जाता है।

यथाः—कपट-नेह, असरल, मलिन, करन निकट नित बास।
गनिका-कुटिल कटाच्छ, खल, दोउ ठगत करि हास॥

नोटः—वस्तुतः इसे उपमा का ही एक विशिष्ट रूप कहना चाहिये, क्योंकि इसमें एक प्रकार से उपमा (उपमेय एवं उपमान) ही का तारतम्य है, हाँ उसमें कुछ अन्तर विशेष अवश्य है, जो स्पष्ट है।

२—अप्रस्तुतों का एक धर्मः—

राधा जी के चरन मृदु, अनुपम हैं जग माँहि।
कमल, कुसुमहू कठिनतर, केहि को लागत नाँहि॥

उक्त भेदों के अतिरिक्त भी इसके और भेद यों दिये गये हैं:—

३—द्वितीय तुल्ययोगिताः—जहाँ हित और अहित में समान वृत्ति दिखलाई जावे, तथा मित्र और शत्रु के साथ समान वर्ताव या व्यवहार रक्खा जावे। यथाः—

राज मिलत, बन जात हूँ, जामें सद्दश विकाश।
सो "रसाल-हिय" राम की, मुख-श्री करै निवास॥

नोटः—यह भेद श्री भोजराज के मतानुसार दिया गया है। इसके भी दो भेद या रूप माने गये हैं:—

१—शुद्ध—जिसमें और किसी दूसरे अलंकार का सामंजस्य न हो—यथा—उक्त दो उदाहरणों में।

२—संकीर्णः—जिसमें इस अलंकार के साथ कोई दूसरा अलंकार भी रक्खा हो।

यथाः—"सर-क्रीड़ा करि हरत तुम, तिय को, अरि को मान।

यहाँ श्लेष से यह अलंकार मिलाया गया है—यों ही और भी अलंकारों के साथ इसका योग हो सकता है:—(ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार अलंकार-संमिश्रण होने पर भी तुल्ययोगिता की प्रधानता अबाध रूप में ही रहना चाहिये)।

सज्जन जन को रहत सम, उदय, अस्त में चित्त।
अरुण यथा रवि उदय में, तथा अस्त में नित्त॥

—र० म०

तृतीय तुल्ययोगिताः—जहाँ उपमेय या प्रस्तुत का ऐसे पदार्थों के साथ कथन किया जावे जो उत्कृष्ट गुण रखते हों। यथाः—

कामधेनु अरु कामतरु, चिन्तामनि मन मानि।
चौथो तेरो सुयश हू, है मनसा-फल-दानि॥

नोटः—इसी का एक विलोम रूप भी हो सकता है, जिसमें प्रस्तुतों का ऐसे पदार्थों के साथ वर्णन किया जाय जो बड़े भारी दुर्गुणों से युक्त हों—इसे हीन तुल्ययोगिता की संज्ञा दी जा सकती है।

उक्त भेद दंडी जी के मतानुसार सानुमोदित होकर तुल्य-योगिता का रूप माना गया है, किन्तु अप्पय व जयदेव जी ने इसे सिद्धि नाम का एक स्वतंत्र अलंकार बताया है, अन्य आचार्यों ने इसे दीपक का प्रकाश माना है और उसके एक भेद के रूप में दिखलाया है।

केशवदास ने इसकी गणना अलंकारों में की ही नहीं और उन्होंने इसे अपने ग्रन्थ में दिया भी नहीं।

भिखारीदास ने निम्न भावों से इसे दिखलाया है:—

(१) सम वस्तुनि गनि बोलिये, एक बार ही धर्म।
(२) सम फलप्रद हित अहित को, काहू को यह कर्म॥
(३) सम स्वभाव हित, अहित पर, तुल्ययोगिता चारु।
(४) जेहि जेहि के सम कहन को, कहै कहै कहि ताहि॥"

का० नि० २४,८४

मतिराम, भूषण, एवं अन्य आचार्यों ने उक्त भेदों को ही लिया है—शेष सभी आचार्य प्रायः इन्हीं के आधार पर थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अपने मत लिखते हैं। हाँ, देव जी ने इस अलंकार का लक्षण यों दिया है:—

" जहँ सम करि गुन-दोष को. कीजे वस्तु-बखान ।
स्तुतिन पदारथ को तहाँ, तुल्ययोगिता जान ॥
भा० वि० १२१

अर्थात् किसी वस्तु का, उसके गुणों और दोषों को समान दिखाते हुए, स्तुति या प्रशंसा के भाव के साथ वर्णन करना— इस प्रकार यह परिभाषा अपना स्वतन्त्र स्थान रखती है। देव जी ने इसके भेद नहीं दिखलाये।

मतिराम और भूषण ने दो ही भेद दिये हैं:—

१—वर्ण्यों (प्रस्तुत) और अवर्ण्यों का एक ही धर्म दिखाना।

२—वर्ण्य के हित और अहित का समान रूप से प्रकाशन।
जसवन्तसिंह ने ३ भेद दिये हैं:—

१—एक ही शब्द से जब हित और अहित दोनों प्रगट हों।

२—कई (प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों) में एक ही धर्म कहा जाय।

३—जब अनेक धर्मों (गुणों) का एक साथ ही होना कहा जाय।

नोट:—यह भेद एक विशेष नूतनता रखता है।
लछिराम ने ४ रूप लिखे हैं:—

१—वर्ण्यावर्ण्यों का एक ही धर्म दिखलाना।

२—हिताहित में एक ही धर्म स्थापित करना (साम्य रखना)

*३—समान वचनों में गुण की उत्कर्षता दिखाना।

४—जहाँ वर्ण्यों और अवर्ण्यों के नाम उनके गुणों से ही दिखलाये जावें। यह " यथा नामः तथा गुणः " के अधार पर स्थापित किया गया है, और इसे सिद्ध तुल्ययोगिता का नाम दिया गया है।

(* बड़े गुणों के साथ उपमेय और उपमान में समानता दिखाना)

गोकुल ने वर्ण्यावर्ण्यों में एक धर्म के साथ एक क्रिया का भी दिखलाना उचित माना है। तथा गुणोत्कर्ष के साथ समता-सूचक वचनों का कहना तीसरे रूप का लक्षण दिया है। अन्य आचार्य इन्हीं सब भेदों को दिखलाते हैं।

नोटः—इसके चार भेद यों भी माने गये हैंः—

१—जहाँ कई उपमेयों का एक ही धर्म दिखाया जावे।

२—जहाँ कई उपमानों का एक ही धर्म दिखाया जावे।

३—जहाँ कई उपमेयों के उत्कृष्ट गुण एक ही वस्तु में कहे जावें।

४—जहाँ हित और अहित में एक ही धर्म दिखाया जावे।

तृतीय तुल्ययोगिता और द्वितीय उल्लेख में भेद यों हैंः—

१—प्रथम में एक वस्तु को कई वस्तुओं की समता दी जाती है। किन्तु उल्लेख में एक वस्तु का कई प्रकार से कथन किया जाता है।

२—तृ० तुल्य० में कई वस्तुओं के उत्कृष्ट गुण एक में समता के साथ दिखाये जाते हैं, द्वि० उल्लेख में कई वस्तुओं के गुण पृथक् पृथक् कहे जाते हैं।

३—तुल्य० में समता का प्रगट करना मुख्य है, उल्लेख में केवल गुणों का कथन किया जाता है।

निदर्शना

जहाँ दो भिन्नार्थ वाले वाक्यों में सम्बन्ध-पार्थक्य के होते हुये भी परिकल्पित उपमा के रूप में उन वाक्यों के सम्बन्ध की असम्भाव्यता में सम्भाव्यता सी निदर्शित हो। यहाँ दो वाक्यों का सम्बन्ध या अन्वय एक प्रकार से असम्भव होता है, तो भी उपमा की परिकल्पना से वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) की पूर्ति होती है।

यथाः—कहाँ दिवाकर वंशवर, कहा मोर मति मूढ़।
चाहत तरिबो उडुपसों, दुस्तर सागर गूढ़॥

इसके कई भेद हैं, मुख्य २ यहाँ दिये जाते हैं:—

१—माला निदर्शनाः—जहाँ कई निदर्शनाओं में कई उपमाओं की कल्पना होती है।

यथाः—गरल पियन अरू जिअन चह, अगिन धारि चह सीत।
व्यालहिं धरि सुख चहत जो, सोई करै खल मीत॥

२—जहाँ स्वरूप और स्वकारण का सम्बन्ध किसी अपनी ही क्रिया के द्वारा प्रगट किया जावे। अथवा जहाँ अपने कार्य और कारण का सम्बन्ध अपनी ही क्रिया के द्वारा कहा जाये।

नोटः—इसका सम्बन्ध कार्य-कारण भाव, व रूप-सम्बन्ध से है। प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार वाक्यों में असम्भाव्यता का संबन्ध उपमा की परिकल्पना से सिद्ध किया जाता है वैसे ही इसमें वाक्यों के अन्तर्गत वस्तुओं का सम्भाव्य सम्बन्ध उपमा की कल्पना से होता है।

यथाः—वृथा तापकारक जगत, को चिरसंपति-पात।
यह सूचत ग्रीषम-दिननि, रवि अस्ताचल जात॥

हिन्दी भाषा के प्रायः सभी मुख्याचार्य इसे लिखते हैं। किन्तु भाव-वैभिन्य से। केशवदास ने कहा है "कौनहु एक प्रकार ते, सत अरु असत समान। कहिये प्रगट निदर्शना, समुझत सकल सुजान।" और सतासत को किसी प्रकार समान दिखाने पर इसे आधारित किया है। भिखारीदास ने सतासत-भाव के साथ एक क्रिया से दूसरी क्रिया का दिखलाना भी इसमें रक्खा है। मतिराम और भूषण ने दो भिन्नार्थ वाले समान वाक्यों को एक में आरोपित करने पर ज़ोर दिया है। लछिराम को छोड़ कर (जो दास के समान ही इसको प्रदर्शित करते हैं) अन्य कवि

जैसे पद्माकर, दूलह और गोविन्दादि, मतिराम के अनुसार ही इसकी परिभाषायें देते हैं। देव जी ने एक विलक्षण रूप में इसे लिखा है—उनकी परिभाषा यों है—

औरै वस्तु बखानिये, फल तब ताहि समान।

जहाँ दिखाइय और यह, ताहि निदर्शन जान॥ भा०वि० ११६

केशव और देव इसके भेद नहीं देते। दास जी ने ५ रूप दिये हैं, जासवन्तसिंह ने भी इसका कोई भेद नहीं दिया। शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसके ३ तीन भेद यों दिये हैं।

१—दो सदृश वाक्यों के भिन्नार्थों में से एक का अरोपण।

२—पदार्थों में एकार्थ का स्थापन।

३—एक क्रिया से सदसत् अर्थ का प्रकाशन।

लछिराम जी ने दास की भाँति १—समवाक्यार्थ मूलक २—सत्सदैक्य ३—असदसदैक्य ४—पदार्थैक्य, ५—एक क्रिया से दूसरी का बोधन ये ५ भेद दिखलाये हैं।

नोटः—दृष्टान्त में वाचक नहीं रहता किन्तु इसमें रहता है प्रतिवस्तूपमा में दोनों सम वाक्य स्वतंत्र रहते हैं किन्तु इसमें नहीं रहते, वरन् वे एक दूसरे के सहायक रहते हैं। जसवन्तसिंह ने ३ भेद यों दिये हैं:—

१—जो दो समवाक्यों के एक अर्थ का सूचक हो।

२—जो एक के गुण का दूसरे में आरोप कर एकता लेवे।

३—जो कार्य को देख कर भला या बुरा फल कहे।

इनमें तृतीय भेद अपनी विलक्षणता प्रगट करता है।

नोटः—निदर्शना, दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का भेद:—

१—प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्य स्वतन्त्र होते हैं। दृष्टान्त और निदर्शना में वे स्वतन्त्र न होकर परस्पर अपेक्षित रहते हैं।

२—दृष्टान्त में वाचक पद नहीं होता, निदर्शना में होता है।

दास ने इसे यों दिया है:—

द्वै सु एक ही अर्थ बल, निदरशना की टेक।
सम अनेक वाक्यार्थ को, एक कहै धरि टेक।
एकै पद के अर्थ को, थापै यह वह एक॥

भेद—

१—सतसत वाक्यार्थ की एकता का सूचक
२—असत सत " " "
३—असत " " "
४—पदार्थ की एकता का सूचक
५—एक क्रिया से दूसरी की एकता को सूचना

अप्पय ने—१—सदृश वाक्यों और अर्थों का एक में आरोपण—
२—पदार्थ-वृत्ति का आरोपण
३—क्रिया की सत असत का बोध करना। ये ३ भेद दिये हैं।

मम्मट की अनुमति प्रथम ही दे दी गई है।

विश्वनाथः ने—जहाँ बिम्बानुबिम्बत्व-भाव का कथन हो वहाँ तथा जहाँ असंभव-सम्बन्ध से संभव-संबन्ध का वर्णन हो, वहाँ भी निदर्शना कहना चाहिये, ऐसा लिख ५ रूप यों दिये हैं।

भेद:—१—सम्भव वस्तु सम्बन्धी
२—असम्भव वस्तु सम्बन्धी
(क) एक वाक्यगा
(ख) अनेक वाक्यगा
३—मालारूपा

नोट:—दो भिन्न अर्थ या भाव वाले वाक्यों में समता के भाव का आरोपण करना इसका मूल लक्षण है। दो भिन्न वाक्य इसके द्वारा एक ही से दिखाये जाते हैं। इसके ५ भेद यों माने गये हैं:—

१—दो भिन्न वाक्य जहाँ जो, सो, जे, ते आदि पदों से सम कहे जावें। यथाः—

जो अति सुभट सराह्यो रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन।

नोटः—कहीं कहीं उक्त वाचक पदों का लोप भी कर दिया जाता है।

यथा—"मीठे वचन उदार के, सोने माँहि सुगन्ध।"

२—जहाँ उपमेय में उपमान के गुण की स्थापना की जावे।

यथा—अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सिय मुख शशि भये नयन चकोरा॥

३—जहाँ उपमान में उपमेय के गुण को स्थापित किया जावे।

"तव अधरन की माधुरी, बसी सुधा में जाय।"

४—जहाँ किसी के (या अपने) सद्व्यवहार से दूसरे को ज्ञान या नीति सिखाई जावे। यथाः—

तरुवर, दै फल फूल दल, यही सिखावै नीति।
लहि संपति आदर करहु, आये को, यह रीति॥

५—जहाँ कोई असत् कार्य अपने ही से असत् फल दिखलावे। यथाः—रहत कुटिल, कच बँधि तऊ, यही सिखावत बार॥

दृष्टान्त

उपमेय व उपमान वाक्य तथा उनके साधारण धर्म का (धर्म-पार्थक्य होते हुए भी) जहाँ पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव (साम्य भाव) हो।

प्रतिवस्तूपमा में शब्द-भेद से दोनों वाक्यों में एक ही धर्म रहता है और इस प्रकार उसमें साधारण धर्म के वस्तु-प्रतिवस्तु भाव की प्रधानता रहती है, किन्तु दृष्टान्त में बिम्बप्रतिबिम्बभाव

का प्राबल्य होता है, साधारण धर्म-सहित उपमेय-वाक्य का प्रतिविम्बभाव उपमान-वाक्य में भासित होता है और उपमान-वाक्य एक प्रकार से दर्पण के रूप में रहता है। पंडितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को एक अलंकार के दो भेद माने हैं।

अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव पर चातुर्य-चमत्कार आधारित किया जाता है, किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता, हाँ, वाचक पद दोनों ही में रहते हैं। निदर्शना से इसका भेद हम दिखला चुके हैं।

इसके दो रूप माने गये हैं:—

१—साधर्म्यात्मक—जहाँ दोनों वाक्यों में साधर्म्य प्रधान हो।

यथाः—दुसह दुराज प्रजान को, क्यों न बढ़े दुख द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चंद॥

—बिहारी

२—वैधर्म्यात्मकः—जहाँ विम्बप्रतिविम्ब भाव में वैधर्म का अभाव हो।

यथाः—प्रगट करहि जिय प्रीति को, जे नर सुजन सुधार।
नहिं कबहूँ कुचला जु है, ताप मिटावन हार॥

नोटः—इसमें निषेध सूचक वाचक शब्दों से भी सहायता ली. जाती है, एक पक्ष में तो एक विधिवाक्य और दूसरे में निषेध वाक्य रहता है। कहीं कहीं इसकी माला भी देखी जाती है, और यों वहाँ माला दृष्टान्त होता है।

नोटः—केशव और देव ने इसे नहीं लिखा। शेष सभी मुख्याचार्यों ने इसे विम्बप्रतिविम्ब भाव पर ही समाधारित किया है। भिखारीदास ने इसके साथ यह और दिया है कि इसमें वाचक शब्द लुप्त रहता है।

विश्वनाथ ने बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के साथ सम्भव वस्तु का असम्भव वस्तु से सम्बन्ध दिखलाना भी इसका एक लक्षण लिखा है।

नोटः—दृष्टान्त में दो सम वाक्यों की एकता और अर्थान्तर-न्यास में एक वाक्य का दूसरे वाक्य से समर्थन करने का भाव रहता है। दृष्टन्त में साधारण का साम्य साधारण से और विशेष का विशेष से किया जाता है। अर्थान्तरन्यास में साधारण का समर्थन विशेष से और विशेष का साधारण से किया जाता है।

ध्यान रहे कि प्रतिवस्तूपमा के दोनों वाक्यों में एक ही धर्म रहता है जो दोनों में पृथक् पृथक् एकार्थ वाची शब्दों से कथित होता है। दृष्टान्त में वाक्यों के धर्म भिन्न भिन्न रहते हैं, वाक्यों में साम्य (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) रहता है, धर्मों में नहीं, हाँ, उनमें एकता सी आभासित जरूर होती है।

दीपक

जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का एक ही धर्म दिखलाया जाय, वहाँ दीपक अलंकार माना जाता है।

तुल्ययोगिता से इसमें यह विशेषता है कि इसमें उपमेय एवं उपमान दोनों ही का एक धर्म कहा जाता है, किन्तु तुल्ययोगिता में या तो केवल उपमेयों के या उपमानों ही के एक धर्म का कथन किया जाता है।

यथाः—खल-जन और भुजंग-गति, कामिनि-नैननि-सैन।
कहत "रसाल" जहान में, बिना वक्रता है न॥

नोटः—इसके दो रूप यों हो जाते हैं—(१) शुद्ध या विधि (२) निषेधात्मक—उक्त उदाहरण निषेधात्मक है और निम्न उदाहरण विध्यात्मक है। यथाः—

वणिक, ईख, नींबू तथा, थन, तिलहन अरु आम।
दाबे हीते देत रस, जानत जगत तमाम॥

इसके दो और भेद यों माने जा सकते हैं:—

१—शुद्ध—जिसमें और किसी भी अलंकार का आभास न हो। यथा उक्त उदाहरणों में—

२—संकीर्ण या मिश्रः—जिसमें किसी दूसरे अलंकार से सहायता ली गई हो—

यथाः—कनक कनक दोहुन को, मदकर एक सुभाव।
मानो याते दुहुन कौ, एक नाम जग छाव॥

नोट—इसे श्लेषात्मक भी रक्खा जाता है और ऐसा करने से इसमें अधिक चमत्कृत रोचकता आ जाती है। श्लिष्टदीपक के कई भेद हो सकते हैं—

१—शब्द श्लिष्ट दीपक—जिसमें केवल एक ही सब्द श्लिष्ट हो
यथाः—चरन धरत, चिन्ता करत, चितवत चारिहु ओर।
सुबरण को ढूँढ़त फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर॥

२—पद श्लिष्टः—जिसमें कई शब्दों से बना हुआ एक पद श्लिष्ट हो अथवा जिसमें धर्मसूचक एक वाक्य ही श्लिष्ट हो।
यथाः—देखे ते मन ना भरै, मन की मिटै न भूख।
बिन चाखे रस ना मिलै, आम, कामिनी, ऊख॥

३—सभंग श्लिष्ट—जिसमें पद के भंग करने (तोड़ने) से अर्थ बदले और तब धर्म प्रगट करता हुआ वह घटित हो। ध्यान रहे कि यहाँ श्लिष्ट पद से अर्थ-पार्थक्य होता हुआ भी धर्म का साम्य रहता है।

४—अभंग पद श्लिष्टः—जिसमें बिना पद को तोड़े ही शब्दों के कई अर्थों के द्वारा (उस शब्द या पद की अर्थ शक्ति से) काम चल जाये। इसके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

नोटः—वास्तव में यह अलंकार तुल्ययोगिता का एक विशिष्ट रूप और उपमा का एक संकीर्ण भेद है। इसमें वाचक नहीं रहता यही अन्तर है, अतः कह सकते हैं कि यह वाचक लुप्तोपमा का ही प्रपंच है। पंडितराज जगन्नाथ आदि का मत है कि इसे तुल्ययोगिता का ही एक भेद मानना चाहिये।

केशवदास ने इसके लिये कहा है

वाचि क्रिया, गुण, द्रव्य को, वरणहु करि इक ठौर।
दीपक दीपक कहत हैं केशव कवि-शिर-मौर" ॥

क० प्रि० ११३

अर्थात् उपमेय-उपमान के वाचक, क्रिया, गुण द्रव्यादि को एक ठौर कहना दीपक है। भिखारीदास ने इसे देहली दीपक न्याय पर आधारित कर यों दिया है:—

"एक शब्द बहु में लगै, दीपक जानै सोइ"। अर्थात् जहाँ एक शब्द (धर्म) बहुतों में घटित हो सके।

भूषण और मतिराम ने वर्ण्यावर्ण्य (उपमेयोपमानों) के एक धर्म के कथन ही को इसका लक्षण माना है। जसवन्तसिंह ने वर्ण्यावर्ण्य को गुणों से एक सा दिखलाने को प्रधान लक्षण कहा है, इनके मतानुसार यहाँ न केवल एक ही धर्म का कथन हो वरन् अनेक का भी हो—(सो दीपक निज गुननि सों, वर्न्य इतर इक भाइ।) शेष आचार्यों ने प्रायः मतिराम आदि के समान ही इसकी परिभाषायें दी हैं।

इसके निम्न भेद हैं:—

१—कारक दीपक:—जहाँ बहुत सी क्रियाओं का एक ही कर्ता (कारक या करने वाला) हो। यह सब प्रकार व्याकरण से सम्बन्ध रखता है और वाक्-संकोच का सहायक है।

यथा:—कहत, नटत, रीझत, खिजत, हिलत, मिलत, लगिजात।
भरे भौन में करति है, नैनन ही सों बात॥

—बिहारी

नोट:—समुच्चयालंकार में भी कई क्रियाओं का एक कर्ता होता है किन्तु इसमें उन क्रियाओं से व्यक्त होने वाले कार्य भाववाचक होते हुए एक ही साथ होते हैं। यहाँ क्रियाओं से व्यक्त होने वाले कार्य एक क्रम से होते हैं (क्रम ते क्रिया अनेक पै, कर्ता सबकौ एक)

यथा—लेत, चढ़ावत, खैंचत, गाढ़े।

कारकदीपक—भेद:—

(१) बहुत सी क्रियाओं का एक कर्त्ता
(२) " " " कर्म
(३) " " " करण
(४) " " " संप्रदान
(५) " " " अपादान
(६) " " " सम्बन्ध
(७) " " " अधिकरण
(८) " " " सम्बोधन
(९) एक क्रिया के अनेक कर्ता
(१०) " " " कर्म
(११) " " " करण

(१२) एक क्रिया के अनेक संप्रदान
(१३) " " " अपादान
(१४) " " " सम्बन्ध
(१५) " " " अधिकरण—मोमें तोमें खड्ग, खंभ में
(१६) " " " घट घट व्यापक राम
सम्बोधन—हा राम हा रमण,
हा जगदेव वीर !......

इसी प्रकार और उदाहरण भी जानिये। विस्तार-भय से हम नहीं देते।

२—मालादीपकः—जहाँ पूर्व कथिक वस्तुओं के उत्कर्ष एवं उपकार में उत्तर कथित वस्तुयें कारण रूप हों, और एक प्रकार की शृंखला या जंजीर सी बनती चली जावे। यथाः—

रस सों काव्य, सुकाव्य सों, सोहत वचन महान।
वचनन ही सों रसिक जन, तिनसों सभा सुजान॥

ध्यान रहे कि इसका उक्त कारक दीपक से भी एक प्रकार का विशिष्ट सम्बन्ध है—यदि कारक दीपक को हम उक्त संकीर्ण रूप में न ले कर व्यापक रूप में लें तो जहाँ एक क्रिया के साथ अनेक कारक (एक ही प्रकार के) आवें वहाँ भी दीपक (कारक दीपक) कहना होगा।

इस विचार से इसे कारक दीपक का एक भेद ही मानना चाहिये, क्योंकि इसमें प्रायः कई करण कारकों से ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाया जाता है। जैसे उक्त उदाहरण में।

इसका एक रूप वह भी होता है जहाँ इसका सम्बन्ध अन्य अलंकार से होता है, इसे हम मिश्र रूप कह सकते हैं।

यथाः—नीर सों लसत कंज, कंज सों लसत नीर,
नीर अरु कंज सों तड़ाग की निकाई हैं।

मणि सों बलय, त्यों बलय सों लसत मणि,
मणि अरु बलय सों तन सुघराई है।
पिक सों लसत मधु मधु से लसत पिक,
मधु अरु पिक सों "रसाल" की बड़ाई है॥
कवि सों सजै समाज त्यों समाज सों सुकवि,
कवि औ समाज सों नृपति-कीर्ति छाई है॥

यहाँ उपमेयोपमा से सहायता ली गई है और दीपक की उससे पुष्टि की गई है, साथ ही कई दीपक एक साथ दिये गये हैं। अतः यहाँ शृंखला या माला सी जान पड़ती है, अतः इसे हम दीपकहार भी कह सकते हैं। यह भी विचारना चाहिये कि प्रत्येक दीपक अंतिम दीपक के भाव का, उदाहरण या दृष्टान्त सा होता हुआ, परिपोषक है।

उक्त मालादीपक को पंडितराज जगन्नाथ ने सादृश्य-सम्बन्ध के अभाव से दीपक न मान कर एकावली नामी अलंकार का एक भेद ही माना है, विश्वनाथ तथा अप्पय जी इसे कदाचित इसी विचार से एकावली के समीप ही लिखते हैं।

केशवदास ने इसकी एक विचित्र परिभाषा दी है, उन्होंने इसे अपने मणिदीपक का एक विशिष्ट रूप कहा है और इसके लक्षण में यह दिया है कि जहाँ बरषा, शरद, शशि, शोभा, भूषण, प्रेमादिकों का देश, कालानुसार एक साथ वर्णन हो, वहाँ माला दीपक होता है।

इस प्रकार यह एक वर्णनात्मक (विषयात्मक) अलंकार ठहरता है, क्योंकि इसमें वर्ण्य (वर्णनीय) विषयों का ही प्राधान्य है, इसके भेद बहुत होते हैं, यह कहते हुये आपने भेदों को नहीं दिखलाया।

भिखारीदास ने मालादीपक को एक प्रकार का मिश्रालंकार माना है जिस में दीपक और एकावली का सामंजस्य होता है (दीपक एकावलि मिले, मालादीपक जानि)

भूषण ने इसे सार की संज्ञा दी है किन्तु यह कहा है कि माला दीपक में जहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष हो वहाँ सार जानना और दीपक तथा एकावली के मिश्रित रूप को मालादीपक मानना, चाहिये इस प्रकार सार, जो इसका ही एक विशेष रूप है, एक पृथक अलंकार ठहरता है।

मतिराम और जसवन्तसिंह आदि का भी यही मत है।

नोट—केशवदास ने इसके निम्न भेद दिये हैं:—

मणि दीपकः—बरषा, शरद, वसंत शशि, शुभता, शोभ सुगन्ध।
प्रेम, पवन, भूषण, भवन, दीपक, दीपक बन्ध॥
इनमें एक जु वरणिये, कौनहु बुद्धि विलास।
ता सों मणि दीपक सदा, कहिये केशवदास॥

माला दीपक—सबै मिलै जहँ वरणिये, देश. काल बुधिवन्त।
माला दीपक कहत हैं, ताको भेद अनन्त॥

सारः—(भूषण)—दीपक एकावलि मिले, माला दीपक होय।
उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत हैं सोय॥

जसवन्तसिंहः—दीपक एकावलि मिले, माला दीपक नाम
सार " —एक एक ते सरस जब, अलंकार यह सार॥

आवृत्ति दीपक

जहाँ दीपक में आवर्तन (आवृत्ति) होता है वहाँ आवृत्ति दीपक या दीपकावृत्ति कहना चाहिये।

इसके ३ मुख्य रूप होते हैं :—

१—पदावृत्तिः—जहाँ दीपकान्तर्गत एक ही पद (प्रायः क्रिया पद) भिन्न भिन्न अर्थों के साथ कई बार कहा जावे। इसका सम्बन्ध श्लेष से बहुत घनिष्ठ है या वह उसी पर सर्वथा आधारित है।

अतः इसे श्लिष्टपदावृत्ति या पुनरुक्तवदाभासात्मकावृत्ति कह सकते हैं, क्योंकि पद की भिन्नार्थ के साथ आवृत्ति होती है।

यथा :—घन बरसै है री सखी, निशि बरषै है देखि।

नोट :—इसे यदि अनुप्रास का सार्थक रूप कहें तो भी अनुचित न होगा और इस प्रकार यह शब्दार्थालंकार या उभयालंकार भी कहा जा सकता है। इसमें यमक, और लाट का भी सामंजस्य हो सकता है।

भिखारीदास ने इसे नहीं दिखलाया, शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे इसी रूप में रक्खा है।

अर्थावृत्ति :—जहाँ दीपक में एक ही अर्थ की आवृत्ति भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा चमत्कार के साथ की जावे और ऐसा करने से कुछ चातुर्य एवं माधुर्य में उत्कर्ष भी आ जावे।

यथाः—दौरहिं संगर मत्त गज, धावहिं हय समुदाय।

यह मत सर्वमान्य एवं व्यापक होकर साधारण सा ही है—

३—पदार्थावृत्तिः—जहां दीपक में एक ही अर्थ वाले पद की कई बार आवृत्ति हो। यथा :—

लाज भरे, लाग भरे, लाभ भरे, लोभभरे,
लाली भरे, लाड़ भरे लोचन हैं लाल के ॥

नोटः—ध्यान रहे कि इस प्रकार की आवृत्ति में कुछ विशेष चमत्कार, भावोत्कर्ष तथा चातुर्य-माधुर्य अवश्य रहता है। प्रायः इससे भाव को बल दिया जाता है और वह ज़ोरदार हो जाता है। वीप्सा और इसमें यह अन्तर है कि इसमें कई बार आवृत्ति होती है किन्तु वीप्सा में प्रायः दो ही बार। फिर पुनरुक्ति प्रकाश में सौंदर्य-वृद्धि के लिये ही आवृत्ति होती है किन्तु इसमें बल देने और पद एवं अर्थ को उत्कर्षयुक्त करने के लिये ऐसा होता है। कह सकते हैं कि यह इनका एक विशिष्ट एवं प्रौढ़ रूप वाला अनुप्रास ही है।

लाट और यमक में भी आवृत्ति होती है, किन्तु उनमें सभी प्रकार के शब्दों की आवृत्ति केवल श्रुति-सौख्य के लिये होती है और यहाँ प्रायः क्रिया पदों की ही आवृत्ति अर्थ-वैचित्र्य या वैलक्षण्य के लिये होती है, यही विशेषता है।

इन भेदों के अतिरिक्त केशव ने एक मणिदीपक भी दिया है, जो पृष्ठ १७ में दे दिया गया है।

यह एक प्रकार का वर्णनात्मक अलंकार है क्योंकि इसमें कवि के गृहीत या वर्णनीय विषय के वर्णन का ही चमत्कृत प्राधान्य अभीष्ट रहता है।

भिखारीदास ने देहली दीपक न्याय (देहरी पर दीपक रखकर बाहर भीतर दोनों ओर समानता से प्रकाश पहुँचाना) पर समाधारित कर एक देहरी-दीपक रूप भी दिया है।

परै एक पद बीच में, दुहुं दिशि लागै सोय।
सो है दीपक देहली, जानत है सब कोय॥

अर्थात् देहली दीपक अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक पद या शब्द दो वाक्यों के बीच में इस प्रकार रक्खा जावे (इस प्रकार के भाव एवं अर्थ के साथ) कि उसे दोनों ओर घटित एवं चरितार्थ कर सकें, वह दोनों ओर सार्थकता से लागू हो। इस प्रकार यह पद-व्यवस्था एवं अन्वय-चमत्कार से सम्बन्ध रखता हुआ वाक्यसंकोच एवं संश्लेषण के ऊपर आधारित है और व्याकरण से सम्बन्ध रखता है। यह कई रूपों का हो सकता है :—

१. श्लिष्ट पद :—भिन्नार्थ सूचक।

श्लेष सम्बन्धी { क—सभंग पद—
ख—अभंग पद—

शब्द शक्तिसम्बन्धी { २—एकार्थ सूचक या अविधात्मक—
३—तात्पर्य-पार्थक्यात्मक—
क—लाक्षणिक—
ख—व्यंग्यात्मक—

नोटः—हमारे आचार्य यों लिखते हैं:—

भिखारी—वहै शब्द फिर फिर परै, आवृतिदीपक होय।
मतिराम—जहं दीपक में होत है, आवर्तन को जोग॥
भूषण—दीपक पद के अरथ जहँ, फिर फिरि करत बखान।
आवृतिदीपक तहँ कहत, भूषन सुकवि सुजान॥

शेष आचार्य इसकी व्यापक परिभाषा नहीं देते वरन् इसके भिन्न २ रूपों के लक्षण और उदाहरण ही देते हैं।

१—यमकात्मकावृत्ति दी०
२—लाटात्मकावृत्ति दो रूप और हो सकते हैं।

व्यतिरेक

गुणाधिक्य के द्वारा जहाँ उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का कथन किया जावे। इसमें इस बात पर सदैव ध्यान रखना चाहिये कि उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिक उत्कर्ष दिखलाया जावे और उपमेय की अपेक्षा उपमान में अधिक उत्कर्ष न प्रगट किया जावे। उपमा में इसके विपरीत होता है। प्रतीप में चूंकि उपमेय को उपमान के रूप में सादृश्य के साथ दिखलाया जाता है अतः वहाँ भी ऐसा उत्कर्ष नहीं रहता जैसा यहाँ रहता है, यहाँ गुण की अधिकता के रूप में उपमेय का उत्कर्ष प्रकाशित किया जाता है।

व्यतिरेक के २४ भेद माने गये हैं :—

१—प्रथम—जहाँ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निकर्ष का हेतु बतलाया जावे।

इसके ३ रूप होते हैं :—

(क) जहाँ शाब्दी उपमा के द्वारा उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के निकर्ष का हेतु प्रदर्शित किया जावे।

(ख) यही बात जहाँ आर्थी उपमा की सहायता से हो।

(ग) जहाँ यही कार्य आक्षिप्तोपमा के द्वारा हो।

२—द्वितीयः—जहाँ उपमेय के उत्कर्ष एवं उपमान के निकर्ष का कारण न दिखलाया जावे। यह प्रथम का विलोम एवं प्रतिकूल रूप है।

शाब्दी, आर्थी, एवं आक्षिप्तोपमा की सहायता से इसके भी प्रथम भेद की भाँति ३ रूप होते हैं।

३—तृतीयः—जहाँ केवल उपमान के अकर्ष का हेतु कहा जावे।

शाब्दी, आर्थी एवं आक्षिप्तोपमा के द्वारा इसके भी ३ रूप किये गये हैं।

४—केवल उपमेय ही के उत्कर्ष का जहाँ पर कारण दिखलाया जावे। इसके भी तृतीय एवं अन्य उक्त भेदों के समान शाब्दी, आर्थी, तथा आक्षिप्तोपमा के आधार पर ३ रूप होते हैं।

इस प्रकार इन चार भेदों के कुल १२ रूप हो गये हैं। इस प्रकार इसका प्रस्तार-विस्तार करने में, यह स्पष्ट है, उपमा (तथा उसके भेदों) से सहायता ली गई है, अतः कह सकते हैं कि ये एक प्रकार के मिश्रालंकार ही हैं, क्योंकि दो अर्थालंकारों के संमिश्रण से इनकी उत्पत्ति होती है।

अब इन १२ भेदों में से प्रत्येक के दो दो रूप और होते हैं—(१) सश्लेष (२) अश्लेष या (१) श्लिष्ट (२) अश्लिष्ट। अब इनमें से प्रत्येक श्लिष्ट रूप को श्लेष के द्वारा चमत्कृत किया जाता है अतः एक प्रकार का और नया अलंकार-संमिश्रण बनता है।

उदाहरण

(१) क—प्रथम (शाब्दी उपमा के द्वारा)

कह "रसाल" ते मूढ़ जे, सिय-मुख कहहिं मयंक।
निष्कलंक-सिय वदन शुभ, शशि है नित सकलंक॥
वारिज इव राधा-वदन, जौन कहें ते पोच।
यह विकसित निशिदिन रहे, वाको निशि संकोच॥

यहाँ राधा-वदन (उपमेय) का उत्कर्ष निशि दिन विकसित रहने से दिखाया गया है और वारिज (उपमान) का निशा में संकुचित होने से अपकर्ष सहेतु दिया गया है, साथ ही इव शब्द का जो उपमा वाचक है और शाब्दी उपमा का सूचक है, प्रयोग किया गया है। हेतु दे देने ही से यह एक विशिष्ट रूप का अलंकार हो गया है अन्यथा यदि हेतु न दिया जावे तो यह शाब्दी उपमा ही के रूप में रह जावेगा। यथाः—

वारिज इव राधा-वदन, कहैं त्यागि संकोच।
कह "रसाल" जानहु तिन्हैं, सांचेहु मति के पोच॥

ख—यदि इसी में उपमान ही के अपकर्ष का हेतु कह दिया जावे तो वह एक दूसरा रूप (शाब्दी उपमा से) हो जावेगा।

यथाः—राधा मुख सों होय किमि, कहत 'रसाल' मयंक।
तापै देखहु है लगो, कारो पंक-कलंक॥

ग—यदि केवल उपमेय के उत्कर्ष का ही कथन किया जावे और हेतु भी दिया जावे तो एक अन्य रूप हो जावेगा।

यथाः—शशि सों कहिये मुखहिं क्यों, जो है नित अकलंक।

(२) क—(आर्थी उपमा के द्वारा)

केहि विधि कहिये सिय-वदन, सरस कमल सम होय।
यह अनुदिन विकसित रहै, निशि मलीन है सोय॥

यहाँ सम शब्द के कारण आर्थी उपमा हो गईहै। उत्तरार्द्ध में उपमान का अपकर्ष और उपमेय का उत्कर्ष है, अतः प्रथम भेद है। यदि इसके भी पाठान्तर से रूप बदल दिये जावें और सम शब्द निरन्तर ही रक्खा रहे तो शेष और ३ रूप बन जावेंगे। विस्तार-भय से हम उन्हें नहीं दिखलाते। पाठक स्वयमेव रूपान्तर करके देख लें।

(३) क—(आक्षिप्तोपमा के द्वारा) यथाः—

विरह-ज्वाल की जरन सों, मरन भलो अति जान।
मीचु एक ही दिन दहै, दहै विरह नित प्रान॥

यहाँ इवादि, जो शाब्दी उपमा के वाचक और तुल्यादि जो आर्थी उपमा के वाचक शब्द हैं, नहीं हैं, किन्तु उपमा का आक्षेप

के द्वारा आभास मिलता है। मरन (उपमान) का अपकर्ष और जरन (उपमेय) का सहेतु उत्कर्ष स्पष्ट रूप से कहा गया है।

इसके भी अन्य भेद उसी प्रकार रूपान्तर करने से हो सकते हैं। पाठक स्वयमेव देख लें। यथा:—

स्मर सर छाँड़ि न सकत, करत न पिय हिय चैन।
मृग नैनन के गर्व हर, आली तेरे नैन॥

यहाँ केवल उपमान ही का अपकर्ष कहा गया है, अतः तीसरा भेद है। शाब्दी उपमा के द्वारा श्लिष्ट व्यतिरेकः—यथाः—

आछे जन सेवत सदा, जिनके विमल विचार।
नहि भंगुर-गुन कंज लौं, तुम गाढे गुन वार॥

यहाँ लौं शब्द शाब्दी उपमा का तथा गुन श्लिष्ट शब्द है, भंगुर और गाढे पद उपमान के अपकर्ष और उपमेय के उत्कर्ष को दिखलाते हैं अतः यह शाब्दी उपमा के द्वारा श्लिष्ट व्यतिरेक का प्रथम रूप हुआ। इसके पदों में परिवर्तन कर देने से, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, इसके अन्य रूप बन जावेंगे और लौं के स्थान पर सम रख देने से यही आर्थी उपमा-जन्य श्लिष्ट व्यतिरेक हो जावेगा, फिर उसके भी सभी रूप उक्त परिवर्तनों या रूपान्तरों से सिद्ध हो जावेंगे।

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ श्लेष से व्यतिरेक का प्राधान्य प्रतिहत नहीं होता, क्योंकि श्लेष उसके एक अंग के रूप में हो कर गौण ही है, हाँ इससे व्यतिरेक में कुछ चमत्कार विशेष अवश्य आ जाता है।

आक्षिप्तोपमा के द्वारा श्लिष्ट व्यतिरेकः—

निपट नीर बरसावहीं, वसुधा पै घनश्याम।
वह च्युत, पै अच्युत सुधा, बरसावत घनश्याम॥

—र० मं०

अन्यच्चः—नित ही उदित प्रताप यह, वह गतछबि निशि माँहि।
इहिं भास्वत नृपराज ने, जीत्यो भास्वत ताहि॥

नोटः—व्यंग्य-व्यतिरेकः—जिस व्यतिरेक में उपमान एवं उपमेय के विशेषण शब्द नहीं रहते, तथा उपमेय के यथार्थ स्वरूप के प्रकाश से ही उसका उत्कर्ष प्रगट होता, और वह सब प्रकार व्यंग्य एवं ध्वनित ही रहता है।

यथाः—नित्त अशंकित राहु सों, अकलंकित, अभिराम।
सदा प्रकाशित एक सम, राधा-मुख छबि-धाम॥
—र० मं०

अलंकार सर्वस्वकार ने 'उपमेय की अपेक्षा जहाँ उपमान का अधिक उत्कर्ष होता है' वहाँ भी व्यतिरेक अलंकार माना हैः—
यथाः—घटि घटि पुनि बाढ़ै अरी, उडुपति बारम्बार।
तजु गुमान, आवत न पुनि, गत योवन-सुबहार॥
—र० मं०

कन्तु उपमान के यों उत्कर्ष-प्रकाशन में मम्मट और पंडित राज जगन्नाथ जी ने व्यतिरेक की सत्ता नहीं मानी। उन्होंने ऐसे स्थलों पर अर्थ-गांभीर्य एवं चातुर्य से यही सिद्ध किया है कि इस प्रकार के सभी स्थानों में उपमेय ही का उत्कर्ष होता है, तथा यदि कहीं अपकर्ष-सूचक शब्दों से उपमेय में हीनता भी दिखाई जाती है तो भी वाच्यार्थ पर गूढ विचार करने से उनमें उत्कर्ष का ही भाव भासित होता है। विश्वनाथ जी ने अलंकार-सर्वस्व का ही अनुकरण किया है और उपमानोत्कर्ष में भी व्यतिरेक माना है, ऐसा अप्पय जी ने भी किया है। दंडी और अप्पय जी ने उपमेय और उपमान के भेद-कथन मात्र में भी व्यतिरेक माना है और न केवल उपमेयोत्कर्ष एवं उपमानापकर्ष ही में।

यथाः—मुष्टि निबद्ध, मलीन मुख, कोश गुप्त, नित तात।
कृपण कृपाणहिं भेद बस, आकारहिं सुलखात॥

नोटः—ध्यान रहे कि जिस प्रकार आधिक्य या विशेषता का इसमें स्पष्ट रूप से कथन किया जाता है उस प्रकार प्रतीप में नहीं किया जाता, यही दोनों में भेद है।

केशवदास ने इसे वहाँ माना है जहाँ उपमेय के समान वस्तु में कुछ भेद दिखलाया जावै, इसके फिर २ भेद किये हैं:—

१—युक्त, २—सहज। इनके आप ने लक्षण नहीं दिये।

भिखारीदास ने इसे वहाँ माना है जहाँ गुण-दोष के विचार से उपमेयोपमान में समता का भाव छोड़ दिया जावे, और कहीं उपमेय का पोषण और कहीं उपमान का दूषण हो, समता कदापि न हो। आप कहते हैं कि रूपक के समान इसके अनेकों भेद होते हैं, हम उल्लेख के साथ इसके ३ भेद देते हैं (१) उपमेय-पोषण (२) उपमान दूषण और (३) हीनद्वय। फिर २ भेद (जो शब्द शक्ति पर आधारित हैं) अर्थात् (१) अविधात्मक (२) व्यंगार्थव्यतिरेक नाम से और दिये हैं।

मतिराम ने उपमान की अपेक्षा उपमेय में विशेषता प्रगट करने ही में व्यतिरेक माना है (यह विशेषता कैसी हो यह स्पष्ट नहीं दिया) किन्तु इसके भेद नहीं दिये। भूषण ने, 'दो सम छबि-वान' वस्तुओं में से एक को बढ़ा कर कहने में व्यतिरेक माना है—यह परिभाषा संकीर्ण हो जाती है, इससे यह भी प्रगट नहीं होता कि इसका सम्बन्ध उपमेय एवं उपमान से है या नहीं, जान यही पड़ता है कि नहीं है, क्योंकि दो समान सौन्दर्यशाली पदार्थ उपमेय उपमान हों और न भी हों, दोनों ही बातें सम्भव हैं। इस पर कुछ स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला गया।

जसवन्त सिंह ने उपमान से उपमेय में आधिक्य के दिखाने ही में व्यतिरेक माना है। शेष सभी आचार्य प्रायः इन्हीं के मत के पोषक हैं। देव जी ने केशवदास का मत माना है। राजा रामसिंह ने दूलह के समान इसके ३ भेद दिखलाये हैं:—१ सम (उपमेय और उपमान में साम्य दिखलाना) २—अधिक (उपमेय में उपमान से आधिक्य रखना) ३—न्यून (उपमेय को उपमान से न्यून या हीन दिखलाना)। पद्माकर ने भी यही किया है।

लछिराम ने उपमेय के रूप को उपमान से अधिक दिखाने में व्यतिरेक कहा है। गोकुल ने गुणाधिक्य ही का भाव इसमें प्रधान माना है।

विनोक्ति

जहाँ एक वस्तु किसी दूसरी के बिना कहीं तो अशोभित एवं कहीं सुशोभित होती हुई दिखलाई जावे।

यथाः—१—सदन की छवि क्या बनिता बिना—
रदन की छवि क्या मधुता बिना—
बदन क्या जिसमें कविता नहीं।
गगन क्या जिसमें सविता नहीं॥

इसके कई रूप हो सकते हैं, यद्यपि हमारे आचार्यों ने उनको नहीं दिया, तथापि साहित्य में उदाहरण ऐसे विद्यमान हैं जो यह स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि इसके कई भेद एवं उपभेद हो सकते या होते हैं। साथ ही हम इसमें नये नये रूपों से पर्याप्त विकास भी कर सकते हैं—नीचे हम कुछ रूप देकर पाठकों के ही ऊपर इसके निर्णय को छोड़ देते हैं।

१—सप्रश्न विनोक्तिः—जहाँ प्रश्न के साथ विनोक्ति हो। यथा उक्त उदाहरण में। इसके भी कई भेद हो सकते हैं—

(क) स्वीकार सूचका—जिसमें ऐसे प्रश्न के साथ विनोक्ति हो, जिसमें स्वीकारता का भाव हो और उत्तर भी स्वीकार सूचक हो।

यथाः—लगत न शोभित काह अति, जावक बिन पद कंज।

यहाँ उत्तर में यही कहना पड़ता है किः—

लागत शोभित सहज ही, जावक बिन पद कंज॥

(ख) अस्वीकार सूचकः—जिसमें प्रश्न ऐसा हो जिसमें तथा जिसके उत्तर में अस्वीकृति ही दिखाई पड़े।

यथाः—छबि छाजति भूषन बिना, कविता बनिता कोय।

उत्तर है :—' बिन भूषन राजति नहीं, कविता बनिता दोय॥

नोट—यहाँ भूषन शब्द श्लेष युक्त है अतः इसे श्लिष्ट विनोक्ति का भी उदाहरण जानना चाहिये।

(ग) सूच्य या लुप्त प्रश्न विनोक्तिः—जहाँ प्रश्नवाची शब्दों का तो लोप हो, किन्तु प्रश्न का भाव सूचित एवं स्पष्ट रहे, यथा उक्त उदाहरण में।

२—हेत्वात्मक विनोक्तिः—जहाँ विनोक्ति के भाव को किसी हेतु के साथ सिद्ध किया जावे।

यथाः—मल बिन निर्मल होय अति, मानस शोभा देत।

यहाँ बिना मल के मानस (सरोवर और हृदय) शोभा देता है, क्योंकि वह निर्मल रहता है। यहाँ श्लेष की भी पुट है साथ ही हेतु सूच्य है। इसी को स्पष्ट हेत्वात्मक यों बना सकते हैं :—

मानस शोभित मल बिना, क्योंकि सुनिर्मल होय।

पुष्ट विनोक्तिः—जहाँ विनोक्ति को अन्य किसी अन्य अलंकार की सहायता से परिपुष्ट किया जाता है।

यथाः—बिन धन निर्मल सोह अकाशा।
जिमि हरिजन परि हरि सब आशा॥

नोट—इसे एक प्रकार का मिश्रालंकार भी कह सकते हैं और इसके अनेकों रूप हो सकते हैं:—कुछ संकेतार्थ हम नीचे दे रहे हैं—

१—मालादीपका०:—जहाँ विनोक्ति के साथ मालादीपक का सामंजस्य हो। यथाः—

उपवन सोह न सुतरु बिनु, सुतरु न सुमन-विहीन।
सुमन सुरभि-रस के बिना, कहत 'रसाल' प्रवीन॥

नोट—इसी प्रकार विनोक्ति की माला भी बनाई जा सकती है। यथाः—

शोभा बिन, श्रृंगार अरु, विद्या के बिन बुद्धि।
नीकी पै फीकै लगै, भक्ति बिना मन-शुद्धि॥

विनोक्ति विशिष्टः—जहाँ विनोक्ति में कुछ विशेषता कर दी जाये, एक वस्तु अपने असली रूप में भी शोभित या अशोभित हो और किसी वस्तु के बिना वह और सुशोभित या अशोभित हो, तथा किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु अच्छी या बुरी (अपने यथार्थ रूप में) होती हुई भी शोभित या अशोभित लगे।

यथाः—नीकी पै फीकी लगै, गारि-बिना ज्योनार॥

यदपि सहज सुन्दर सदा, बिधवा को मुख इन्दु।
नहिं सुहात है तदपि वह, बिन सेंदुर के बिन्दु॥

नोट—इसके साथ यह भी विचारणीय है कि जहाँ कोई वस्तु किसी वस्तु के साथ शोभित या अशोभित हो वहाँ विलोम विनोक्ति कह सकते हैं। यथाः—

१—सोहत योग सुज्ञान सों, त्यों अनुरक्ति सध्यान।
सोहति प्रीति प्रतीति सों, भक्ति साथ भगवान॥
२—सब विधि सुन्दर सहज ही, मंजुल अंक मयंक।
कह 'रसाल' कवि नहिं सजै, वह लहि साथ कलंक॥
सधवा मुख सुन्दर जँचै, लहि सेंदुर को विन्दु।
ताही के सँग नहिं सजै, विधवा को मुख इन्दु॥

जहाँ कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु, स्थान या समयादि के साथ विशेष शोभित एवं अशोभित लगती है वहाँ विशिष्ट विनोक्ति कहना चाहिये। यथाः—

सोहत मणि नृप-हाथ अति, अहि फन पै सोह नाहिं।

२—श्लेषात्मकः—जहाँ विनोक्ति के साथ श्लेष का भी सामंजस्य हो।

यथाः—मल बिन निर्मल होय अति, मानस शोभा देत।
मानस सोह न सुमन विन, सुमन न रस बिनसोह।
रस न माधुरी के बिना, भावुक हृदय न मोह॥
अलंकार बिन नहिं सजै, बहुत सरस हू होय।
कह 'रसाल' कविराज यह, कविता बनिता दोय॥

नोट—जहाँ किसी शब्द का कोई विशेष अर्थ लेकर उसे श्लिष्ट माना जाता है वहाँ लाक्षणिक श्लेष मानना चाहिये। यथा यहाँ पर मल शब्द है—मल = मैल, बुराई, दोष, (लाक्षणिक) इसके सभंग, अभंगादि के भेद से कई रूप हो सकते हैं विस्तार-भय से हम नहीं देना चाहते।

प्रतिवस्तूपमात्मकः—जहाँ प्रतिवस्तूपमा का विनोक्ति के साथ संमिश्रण हो :—

यथाः—राग बिना राजहिं मुनी, नहिं कबहूं मणिहार।
बिना कुटिलता लसहिं नर, नहिं तिय कबरी भार॥

श्लिष्टः—त्रास बिना सोहत सुभट, जैसे मणिगण माल ।
दास बिना सोहत नहीं, नृप जिमि गजबल माल ॥
इसमें उपमा और दृष्टान्त की भी पुट है ।

अन्य रूपः—

जिस प्रकार एक वस्तु के बिना एक अन्य वस्तु शोभित एवं अशोभित होती है उसी प्रकार होती हैं:—

१—कई वस्तुएँ एक के बिना अशोभित—
विद्या बिन सोहत नहीं, योबन, धन, कुल, रूप ।
योवनं धन संपति, विशाल कुल संभवा ।
विद्या हीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

२—कई वस्तुएँ एक के बिना शोभितः—
दुश्चरित्रता बिन सजैं, विद्या, कुल, धन, रूप ।

३—एक वस्तु कई वस्तुओं के बिना शोभितः—
काम, क्रोध-मद-लोभ-बिन, सोहत शुचि मुनि-चित्त ।

४—एक वस्तु कई वस्तुओं के बिना अशोभितः—
भक्ति, ज्ञान, शुचिता बिना, सोह न नर इहि लोक ॥

५—एक के बिना अन्य शोभित हो :—
"सरसिज सोह 'रसाल' अलि, सुचि सर में बिन पंक ।
छाजत छबि छिति पै नहीं, सज्जन बिना कलंक ॥

सोपमाविनोक्तिः—जहाँ उपमा से विनोक्ति की पुष्टि हो
यथाः—मधुप बिना उपवन यथा, पिक बिन ज्यों ऋतुराज ।
शोभित होत न कबि बिना, त्योंही राज समाज ॥

नोटः—उपमा वचक शब्दों के भेदों से शाब्दी और आर्थी (१—शाब्दी सोपमा विनोक्ति २—आर्थी सो० ३—द्वयात्मक, ४—मालोपमा वि० ५—लुप्तोपमा वि०)—इत्यादि भेद इसके हो सकते हैं ।

नोटः—यमक, वीप्सा, पुनरुक्त प्रकाश आदि शब्दालंकारों के आधार पर इसके कई रूप हो सकते हैं:—

मंजुलता बिन नहिं सजै, मंजु लता अरु बाल ॥

सोहत मोहत ना रसना, मधुराई बिना, मधुराई बिना।

नोटः—इसी प्रकार अन्य रूप इसके हो सकते हैं, विस्तार-भय से हम नहीं दे रहे।

लुप्ताशय—जहाँ विनोक्ति का आशय पर शोभित होना या अशोभित होना) लुप्त रहे किन्तु स्पष्ट रूप से सूच्य भी रहे—

यथाः—जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी।
तैसेहि नाथ पुरुष बिन नारी॥

दृष्टान्तात्मक—जहाँ विनोक्ति की पुष्टि दृष्टान्त या उदाहरण से हो:—

बिन घन निर्मल सोह अकासा।
जिमि सज्जन परिहरि सब आसा ॥

इनके अतिरिक्त भी विनोक्ति का सामंजस्य अन्य अलंकारों के साथ किया जा सकता है।

नोटः—विनोक्ति एक योगिक शब्द है और उसके खंडा अर्थ ये हैं:—बिना+उक्ति=जो उक्ति बिना शब्द के साथ हो। अतः यह आवश्यक है कि इस अलंकार में बिना शब्द का प्रयोग कहीं पर हो।

साधारणतः इसके २ ही भेद माने गये हैं:—

१—शोभनः—एक वस्तु के बिना जहाँ दूसरी वस्तु शोभित हो

यथा—बिन घन निर्मल शरद नभ, साजत है निज रूप।
अरु रागादिक दोष बिनु, मुनि-मन विमल अनूप ॥

२—अशोभनः—शोभित होत न लोक में नर हरि-भक्ति-विहीन ॥

विनोक्ति-ध्वनिः—जहाँ विनोक्ति का आशय ध्वनित रहे।

यथाः—बड़े दृगन को फल कहा, जो न लख्यो हरि रूप।
श्रवणन को धिक, सुनत न जे, प्रभु के चरित अनूप॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि यह अलंकार सहोक्ति नामी अलंकार का प्रतिद्वन्द्वी एवं विरोधी है।

केशवदास ने इसे अपने ग्रन्थ में नहीं दिया। देव जी ने भी यही किया है। भूषण ने भी इसे अलंकार नहीं माना, यद्यपि उनके भाई मतिराम ने इसे अलंकार मान कर ललित ललाम में स्पष्ट रूप से दिखलाया है—

यथाः—जहँ प्रस्तुत कछु बात बिन, कै नीको कै हीन।
बरनत तहाँ विनोक्ति है, कवि मतिराम प्रवीन॥

भिखारीदास ने सहोक्ति, विनोक्ति और प्रतिषेधोक्ति (जो और आचार्यों के द्वारा केवल प्रतिषेध नाम से ही लिखा गया है) को एक साथ ही लिखा है—

"कछु कछु संग सहोक्ति कछु, बिन सुभ असुभ विनोक्ति।
यह नहिं यह प्रत्यक्ष ही, कहिये प्रतिषेधोक्ति॥

जसवन्तसिंह ने कुवलानन्दानुसार इसे दो रूपों में दिखलाया है।

"है विनोक्ति कछु बिन कछू, सुभ कै असुभ चरित्र।
"है विनोक्ति द्वै भाँति की, प्रस्तुत कछु बिनु छीन।
अरु सोभा अधिकी लहै, प्रस्तुत कछु इक हीन॥

शेष और सभी आचार्य इसी के अनुसार विनोक्ति को दो रूपों में दिखलाते हैं। यथा—

नितान्त शुद्धः—योवन सँग बाढ़न लगो ओज उरोजन माँहि।
मदन सँग चोखो चढ़ी, मधुता रदनन माँहि॥

शब्दालंकृतः—जोवन सँग जोबन बढ़े, सकुच कुचन के संग।
लरिकाई सँग कटि घटी, घटे बढ़े तिय अंग॥

सहोक्ति

जहाँ एक ही शब्द या पद दो अर्थों का बोधक हो अर्थात् उसका अन्वय दो भिन्न २ अर्थवान पदों के साथ चरितार्थ होता हो, तथा जहाँ ऐसा करने के लिये सह, संग या इनके पर्यायी वाचक शब्दों का प्रयोग किया गया हो। इस अलंकार के वाचक शब्द हैं :—संग साथ, सह, सार्ध, इत्यादि—

नोट :—इसमें एक अर्थ के साथ तो द्वयार्थ-पोषक पद प्रधानता के साथ रहता है किन्तु दूसरे अर्थ में वही गौण रूप से लागू होता है। प्रायः एक ही क्रिया एक अर्थ में प्रधानता के साथ और दूसरे अर्थ में गौणता के साथ चरितार्थ होती है। जहाँ दोनों अर्थ प्रधानता के साथ रहते हैं वहाँ समुच्चयालंकार माना जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि इस अलंकार में इस वैचित्र्य के साथ ही साथ अतिशय (अतिशयोक्ति) की भी पुट रहती है अतः इसे अतिशय मूलक अलंकार कह सकते है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो यह अलंकार व्याकरण से सम्बन्ध रखता है और वाक्य-संश्लेषण का सहायक है, और इसका आधार-वाक्य-रचना चातुर्य है।

इसके दो मुख्य रूप होते हैं :—

१—शुद्ध—जिसमें और किसी भी अलंकार का योग नहीं रहता।

यथा :—सकुच संग कुच युग उठत, कुटिल भृकुटि दृग संग ॥
मन्मथ संग नितम्ब बढि, भूषित तरुनी अंग ॥

२—संकीर्ण :—जहाँ इसके साथ किसी अन्य अलंकार का सामंजस्य हो।

यथा :—मन सँग रक्ताधर भये, शैशव सँग गति मन्द।
यौवन सँग गुरुता लही, तरुनी-कुचन अमन्द॥

यहाँ श्लेष के साथ इस अलंकार का योग है। भये क्रिया अधर और मन आदि के साथ समन्वित होती है, प्रथम के साथ तो वह प्रधानता से किन्तु दूसरों के साथ गौणता से चरितार्थ होती है और यह संग शब्द के कारण होता है।

अलंकार सर्वस्व में इसका एक भेद कार्य-कारण के पौर्वापर्य-विपर्यय-रूप वाली अतिशयोक्ति को भी माना है, वैसा ही विश्वनाथ ने भी किया है, किन्तु पंडितराजादि अन्य आचार्यों ने ऐसा नहीं माना। ध्यान रखना चाहिये कि औपम्य-भाव के बिना केवल सहादि शब्दों के ही बल पर इस अलंकार की सत्ता नहीं होती—

यथा :—विकसित वन, मुखरित मधुप, सीतल मंद समीर।
धेनु चरावत गोप सँग, हरि यमुना के तीर॥

केशवदास ने इसकी परिभाषा यों दी है :—

"हानि, वृद्धि, शुभ, अशुभ कछु, करिये गूढ़ प्रकाश।
होय सहोक्ति सु साथ ही, वर्णत केशवदास॥

और इसमें गूढ़ता का प्रकाशन भी दिखलाया है।
भिखारीदास ने इसे बहुत स्पष्ट रूप से नहीं दिया, केवल

"कछु कछु संग सहोक्ति कछु "......"
कछु है होइ सहोक्ति में साथहिं परै प्रसंग॥ ही कहा है।

मतिराम ने इसे एक दूसरे ही भाव के साथ दिया :—

"काज-हेतु कौं छाँड़ि जहँ, औरनि के सहभाव।"
वरनत तहाँ सहोक्ति है, कविजन बुद्धि प्रभाव॥

इसमें कार्य अपने हेतु को छोड़ कर अन्य कारणों या वस्तुओं के साथ चलता है—यह वैचित्र्य इससे स्पष्ट है।

भूषण जी ने इसे छोड़ दिया है।

जसवन्त सिंह ने लिखा है—"सो सहोक्ति सब साथ ही, बरनै रस सरसाइ।"

और इससे यह दिखलाया है कि सरस वर्णन की बातों का एक साथ देना ही सहोक्ति है, इस प्रकार आपने शब्दार्थ को चरितार्थ किया है।

अब अन्य आचार्यों के मतानुसार इसके निम्न रूप होते हैं।

१—मन रोचक बातों का एक साथ वर्णन करना—

मन रंजक जहँ बरनिये, एक सँग बहु बात।
सो सहोक्ति आभरण है ग्रन्थन में विख्यात॥

इसी भाव को लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह और पद्माकर ने भी अपनी परिभाषाओं में रक्खा है और यों अप्पय का अनुकरण किया है।

२—उक्ति में सह भाव का प्रदर्शन करना।

मम्मट के समान इसे दूलह ने अपनी परिभाषा में दिया है।

देव जी ने अपनी एक विचित्र ही परिभाषा इसकी दी है।

"सो सहोक्ति जहँ सहित गुन, कीजै सहज बखान।"

अर्थात् जहाँ सहज प्राकृतिक वर्णन गुण के साथ किया गया हो वहाँ सहोक्ति अलंकार मानना चाहिये।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये इस पर विचार करना चाहिये।

पर्यायोक्ति

जहाँ कवि के द्वारा अभीष्टार्थ या इष्ट भाव सीधे सादे एवं साधारण रूप में न कहा जाकर पर्याय (दूसरे) प्रकार से कहा जावे और इस प्रकार विवक्षित (अभीष्ट) अर्थ का भंग्यन्तर रूप से प्रतिपादन एवं प्रकाशन किया जावे।

नोट—कह सकते हैं कि यह भाव-प्रकाशन-शैली के वैचित्र्य एवं चमत्कृत चातुर्य पर निर्भर होकर एक प्रकार की वक्रोक्ति है। इसमें मुख्य भाव को जिसे कवि प्रकाशित करना चाहता है सीधे, स्पष्ट, एवं साधारण रूप से न कह कर एक विचित्र ढंग के साथ कहता है और उसे असाधरण सा बना देता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि इसका सम्बन्ध वाक्य-रचना-चातुरी से ही है, किसी बात को ऐसे ढंग से घुमा फिरा कर कहना कि भाव तो वही बना रहे, अर्थ में किंचिदपि परिवर्तन न हो, किन्तु कहने का ढंग चोखा और अनोखा हो।

ध्यान रखना चाहिये कि इसमें भंग्यन्तर होते हुये भी ध्वनि एवं व्यंग्य का कुछ भी सामंजस्य नहीं होता, भावाभिव्यंजन-चातुर्य एवं वैदग्ध (वैचित्र्य) या वैलक्षण्य ही मुख्य भाव को सूचित करता रहता है, किन्तु वह सदा अभिधेयात्मक ही रहता है (शब्द के द्वारा ही उसका भाव स्पष्ट एवं व्यक्त रहता है) वह व्यंग्य के समान अवाच्य एवं सूच्य नहीं रहता।

यहाँ वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का काम करता है, ध्वनि के समान इसमें वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न २ नहीं होते।

यथाः —लखि तव बिक्रम विशद बल, आई अति अनुरागि।
तव ढिग, तव रिपु-राजश्री, पातिव्रत निज त्यागि॥

अलंकार सर्वस्व में यह दिखलाया गया है कि इसमें कारण के रूप में जो वाच्यार्थ रहता है उसका कार्य के द्वारा कथन किया जाता है, यही बात अप्रस्तुत प्रसंशा के कार्य निबन्धना नामी भेद में भी होती है (कारण-रूप वाच्यार्थ का कार्य-रूप से कथन होता है) किन्तु वहाँ कार्य तो अप्रस्तुत रहता है और केवल कारण ही प्रस्तुत रूप में दिखलाया जाता है, यहाँ कार्य और कारण दोनों प्राकरणिक होकर प्रस्तुत रहते हैं।

इसके दो मुख्य रूप होते हैं: -

प्रथमः—जो ऊपर दिखलाया जा चुका है।

प्यासो मृगछौना उतै, ह्वै है बडो बिहाल।
जल दै आवौं ताहि, तुम, सखि ढिग रहौ भुआल॥
बैठि रसालन डारि, कूँजत पिक अविकल तहाँ।
औवौ ताहि निहारि, तुम दोऊ रहियो इतै॥

द्वितीयः—जहाँ किसी व्याज या बहाने से इष्टार्थ की सिद्धि की जावे।

राधे ! भली न या हँसी, लीन्ही गेंद दुराय।"
देहु देहु कहि कंचुकी, गही बिहँसि हरि आय॥

नोटः—इसमें न केवल वचन-चातुरी ही का चमत्कार रहता है वरन् क्रिया-चातुर्य का भी प्रदर्शन किया जाता है अर्थात् विचित्र वाक-चातुरी के साथ ही ऐसा कार्य होता या किया जाता हुआ दिखलाया जाता है जिससे इष्टार्थ का साधन होता है, उसे छिपाने के लिये साथ में चतुरता पूर्ण एक सुन्दर उक्ति भी रहती है, जिसमें चमत्कार के साथ ही साथ एक विचित्र वैलक्षण्य भी रहता है।

यथाः—राधे आओ कान में, सुनौ मातु-संदेश।
कह "रसाल" यों हरि लियो, चूमि कपोल-प्रदेश॥

इसके दो भेद हैंः—१—आत्मेष्ट-साधन या अपना इष्ट-साधन
यथाः—उक्त उदाहरण में।

२—परेष्ट साधनः—

यथाः—विपिन विकासित सुमन लै, देऊँ हरिहिं उपहार।
तब लौं तुम दोऊ इतै, लखौ 'रसाल' बहार॥

नोटः—पर्यायोक्ति को केशव मिश्र ने अपने अलंकार शेखर में संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, और भाविकत्व (सु शब्दत्व, सुधर्मिता) के साथ एक प्रकार का अर्थ सम्बन्धी गुण माना है।

नोटः—इसमें मिस या व्याजादि शब्दों का रखना आवश्यक नहीं, वे रक्खे भी जा सकते हैं और नहीं भी। कैतवापन्हुति में एक बात के छिपाने के लिये मिस या व्याज से कोई अन्य बात कही जाती है, कोई क्रिया नहीं की जाती, किन्तु इसमें इष्टार्थ की सिद्धि के लिये कथन के साथ कोई युक्तिपूर्ण क्रिया भी की जाती है, वह छलपूर्ण होती है।

केशव ने इसे यों दिया हैः—

"कौनहु एक अदृष्ट ते, अनही किये जु होय।
सिद्धि आपने इष्ट की, पर्यायोकति सोय॥

अर्थात् जहाँ अदृष्ट-बल से बिना कुछ किये ही अपने इष्टार्थ की सिद्धि हो जावे। देव जी ने इसे नहीं दिया। शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे इसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार हमने ऊपर दिया है। भूषण ने केवल एक ही रूप दिया है।

"बचनन की रचना जहाँ, वर्णनीय पर जानि।
परजायोकति कहत हैं, भूषण ताहि बखानि॥

दास जी ने इसके प्रथम रूप में लक्षणा का भी प्रभाव माना है।

"कहिय लच्छना-रीति लै, कछु रचना सों बैन।

दूसरा भेद वही दिया है:—

मिसु करि कारज साधिबो, परजायोक्ति सु ऐन।

साथ ही यह भी कहा है कि नई रचना से जहाँ बात कही जावे वहाँ पर्यायोक्ति है:—

"परजायोक्ति जहाँ नई, रचना सों कछु बात॥

शेष सभी आचार्यों ने अप्पय जी के मत का (जिसे हमने ऊपर दिखलाया है) अनुसरण किया है और इसके उक्त दो रूप उसी प्रकार दिये हैं।

मम्मट जी ने केवल एक ही रूप दिया है:—

"पर्यायोक्तं बिना वाच्य वाचकत्वेन यद्वचः'

विश्वनाथ ने भी ऐसा ही किया है और केवल प्रथम रूप ही दिखलाया है—

"पर्यायोक्तं यदा भंग्या गम्यमेवाभिधीयते।"

विशेषोक्ति

पूर्ण कारण के सब प्रकार उपस्थित रहने पर भी जहाँ कार्य न होता हुआ दिखलाया जावे।

नोट:—विभावना में कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति एवं पूर्ति रहती है किन्तु इसमें पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस प्रकार दोनों एक दूसरे के प्रतिलोम हैं। इसका आधार कार्य-कारण-सम्बन्ध है (The relation Between cause and action)

इसके तीन मुख्य भेद होते हैं :—

१—अनुक्त निमित्ता :—जहाँ किसी कार्य के न होने का कारण या निमित्त न कहा जावे।

यथा :—आली री इन चखन की, जानै कैसी प्यास।
छकि छकि छबिरस पियत पै, रहै प्यास की त्रास॥

२—उक्तनिमित्ता :—जहाँ कार्य के उत्पन्न न होने का हेतु या निमित्त व्यक्त कर दिया गया हो।

यथा:—नव प्रभात, विकसित जलज, मधुप न तिन पै जांहि।
कह "रसाल" तव मुख सद्रुस, तिन में मधुरस नांहि॥

३—अचिन्त्यनिमित्ताः—जहाँ कार्य के न होने का कारण अचिन्त्य हो।

यथा :—यद्पि दियो हरि मोंहि अति, सुन्दर रूप 'रसाल'।
जानै धौं काहे न मोंहि, बाल दियो जय-माल॥

नोट :—अनुक्त निमित्ता तथा, अचिन्त्य निमित्ता में यद्यपि कार्य के अभाव का हेतु, प्रतीयमान या व्यंग्य रूप में रहता है तथापि उसमें चातुर्य-चमत्कार नहीं होता, और न वह प्रधान रूप में ही रहता है, वरन् इनमें वाच्यार्थ ही में चारु चातुर्य एवं चमत्कार का प्राधान्य रहता है अतः इसे सब प्रकार ध्वनि से पृथक् ही मानना चाहिये।

हमारे आचार्य यों लिखते हैं।

भिखारी—हेतु घनेहू काज नहिं, विशेषोक्ति सँदेह।
विशेषोक्ति कारज नहीं, कारन की अधिकाय॥

भूषण०—जहाँ हेतु समरथ भयहु, प्रगट होत नहिं काज।

जसवन्त०—विशेषोक्ति जो हेतु सों, कारज उपजै नाहिं।

लछि०—प्रबल हेतु बल सो जहाँ कारज सिद्ध न होय।

गोकुल—लहियत कारन बहुत जहँ, कारज सिद्ध न होय।
गोविन्द—विद्यमान कारण बन्यों, तउ न जहँ फल होय।
रामसिंह—पूरन कारन होय, काज न होइ तऊ तहाँ।
दूलह—हेतु परि पूरन पै उपजै न काज जहाँ—
पद्माकर—विशेषोक्ति कारन प्रबल, ताते काज जहाँ न।

केशवदास ने कहा है—

"विद्यमान कारण सकल, कारज होंइ न सिद्ध।
सोई उक्ति विशेषमय, केशव परम प्रसिद्ध॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि समस्त (सभी) कारणों या पूर्ण कारण पर भी कार्य न होना इसका लक्षण है।

भिखारीदास के मत से कारण की अधिकता और बहुत कारणों पर भी जहाँ कार्य न हो वहाँ विशेषोक्ति है—इसमें कारण के पूर्णत्व का भाव नहीं वरन् आधिक्य एवं संख्या का भाव प्रधान है। मतिराम ने पूर्ण कारण या कारण की परिपूर्णता को ही प्रधानता दी है (जहँ परिपूरन हेतु ते, प्रगट होत नहिं काज।)

भूषण ने कारण के समर्थ (शक्ति पूर्ण) होने पर बल दिया है और जसवन्तसिंह ने साधारणतथा यही कहा है कि जहाँ हेतु से कार्योत्पत्ति न हो वहाँ विशेषोक्ति होती है।

देवजी ने एक विचित्र परिभाषा दी है:—

जाति, कर्म गुन भेद की, विकलपता करि जाहि।
वस्तुहिं बरनि दिखाइये, विशेषोक्ति कहु ताहि॥

यहाँ वस्तु-वर्णन में जाति, कर्म एवं गुण-भेद की विकलपना को प्रधान रखना स्पष्ट है। यह भाव और कहीं नहीं पाया जाता। इस प्रकार इसके कई रूप हो जाते हैं:—

१—समस्त कारणों से भी कार्य न हो—केशव ।
२—बहुत या अधिक कारण से कार्य न हो—भिखारी, गोकुल ।
३—पूर्ण कारण पर भी कार्य न हो—मतिराम, रामसिंह, दूलह ।
४—समर्थ कारण से कार्य न हो—भूषण ।
५—प्रबल कारण से कार्य न हो—लछिराम, पद्माकर ।
६—कारण पर भी कार्य न हो—जसवन्त सिंह, गोविन्द ।

समासोक्ति

जहाँ समान भाव वाले विशेषणों से अप्रस्तुत का कथन किया जावे तथा जिसमें समास (संक्षेप) से उक्ति का चातुर्य-चमत्कार हो । प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों का एक ही अर्थ में कथन किया गया हो । यह मत अग्निपुराण का है ('समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः)

नोटः—यहाँ प्रस्तुत के वर्णन में केवल समान विशेषणों की ही अर्थ-शक्ति से अप्रस्तुतार्थ का प्रदर्शन लिया जाता है, समान विशेष्य से कुछ काम नहीं लिया जाता । जहाँ विशेषण और विशेष्य दोनों समान रूप से प्रधान रहते हैं तथा दोनों के द्वारा प्रस्तुत या अप्रस्तुत अर्थ का प्रदर्शन किया जाता है वहाँ श्लेषालंकार माना जाता है, प्रस्तुताप्रस्तुत दोनों के वर्णन वाले श्लेष में कभी कभी विशेष्य अश्लिष्ट भी होता है और इसलिये प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का पृथक् पृथक् शब्दों के द्वारा प्रदर्शन कराया जाता है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत व्यंग्यरूप से भावगम्य रहता है उसका वर्णन अप्रस्तुत के द्वारा किया जाता है, किन्तु यहाँ इसके विपरीत अप्रस्तुत गम्य रहता है तथा प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत के व्यवहाराचार की प्रतीति रहती है ।

रूपक में अप्रस्तुत का प्रस्तुत या आरोपण पर स्थापन किया जाता है और अप्रकृत वस्तु अपने रूप से प्रकृत वस्तु के रूप का आच्छादन सा कर लेती है, किन्तु यहाँ प्रकृत वस्तु का बिना आच्छादन किये ही उसको उसकी प्रथमावस्था से भी अधिक उत्कृष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार रूप का स्थापन न करके व्यवहार ही का आरोपण किया जाता है।

समान विशेषण कहीं तो श्लिष्ट और कहीं अश्लिष्ट रूप में रहते हैं। इसलिये इसके दो मुख्य रूप हो जाते हैं। ध्यान रहे कि श्लेष में सभी अर्थ प्रस्तुत से माने जाते हैं, किन्तु इसमें नहीं, वरन् यहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का भान होता है।

१—श्लिष्ट विशेषणात्मक—संभंग श्लेष, अभंग श्लेष से दो रूप में।

२—अश्लिष्ट विशेषणात्मक।

यथाः—(१) विकसित मुख ऐन्द्री निरखि, रवि-कर-सँग अनुरक्त।
प्राचेतसदिशि जात शशि, ह्वै दुति मलिन विरक्त॥

यहाँ प्रस्तुत विषय प्रभात का वर्णन है, साथ ही अप्रस्तुत विषय में वह विलासी पुरुष आता है जिसकी प्रिया किसी दूसरे से अनुरक्त होती है, वह पुरुष ऐसा देख कर मरने पर उद्यत हो जाता है। यहाँ प्राचीदिश रूपी नायिका कुलटा के रूप में तथा रवि, नव नायक के रूप में व्यवहार करते दिखलाये गये हैं। विशेष्यपद ऐन्द्री और शशि अश्लिष्ट और विशेषण पद सभी (कर, अनुरक्त, और विरक्तादि) श्लिष्ट (द्व्यार्थक) हैं और प्रस्तुतार्थ से अप्रस्तुतार्थ का बोध कराते हैं।

(२) सहज सुगंध मदन्ध अलि, करत चहूँ दिशिगान।
देखि उदित रवि कमलिनी, लगी मुदित मुसकान॥

यहाँ कमलिनी (प्रस्तुत) के व्यवहार का प्रदर्शन नायिका (अप्रस्तुत) में किया गया है और यह केवल साधारण विशेषणों से, मुसकान शब्द से आरोप्य धर्म जो अप्रस्तुत (नायिका) में ही घटित होता है, कमलिनी के विकास में स्थापित किया गाया है और अवस्था सूचक है, बिना इसके प्रथम पद-गत विशेषणों से अप्रस्तुत के व्यवहार अस्फुट ही रहेंगे।

कर्मसाम्य, और लिंगसाम्य के आधार पर इसके निम्नरूप होते हैं :—

१—कर्मसाम्यात्मकः—जहाँ प्रस्तुताप्रस्तुत के कर्मों में साम्य दिखलाया गया हो। यथा :—

> कोषविद्ध तनवद्ध ह्वै, गरे परो बनि हार।
> सरस सुमन तू धन्य है, उर पै करत विहार॥
> मृगनैनी कुच सुधरसों, पट हटाये हठि देत।
> मलयानिल तू धन्य अति, आलिंगन सुख लेत॥

२—लिंगसाम्यात्मक—जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के लिंगों में भी साम्य हो:—यथा—

> जलज द्रगी सरिता सरस, तव छबि छाया धारि।
> तुमहिं लखति, घनश्याम तुम, सरसावहु रसधारि॥
>
> —र० मं०

यहाँ श्लेष और अन्योक्ति की भी पुट लगी है।

नोटः—अलंकार सर्वस्व में इसका एक भेद औपम्यगर्भा के नाम से दिया गया है। इसमें समासोक्ति के गर्भ में (केन्द्र में) उपमा का प्राधान्य रहता है। यथाः—

> दसनकान्ति कुसुमावली, अलिगण असित सुकेश।
> कर पल्लव अति मृदु कलित, वलसित तदति सुवेश॥

यहाँ नायिका प्रस्तुत एवं लता अप्रस्तुत है क्योंकि दसन-कान्ति एवं सुवेशादि की सत्ता नायिका में ही प्राप्य है लता में नहीं, इनका साम्य के साथ विशेषणों के द्वारा लतिका में आरोप किया गया है। यह सब उपमा की सहायता से हुआ है।

पंडितराज और विश्वनाथ ने इसे ठीक नहीं माना, क्योंकि उपमा में सादृश्य ही का प्राधान्य होता है और व्यवहार का नहीं, अतः यह उपमा के क्षेत्र में कदापि नहीं कही जा सकती, हाँ इसमें एक देश विवर्ति उपमा का भाव अवश्य है और वाचक लुप्तोपमा का रूप भी झलकता है।

नोटः—यह स्पष्ट हो गया होगा कि समासोक्ति में अन्य अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति व्यंग्यार्थ पर ही निर्भर है वाच्यार्थ पर नहीं। हाँ व्यंग्यार्थ ही का यहाँ पूर्ण प्राधान्य नहीं वरन् वाच्यार्थ ही की प्रधानता है, इसी में चातुर्य-चमत्कार है, व्यंग्य या सूच्यार्थ का भाव गौण और संक्षिप्त हैं। अतः कह सकते है कि इसका सम्बन्ध गुणी भूत व्यंग्य से विशेष रूप में है। तौ भी यह उसके क्षेत्र में नहीं, वरन् अलंकार के ही क्षेत्र में हैं क्योंकि यहाँ व्यंग्य अप्रधान है—जैसा ध्वन्यालोक का मत है :—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतय-स्फुटा ॥

यह भी देख लेना चाहिये कि इसमें और अन्योक्ति में बहुत कुछ समानता है। दोनों अलंकारों का एक साथ मिलान करने पर अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

केशव दास और भूषण ने इसे अलंकारों में नहीं गिना, शेष अन्य प्रधानाचार्यों ने प्रायः इसे एक ही रूप में लिया है।

भिखारीदास ने इसे यों दिया हैः—

जहँ प्रस्तुत में पाइये, अप्रस्तुत को ज्ञान।
कहुँ बाचक, कहुँ श्लेष तें, समासोक्ति पहिचान॥

और इसके २ रूप दिये हैं:—१—वाचक प्रधान २—श्लेष प्रधान

अन्य सभी आचार्य प्रायः इसी भाव के साथ इसकी परिभाषायें देते हैं, किन्तु इसके भेद या रूप नहीं देते।

देव जी ने इसे यों लिखा है :—

कछू वस्तु चाहै कहौ, तासम बरनै और।
सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिर मौर॥

भा० वि० पृ० १०७

नोटः—प्रायः सभी आचार्यों ने अप्पय दीक्षित का ही अनुकरण किया।

नोटः—तरल तारका निशिमुखहिं, रागाकुल शशि आय।
गहत मुदित मृदु करन सों, तिमिरांशुक बिलगाय॥

ऐसे स्थलों में रूपक है अवश्य, पर वह अप्रधान एवं अंगरूप में है। यहाँ समासोक्ति ही प्रधान है, रूपक नहीं क्योंकि (एक देश विवर्त्ति) रूपक वहाँ होता है जहाँ रूप्य रूपक का सादृश्य अस्पष्ट या अस्फुट रहता है, सहज ही ज्ञात नहीं होता, यदि वहाँ दूसरे वाक्यों में (जिनमें शब्द द्वारा आरोप नहीं किया गया) आरोप न किया जाये तो वह एक वाक्य में दिया हुआ अस्फुट सादृश्य असंगत होता है और दूसरे वाक्यों में शब्दों से आरोपण न भी होने पर वह अर्थ-शक्ति से आक्षिप्त होता है यथा—

तेरे कर लखि असिलता, शोभित रन रेनवास।
रस सन्मुखहू रिपु आनी, झट ह्वै विमुख हतास॥
मीन जलज नयना नदी, सरसमना लखि लेय।
तव छबि छाया धरति उर, घन! तू तेहि रस देय॥

व्याजोक्ति

जहाँ किसी गुप्त रहस्य वाली वस्तु जो प्रकट की जा चुकी है व्याज, (बहाना या कपट) से छिपाई जावे वहाँ व्याजोक्ति मानी जाती है।

नोटः—यहाँ उक्ति शब्द के अन्तर्गत वचन और चेष्टायें दोनों समाविष्ट माने गये हैं अर्थात् इसमें वचनों (चतुर एवं गूढ़ वाक्यों) तथा चेष्टाओं (आँगिक विशिष्ट क्रियाओं) के द्वारा रहस्य-पूर्ण प्रकट बात छिपाई जाती है।

यहाँ ध्वनि का कोई भी प्राधान्य नहीं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ का स्पष्टीकरण उक्ति के द्वारा होता है नकि उक्ति का व्यंग्यार्थ के द्वारा।

सूक्ष्मालंकार में इंगितादि की प्रधानता रहती है और वहाँ उक्ति का भाव इंगितात्मक कथन से ही सर्वथा स्पष्ट होता है और साभिप्राय उक्ति से ही संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन किया जाता है, किन्तु वचन-चातुरी नहीं रहती, यहाँ दोनों रहती हैं।

छेकापन्हुति में किसी बात का प्रथम निषेध करके उसे छिपाया जाता है (जैसा प्रथम बतलाया जा चुका है) किन्तु इस अलंकार में निषेध का भाव नहीं रहता।

उदाहरणः—गिरिपति गिरिजा-कर धरयों, शिव-कर में करि नेह।
तन काँप्यों रोमाँच लखि, कह्यों जड़ानी देह॥

नोटः—दंडी जी ने इस अलंकार को लेसालंकार के भेदों में माना है तथा अन्य अन्य आचार्यों ने इसके अन्तर्गत उस गोपन को भी रक्खा है जो आकार के द्वारा सिद्ध होता है, तथा जिसे अप्पयादि आचार्यों ने युक्ति नामक अलंकार का लक्षण माना है।

अप्पय जी ने उक्ति के सिवा इस अलंकार में क्रिया आदि के द्वारा प्रकट हुये रहस्य का गोपन भी दिखलाया है—

यथाः—लखि हरि, पुलकी प्रेम सों, भई सुबाल सकाम ।
सखिहिं संग लखि, चतुर वह, कीन्ह्यों नम्र प्रणाम ॥

केशवदास और देव ने इसे नहीं लिखा। शेष सभी प्रधानाचार्यों ने अन्य हेतु से आकार या रूप के गोपन पर ही इसे निर्भर किया है, किन्तु भिखारीदास और गोविन्द कवि ने ऐसा न करके इसे वचन-चातुरी से किये हुये कार्य के संगोपन और अन्य (अयथार्थ) हेतु की उक्ति के द्वारा कार्य के छिपाने पर आधारित किया है।

संगोपनीय रहस्य-भेद।

१—क्रिया या कार्यात्मक रहस्य।

२ - वचनात्मक रहस्य (मर्म या रहस्यमयी बात)।

वस्तुतः इस अलंकार के दो रूपों में से एक तो शुद्ध अर्थालंकार है, क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध वचन-चातुरी से है, और दूसरा क्रिया या चेष्टा सम्बन्धी होकर अभिनय-चातुर्यात्मक नाट्यालंकार सा है। इसका सीधा सम्बन्ध आँगिक क्रिया, संकेत, (इंगित-चातुर्य) या चेष्टा से ही है। इसके और भी कई भेद किये जा सकते हैंः—

वचन चातुर्यात्मकः—जहाँ रहस्य का गोपन वचनों की चतुर रचना से हो।

१—उत्तरात्मकः—जहाँ किसी के द्वारा रहस्यमयी बात के पूछे जाने पर उत्तर-स्वरूप में उसके संगोपनार्थ बचनों की चतुर रचना की जावे ।

यथाः—मोहन मथुरा जात, सुनि, दुखित भई अति बाल।
कारन बूझे ते कह्यो, मिल्यों न नैहर हाल॥

—र० मं०

२—साधारणः—जहाँ बिना प्रश्न के ही रहस्यादि के संगोपनार्थ स्वतः ही परिस्थिति समझ कर वचनों की चतुर रचना हो।

यथा—उक्त उदाहरण में।

३—विशिष्टः—अपने ही से अपने रहस्य के प्रकाशित हो जाने पर फिर से उसे वचन-चातुरी से छिपा लेना।

४—असाधारणः—जहाँ अपने रहस्य को दूसरे के द्वारा प्रकट हुआ देख कर उसे वचन-चातुरी से छिपाया जावे।

५—साहाय्यात्मकः—जहाँ अपने रहस्य के किसी प्रकार, प्रकाशित होने पर किसी दूसरे (मित्र या सखादि) के द्वारा उसका संगोपन किया गया हो—

क्रिया-चातुर्यात्मकः—१. साधारणः—जहाँ अपने रहस्य का गोपन आँगिक क्रियाओं के द्वारा किया जावे।

२—विशिष्टः—जहाँ किसी दूसरे के रहस्य का गोपन अपनी आँगिक क्रियाओं के द्वारा किया जावे।

नोटः—मुख्य आचार्यों के मत यों हैं:—

अप्पयः—व्याजोक्तिः—व्याजोक्तिरन्य हेतूक्त्या यदाकारस्यगोपनम्
आकार-गोपन

मम्मटः—व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तु रूप-निगूहनम्
छद्म से रूप-निगूहन

विश्वनाथः—व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।
व्याज से प्रगट वस्तु-गोपन

भिखारीदासः—बचन चातुरी सों जहाँ, कीजै काज दुराय।
सो भूषन व्याजोक्ति है, सुनो सुमति समुदाय॥

गोविन्द—काम कियो सुछपाइ कै, आन हेतु की उक्ति।
ताहि कहत व्याजोक्ति जे, जानत कविता-जुक्ति॥

मतिराम—और हेत वचननि जहां आकृति-गोपन होय।
व्याजउकति तहं कहत कवि,······

भूषण—आनहेतु सों आपनो, जहां छिपावै रूप।
व्याजउकति तासों कहत, भूषन सुकवि अनूप॥

और शेष आचार्य इन्हींके पथानुसारी हैं। पाठक इन उक्त मतों में जो थाड़े २ अन्तर हैं, स्वतः देख सकते हैं, क्योंकि वे स्पष्ट ही हैं।

युक्ति

जहाँ आकर या रूप के द्वारा किसी रहस्य का संगोपन किया जावे।

यह यद्यपि उक्त व्याजोक्ति का ही दूसरा भेद है तथापि अप्पयाचार्य ने इसे युक्ति नाम से एक स्वतंत्र एवं पृथक अलंकार माना है। हमारे हिन्दी के भी वे अचार्य जो कुवलयानन्द के अनुयायी हैं, इसे एक स्वतंत्र अलंकार मानते हैं।

केशवदास ने इसे यों लिखा है:—

"जैसो जाको बुद्धि-बल, कहिये तैसो रूप।
तासों कवि कुल युक्ति यह, बरनत बहुत स्वरूप॥

आपने यह तो कहा है कि इसके अनेक रूप होते हैं किन्तु उन्हें दिखलाया नहीं।

भिखारीदास ने क्रिया-चातुरी से किसी (रहस्यात्मक) बात के छिपाने पर ज़ोर दिया है, हाँ यह स्पष्ट नहीं कहा कि बात रहस्यात्मक हो या न हो।

क्रिया-चातुरी सों जहाँ, करै बात को गोप।
ताहि उक्ति भूषन कहैं जिन्है, काव्य की चोप॥

जसवन्तसिंह ने क्रिया के द्वारा मर्म (क्रियात्मक या वचनात्मक यह स्पष्ट नहीं) के संगोपन का भाव लिया है—

"यहै जुक्ति, कीन्हें क्रिया, मर्म छिपायो जाइ।"

मतिराम जी ने 'शर्म (लज्जा) या शर्म वाली बात या कार्य के छिपाने के लिये जहाँ कोई दूसरी क्रिया की जावे' यह परिभाषा दी है।

सरम छपावन को जहाँ, क्रिया आन संधान।
तहाँ जुक्ति बरनन करत, कवि कोविद सज्ञान॥

भूषण और देव ने इस अलंकार को नहीं लिखा।

लछिराम ने क्रिया-चातुरी के साथ इसमें वचनों के छिपाने का भी भाव प्रधान रक्खा है और यों इसमें व्याजोक्ति का भी कुछ अंश मिला सा दिया है।

गोकुल कवि ने किसी के भय से क्रिया के द्वारा आकार-गोपन में यह अलंकार माना है। गोविन्द ने क्रिया से मर्म-संगोपन के साथ वंचनापूर्ण अभिप्राय की भी प्रधानता दिखलाई है।

शेष सभी आचार्य मर्म के छिपाने के लिये क्रिया-चातुरी के दिखाने ही को इसमें प्रधान रखते हैं।

इस प्रकार बहुत सूक्ष्म अन्तरों के साथ हमारे आचार्य इसके मूल भाव को लेते हुये चलते हैं।

नोटः—व्याजोक्ति, गूढोक्ति एवं विवृतोक्ति में वचनचातुरी से किसी बात के छिपाने पर बल दिया जाता है, किन्तु यहां किसी मार्मिक बात को क्रिया-चातुरी से छिपाने पर। जहाँ किसी न कहने योग्य बात को किसी चेष्टा से प्रगट करते हैं वहां भी यही अलंकार माना जाता है। जैसे मर्म-गोपन में इसे मानते हैं वैसे ही मर्म-प्रकाशन में भी। चतुराई से कार्य या अभिप्राय के छिपाने एवं प्रगट करने में (दोनों दशाओं में) यह अलंकार होता है। सूक्ष्म और पिहित से इसकी जो भिन्नता है वह उनकी परिभाषाओं से ही स्पष्ट हो जाती है।

गूढोक्ति

जहाँ कोई कथन, जिसका उद्देश्य दूसरे के प्रति कथन करने का है, किसी दूसरे के प्रति कहा जाये, किन्तु उसमें वह संकेत पूर्ण रूप से ऐसा स्पष्ट रहे कि वह अभीष्ट व्यक्ति के ऊपर सब प्रकार चरितार्थ और लागू होता रहे।

किसी विशेष व्यक्ति के प्रति किसी बात के न कहे जाने का कारण प्रायः यही होता है कि उस बात से उस व्यक्ति को कुछ विशेष बुरा न लग सके तथा सर्वसाधारण उसे भली भाँति स्पष्ट रूप से समझ भी न सकें, वे यह न जान सकें कि यह इसी (अमुक) व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा गया है।

इस लिये इस प्रकार की उक्ति में प्रायः निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है :—

१—कथन (वाक्य) सर्वथा सर्वसाधारण एवं व्यापक रूप में हो, और वह न केवल एक ही व्यक्ति पर लागू हो वरन् उसी प्रकार के कई या सभी व्यक्तियों पर चरितार्थ हो सके।

२—वह वाक्य विशेषणों एवं गुणों को लिये हुये हो तथा सीधे सीधे स्पष्ट रूप से किसी विशेष व्यक्ति के प्रति न रहे। वरन् किसी वस्तु या अप्रस्तुत विषय (पशु पक्षी, पदार्थादि) पर आधारित रहे, हां कुछ गूढ़ संकेत किसी पुरुष या व्यक्ति विशेष की ओर अवश्य करता रहे।

३—वाक्य की पदावली श्लिष्ट रहे, जिससे वह गूढ़ हो कर प्रस्तुत, अप्रस्तुत अथवा, व्यक्ति विशेष और किसी दूसरे पर भी समान रूप से लागू हो सके।

४—उसमें व्यंग्य या सूक्ष्म भाव की भी पुट रहे। इसके मुख्य दो भेद हो सकते हैं :—

१—प्रशंसात्मकः—जिसमें किसी की प्रशंसा गूढ़ता के साथ किसी दूसरे पर ढालते हुये की जाये।

यथाः—सुमन न नत मुख ह्वै रहौ, करौ न निज पै रोष।
याचक ह्वै सब आवहीं. जहँ सुवर्ण युत कोष॥
—र० मं०

२—निन्दात्मकः—जिसमें किसी की निन्दा का भाव गूढता के साथ किसी दूसरे पर ढलता हुआ दिया जावे।

यथाः—अब तू हरिना आपनी, बारी करु न विहार।
या बारी को देखियत, आवत राखन हार॥
—र० मं०

इसमें कोई यथार्थ या सच्ची बात प्रधानता के साथ रक्खी जाती है और उसके आधार पर कभी कभी उपदेश, या सूचना आदि भी दी जाती है। अन्योक्ति में प्रायः नीलि-रीति की शिक्षा के व्यापक रूप की प्रधानता रहती है, उसमें इसकी भाँति व्यंग्य तथा वक्रता के साथ कैतवता (वंचना) आदि का भाव नहीं रहता। अप्रस्तुत प्रशंसा में कार्यादि के कथन में कारणादि का भी प्रकाशन किया जाता है किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता।

नोटः—केशव, भूषण और देव को छोड़ कर शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे दिया है और प्रायः सभी ने अप्पय का ही अनुकरण किया है। यद्यपि सब का मूल भाव एक ही है तो भी कुछ अन्तर अवश्य है, जो निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है :—

दास जी लिखते हैं :—

'अभिप्राय जुत जहँ कहिय, काहू सों कछु बात।

मतिराम जी लिखते हैं :—

कहिबो जो कछु और सों, कहै और सों बोलि।

जसवन्तसिंह लिखते हैं :—

गूढ़ उक्ति, मिसि और कैं, कीजे पर उपदेस।

गोकुल, गोविन्द, रामसिंह और दूलह तो मतिराम जी के, पद्माकर जी जसवन्तसिंह के और लछिराम जी दास जी के अनुसार इसे देते हैं।

ध्यान रहे कि इसमें वक्ता का तात्पर्य श्रोता से होता है न कि जिससे बात कही जाती है। प्रस्तुतांकुर में वक्ता का तात्पर्य उससे होता है जिससे बात कही जावे, हाँ उससे श्रोता भी लाभ उठा सकता है। साथ ही उसमें उपालंभ भी प्रधान होता है, किन्तु यहाँ सूचनार्थ ही बात कही जाती है।

इसके दो रूप और हो सकते हैं:—

निन्दात्मक स्तवन:—निपट नीच लखि निजहिं तुम,
कूप न होहु अधीर।
जानत हाल 'रसाल' जग,
तव हिय सरस गँभीर॥

केवल स्तवन:—सुमन धन्य फूलौ सदा, देहु सदैव सुवास।
करहु प्रसन्न 'रसाल' कह, जो आवै तव पास॥

नोट:—किसी किसी ने गूढोक्ति के एक विशिष्ट रूप ही को विवृतोक्ति कहा है। साथ ही किसी किसी ने गूढोक्ति को भी सूक्ष्मालंकार का एक विशिष्ट रूप माना।

अन्योक्ति

जहाँ किसी दूसरे व्यक्ति की बात (वह बात जो किसी विशेष व्यक्ति पर लागू या चरितार्थ होती हो और दूसरे पर नहीं) किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति (उसके ऊपर ढाल कर) यद्यपि वह उस पर लागू नहीं होती, कही जाती है।

"औरहिं प्रति जु बखानिये, कछू और की बात।
अन्य उक्ति यह कहत हैं, बरणत कवि न अघात॥

गूढोक्ति में अन्योद्देशक वाक्य उस व्यक्ति पर सब प्रकार चरितार्थ या लागू होना है, जिसके प्रति वह स्पष्ट रूप से कहा गया है, किन्तु अन्योक्ति में ऐसा नहीं होता।

भिखारीदास ने इसे यों लिखा हैः—

"अन्य उक्ति औरहिं कहै, औरहिं के सिर डारि।

आपने इसके अन्दर अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्ति नामी अलंकारों को रक्खा है और अन्योक्ति के ही आधार पर इन्हें आधारित माना है। और सभी प्रधानाचार्य अन्योक्ति को अपने अपने ग्रन्थों में नहीं लिखते।

इसको दो मुख्य रूपों में रख सकते हैंः—

१—वक्रान्योक्ति—जिसमें स्पष्ट रूप से किसी के प्रति किसी बात से उसे दूसरे पर ढालते हुए ताना (व्यंग्य) मारा जाये।

यथाः—तुम सजनी अति कठिन हो, करो सदा ही खोट।
देखहु मोहन, इन दई, मेरे हिय में चोट॥

२—काकुसम्बन्धीः—जहाँ स्वर-परिवर्तन से अन्योक्ति का भाव दूसरे व्यक्ति से उठ कर (जिसके प्रति कहा गया है उससे) अभीष्ट व्यक्ति पर पड़े।

इनके अतिरिक्त निम्न रूप और भी हो सकते हैं :—

१—श्लिष्टान्योक्तिः—जहाँ श्लेष के साथ अन्योक्ति रहे।

२—स्वगताः—जहाँ अन्योक्ति का भाव कहने वाले पर ही चरितार्थ हो।

यथाः—ऐसी तुच्छ बारी की न कुच्छ परवाह चाह,
भव बीच भौंरन को बाग बहुतेरे हैं।
चंदन-कर्दम कलहे, मंडूको मध्यस्थो याति,
ब्रूते पंक निमग्नः कर्दम समतां न चंदनो लभते॥

३—परंगताः—जहाँ अन्योक्ति का भाव कहने वाले पर लागू न होकर दूसरे ही किसी पर लागू हो। यथाः—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही में रम्यो, आगे कौन हवाल॥

परंगत—व्यक्ति-सम्बन्धी—नहि पराग नहिं मधुर मधु......

व्यापकः—धन्य धन्य हे सुमन वर, सबको देत सुवास।

नीत्यात्मक—दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साँई जनि भूल।

सांकेतिक—जिसमें जिसके प्रति अन्योक्ति हो उसका संकेत दिया हो—

चातक चतुर न जाँचहीं, नीरस घट सों नीर।
समय परे की बात बिलरियै दपटै मूसा!
परिपिंजरा सुक सीस धुनि, कह "रसाल" पछितात।
नर सम दीन्हों वाक विधि, पै अभाग की बात॥

नोटः—किसी किसी ने इसे सारूप्य निबंधना ही का दूसरा नाम माना है, और किसी किसी ने इसे समासोक्ति का उलटा या विपरीत रूप कहा है:—

"औरौ एक पिछान है, मानि लेहु परतीत।
समासोक्ति भूषन जु है, ताको यह विपरीत॥

ध्यान रहे कि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान होता है और समासोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत का भी बोध होता है तथा पर्यायोक्ति में प्रस्तुत का कथन कुछ वक्रता से घुमा फिरा कर ही किया जाता है, सीधे सीधे नहीं और उससे अप्रस्तु का कुछ भी भान नहीं होता। अब इन सब का भेद स्पष्ट हो जाता है।

संबोधित व्यक्ति के आधार पर मुख्य रूप :—

१—जहाँ अन्योक्ति के विषय को ही संबोधित करके उसीके ऊपर किसी दूसरे पर ढाल कर ताना मारा जाये।

२—किसी दूसरे को (अपने साथी या परिचित को)

यथाः—आवत लखि हरि को कह्यो, राधा अलि सों बात।
अयि अति तुम कपटी कठिन, करो हिये प्रति घात॥

३—किसी तीसरे पदार्थ को सम्बोधित करके कहना।

यथाः—दुखित करैं तौ करैं भल, मोंहि भूट घनश्याम।
दामिन कामिन ह्वै करै, तू कस अहित प्रकाम॥
रंभा भूमत हौ कहा, थोरे दिन के हेत। इत्यादि

व्यंग्य भाव के साथ आत्म स्वभाव, एवंनीति आदि भी इसमें दी जाती है। अन्य अलंकारों के योग से इसके और भी कई रूप हो सकते हैं।

विवृतोक्ति

जहाँ श्लेष के आवरण में (श्लिष्ट पदावली की अर्थ-शक्ति में) छिपी हुई बात या रहस्य कवि (कहने वाले) के द्वारा प्रगट कर दिया जाता है। श्लेष के दो भेदों के आधार पर इसके दो मुख्य भेद हो जाते हैं:—

१—शब्द-शक्ति से गुप्त बात का उद्घाटन

२—अर्थशक्ति से गुप्त बात का प्रकटीकरण

यथाः—१—मेरे गोरस सदृश कहुं, अनत न पैहौ श्याम !
विहँसि कह्यो यों चतुर सखि, लेहु चलौ मम धाम ॥

२—नित नित नीकी ना लगै, झूठी रस की बात ।
चलन लगी कहि बाल यों, ललन लगाई गात ॥

केशवदास, भूषण, और देव ने इसे अपने ग्रन्थों में नहीं लिखा। भिखारीदास ने इसे यों दिया है—

"जहाँ अर्थ गूढोक्ति को, कोऊ करै प्रकाश।
विवृतोक्ति तासों कहैं, सकल सुकवि जन 'दास' ॥

लछिराम ने भी इसे यों ही देकर कहा है कि यह काव्य प्रकाश के मतानुसार है, साथ ही फिर उक्त भाव-संयुक्त परिभाषा, जो चन्द्रालोक के मतानुसार है, दी है। इस प्रकार इसके दो भेद दिखलाये हैं:—

१—गूढार्थ का प्रकाशन—

"गूढ़ बात के अर्थ सों, जहँ कोउ करै प्रकास।
अलंकार विवृोक्ति तहँ, यह मत काव्य-प्रकास ॥

२—व्यंग्यवलित और श्लेष से छिपी बात का प्रकाशन—

जहाँ दुरै अश्लेष सों, व्यंग्य वलित कहि बैन ।
विव्रउक्ति दूजी कहत, जो कवि गुन गन ऐन ॥

शेष सभी मुख्याचार्यों ने इसी ही दूसरे रूप को दिखलाया है, और प्रथम रूप को छोड़ दिया है।

नोट—मम्मट, और विश्वनाथ ने भी इसे नहीं लिखा। यह विशेषतया श्लेष पर ही समाधारित है। किसी किसी ने इसे गूढोक्ति का ही एक विशिष्ट रूप माना है।

लोकोक्ति

जहाँ लोक-प्रवाद् (लोक में प्रचलित कहावत या मसल) का अविकल रूप से प्रयोग हो।

नोट:—इसके निम्न मुख्य भेद हो सकते हैं:—

१—शुद्धः—जहाँ लोक-प्रचलित कहावत को ज्यों का त्यों रखते हैं:—उसमें किसी प्रकार का विकार, परिवर्तन या हेरफेर नहीं आने देते।

२—परिष्कृताः—जहाँ प्रचलित कहावत को परिमार्जित करके (उसे सुन्दर साहित्यिक रूप देकर, भाव में कुछ भी विकार न पैदा करते हुए) रक्खा जाता है।

३—अनुकृताः—जहाँ प्रचलित कहावत का अनुकरण ही किया जाता है, तथा उसके आधार पर कोई नई कहावत सी रक्खी जाती है।

४—अनुवादिताः—जहाँ किसी कहावत का अनुवाद करके उसका भाव रख दिया जाता है और असली कहावत को सूच्य रूप में रक्खा जाता है।

५—उद्धृताः—जहाँ किसी अन्य भाषा की कहाव को अपनी भाषा में अनुवादित करके उद्धृत किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इसके दो और मूल एवं मुख्य भेद हो सकते हैं—

१—ग्राम्या या सर्वसाधारण :—जो जन साधारण या ग्रामीण जनों की बोली में ही प्रचलित होती है और उसी प्रकार कवियों के द्वारा काव्य में भी प्रयुक्त होती है।

२—साहित्यिकः—वह कहावत जो साहित्यिक भाषा में रहती तथा शिष्ट जनों के ही द्वारा व्यवहृत होती है।

३—स्वीकृताः—वह कहावत जो वास्तव में कहावत के समान लोक में प्रचलित नहीं होती, वरन् किसी अच्छे प्रतिष्ठित कवि या लेखक के वाक्यांश-रूप में ही रहती है और जिसे साहित्यिक (साहित्यज्ञ) एवं शिष्ट जनों के प्रयोग-बाहुल्य से कहावत का रूप प्राप्त हो जाता है तथा जो फिर कहावत के समान सर्वमान्य एवं प्रचलित हो जाती है। ऐसी कहावतों को " oft quoted " बहुधाप्रयुक्त कहते हुए कहावतों की कक्षा में स्थान दे दिया जाता है।

४—विलोम रूपा—वह कहावत जो किसी कहावत की प्रतिलोम हो।

५—रूप साम्याः—जिसका रूप देखने में कहावत ही का सा हो, किन्तु वह वस्तुतः कहावत न हो।

नोटः—ग्राम्य कहावतें भद्दी, अशिष्ट, और अश्लील भी होती हैं अतः उनके प्रयोग का साहित्य में निषेध है। जैसे 'नवा गुंडा कंडा कै दरपनी'। इनमें से चुन कर अच्छी एवं चोखी कहावतें कवि लोग ले लेते हैं या इन्हीं के आधार पर नई गढ़ लेते या उन्हीं को शिष्ट एवं परिमार्जित रूप में बना लेते हैं। वास्तविक ग्राम्य कहावतों का प्रयोग करना ग्राम्य दोष के अन्दर आता है।

हमारे हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से केशव और देव ने इसे नहीं उठाया, शेष आचार्यों में मतभेद सा है।

भिखारीदास ने लोकगति के अनुकूल कथन को, (शब्द जु कहिये लोकगति, सो लोकोक्ति प्रमान) मतिराम ने किसी कहावत के अनुकरण को (जहँ कहनावति अनुकरन, लोक उक्ति मतिराम). भूषण ने लोक प्रचलित कहावत ही को (कहनावति जो लोक की, लोक उकुति सो जान) जसवन्तसिंह ने वाक्य में लोकप्रवाद (क्या अर्थ ?) की झलक को और दूलह ने लोकाचार (क्या

अर्थ ?) के कथन को लोकोक्ति अलंकार में रक्खा है। शेष और आचार्यों ने भूषण का ही मत माना है, हाँ, लछिराम ने भिखारी दास का अनुकरण किया है। अप्पय जी ने लोकप्रवाद की अनुकृति को ही लोकोक्ति कहा है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसे अलंकार ही नहीं माना। वस्तुतः इसमें कोई विशेष चमत्कार भी नहीं रहता।

ध्यान रहे कि लोकोक्ति का प्रयोग मुख्यतः इन रूपों में भी हो सकता है।

१—अपने मुख्यार्थ (वास्तविक अर्थ) में—

यथा—सात पाँच की लाठियाँ, एक जने का बोझ।

२—अभीष्टार्थ या अन्य सूच्यार्थ में—यहाँ लोकोक्ति के वास्तविक अर्थ का प्राधान्य नहीं रहता वरन् उसका भाव ही चरितार्थ होता हुआ प्रधान रहता है, वह किसी इष्टार्थ की पुष्टि सा करता है तथा उसी की ओर संकेत भी करता है।

यथाः—खग जानै खग ही की भाषा॥

३—व्यक्त लोकोक्तिः—जहाँ कवि के द्वारा लोकोक्ति का होना स्पष्ट रूप से कह दिया जावे—

यथाः—लोकप्रवादः सत्योऽयं पंडितै समुदाहृतम्।
अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रियावापुरुषस्यवा॥

साँची भई कहनावति लोक की,
ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।

अव्यक्त लो०ः—जहाँ लोकोक्ति तो दी जावे किन्तु कवि के द्वारा उसका होना स्पष्ट रूप से न कहा जावे।

गुप्त या सूच्य लोकोक्तिः—जहाँ लोकोक्ति स्पष्ट रूप से न दी जावे, वह गुप्त रक्खी जावे, हाँ उसकी कुछ सूचना दी हुई हो।

छेकोक्ति

किसी लोकोक्ति में जहाँ कुछ अन्य अर्थ (अर्थान्तर) भी रहता है अर्थात् उसके गर्भ में लोकोक्ति के मुख्य एवं प्रचलित (व्यापक एवं साधारण) अर्थ के अतिरिक्त कोई एक विशिष्ट एवं अन्य अर्थ भी झलकता है और वह प्रसंगानुकूल होकर वहाँ चरितार्थ भी होता हो। यह अर्थान्तर सूच्य दशा में रहता है तौ भी इसका सम्बन्ध ध्वनि एवं व्यंग्य से प्रगाढ़ रूप में नहीं होता।

यथाः—जानतु है जु भुजंग ही, भुवि भुजंग को खोज॥

नोटः—इसे यथार्थ में लोकोक्ति का ही एक विशेष रूप कहना चाहिये। हमारे मुख्याचार्यों के मत भिन्न भिन्न प्रकार के भावों को दिखलाते हैं:—

१—लोकोक्ति में जहाँ उपाख्यान (उपखान) भी होता है, वहाँ छेकोक्ति मानी जाती है। भिखारीदास और लछिराम का भी यही मत है।

२—जहाँ लोकोक्ति का प्रयोग उपमान के रूप में किया गया हो, वहां छेकोक्ति होती है। यह मत भूषण का है।

३—जहाँ लोकोक्ति (प्रचलित कहावत या कहनावति का अनुकृत रूप) कुछ और अर्थ (अर्थ विशेष या सांकेतिक भाव) लिये हुये हो, वहां छेकोक्ति जाननी चाहिये। यह विशिष्टार्थ पूर्णतया स्पष्ट न हों, वरन् लोकोक्ति में ही गर्भित हो या उसके भीतर से झलकता हो और उसकी कल्पना भी की जा सके तथा वह वहाँ पर प्रसंगानुकूल होकर चरितार्थ भी होता हो। यह मत मतिराम, दूलह, पद्माकर और अन्य आचार्यों का है और अप्पय जी के मत पर आधारित है।

४—जहाँ लोकोक्ति कुछ अर्थ के साथ हो और उसका सार्थकता के साथ प्रयोग किया गया हो, वह अपने मूल या स्वाभाविक अर्थ के ही साथ व्यवहृत हुई हो अथवा किसी अन्य अर्थ या अभिप्राय के साथ हो। यह मत जसवन्तसिंह, और गुलाब कवि आदि का है। मम्मट और विश्वनाथ के समान केशवदास एवं देव जी ने इसे नहीं लिखा।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह सब प्रकार लोकोक्ति के ही आधार पर समाधारित है। ऐसी दशा में इसे यदि हम एक पृथक् अलंकार न मान कर लोकोक्ति ही का एक भेद मान लें तो कोई हानि नहीं। साथ ही इसको हम भिन्न भिन्न मतों के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में यदि विभक्त कर दें तो भी अच्छा है। यही बात हमारी समझ में प्रायः उन सभी अलंकारों में भी की जा सकती है जिनमें मतान्तर हैं। इस प्रकार करने से मतान्तरों का झगड़ा ही मिट जा सकता है। हाँ अलंकारों के रूपों की संख्या में अवश्यमेव कुछ वृद्धि हो जावेगी, किन्तु इससे कोई विशेष क्षति नहीं, वरन् अलंकार-शास्त्र में विकास-वैभव की ही पूर्ति एवं स्फूर्ति हो जावेगी और यह अच्छी बात है।

वक्रोक्ति

जहाँ कोई वाक्य किसी अन्य अभिप्राय से अर्थान्तर के साथ कहा जावे और उसका स्पष्टार्थ कुछ दूसरा ही हो।

नोटः—यह शब्द योगिक शब्द है—वक्र = टेढ़ी + उक्ति = कथन अर्थात वह कथन जो सीधा सादा एवं स्पष्ट न हो वरन् टेढ़े ढंग से कहा गया हो। इस प्रकार की उक्ति में चमत्कार-सौन्दर्य इसी बात पर रहता है कि बात साधारण रूप एवं ढंग के साथ नहीं कही

जाती वरन् एक असाधारण (विचित्र) और घुमाव फिराव वाले रूप एवं ढंग से कही जाती है।

इस अलंकार का बहुत बड़ा प्राधान्य माना गया है, क्योंकि इसमें कवि की उस प्रतिभा का चमत्कार दिखलाई पड़ता है, जिसके द्वारा वाक्य-रचना में चातुरी के साथ सौंदर्य एवं माधुर्य आ जाता है तथा उसमें वैचित्र्य के मनोरंजक कौतुक एवं कुतूहल का प्रकाश होता है। यह सब प्रकार भावों एवं विचारों को भाषा में विचित्र ढंग के साथ अनुवादित करने की कला-कुशलता पर ही समाधारित है। कवि, वास्तव में इसी के सुन्दर उपयोग से अपने काव्य में समाकर्षक एवं मनोरंजक चातुर्य-चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। यों तो भाव एवं विचार भिन्न २ रसों एवं मनोवेगों (Emotions) से संयुक्त हो कर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में उठते ही हैं और वह उन्हें किसी न किसी प्रकार अपनी भाषा में अनुवादित ही कर लेता है, किन्तु एक चतुर कवि उन्हीं को साधारण रूप में न प्रकाशित करके एक असाधारण एवं विलक्षण ढंग के साथ प्रगट करता है और इस प्रकार अपने प्रकाशन-वैचित्र्य से औरों के हृदय में कुतूहल उत्पन्न कर उन्हें आकृष्ट करता हुआ मनोरंजन देता है और अपने काव्य में चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण कला-कौशल की प्रतिभा का सौंदर्य रख देता है।

इसकी प्राधनता को बढ़ाते हुये कुछ प्राचीन (संस्कृत के) आचार्यों ने इसे समस्त अलंकारों का मूलाधार भी मान लिया है, और इससे हीन काव्य को काव्य या उत्तम काव्य ही नहीं माना। वक्रोक्तिजीवितकार ने इसे पूर्ण प्राधान्य दिया है और इसके सिद्धान्त को साहित्य (काव्य-साहित्य) में एक स्वतंन्त्र एवं मुख्य स्थान प्रदान करा दिया है। उनके मत का सारांश यही है कि

किसी भी प्रकार का काव्य हो वह वक्रोक्ति के बिना सूना ही रहता है। कोई भी बात (भाव एवं विचार) कैसी ही सरस (रस-पूर्ण) क्यों न हो, वाक्य-विन्यास, शब्द-संगठन एवं पदलालित्यादि भी कैसे ही अच्छे क्यों न हो किन्तु यदि वह वक्रोक्ति (चमत्कृत ढंग) के साथ नहीं व्यक्ति किया गया है तो वह नितान्त ही काव्य से शून्य एवं फीका रहता है।

दंडी जी ने भी वक्रोक्ति को कतिपय अलंकारों का मूलाधार माना है (और कुछ अलंकारों को स्वभावोक्ति पर भी आधारित दिखलाया है) और कुन्तल ने भी इसे वैचित्र्य एवं विच्छित्ति की संज्ञा देते हुये प्रधानता दी है। मम्मट और आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इसकी सत्ता एवं महत्ता मानी है। भामः के समय से लेकर अब तक वक्रोक्ति को किसी भी मुख्याचार्य ने नहीं छोड़ा, प्रायः सभी ने इसकी महत्ता मानी है। कह सकते हैं कि ध्वनि और व्यंग्य भी एक प्रकार से इसी के आधार पर स्थित और इसी के अन्तर्गत हैं।

भामः ने प्रथम ही इसकी महत्ता देख कर इसे प्रधानता दी थी और इसे कलापूर्ण रचना का मूलाधार माना था।

कुंतल के मतानुसार वक्रोक्ति (भाव-भंगिमा या विच्छित्ति) कवि के भावाभिव्यंजन (भाव-प्रकाशन) की वह चमत्कृत एवं विचित्र रीति (या ढंग) है जो विचाराभिव्यंजन के साधारण ढंग से सर्वथा विलक्षण एवं पृथक् होती है। इसके द्वारा कवि साधारण भाषा को असाधारण एवं विचित्र भाषा के रूप में कवि-प्रतिभा-जन्य वैलक्षण्य के साथ परिवर्तित कर देता है।

इसे शाब्दी एवं आर्थी (शब्दात्मक या शब्द सम्बन्धी, तथा अर्थात्मक एवं अर्थ सम्बन्धी) दो भागों में (रूपों में) विभक्त किया है और सभी अलंकारों का मूलाधार माना है।

वामन ने इसे शब्दालंकार न मान कर (जैसा हमने किया है) अर्थालंकार माना है और कहा है कि लक्षणा के ऊपर समाधारित वाक्य जहाँ साधारण ढंग पर न कहा जाकर चमत्कृत एवं अलंकृत ढंग से व्यक्त किया जाता है वहाँ वक्रोक्ति होती है। भामः ने भी यही भाव रक्खा है और कहा है कि इसके द्वारा एक भाव अपने असली एवं साधारण रूप में न व्यक्त किया जाकर एक विचित्र, चमत्कृत एवं विलक्षण ढंग या रूप में कुछ घुमाव फिराव के साथ (जिसके कारण वह दूसरा एवं परिवर्तित जान पड़ता है) प्रगट किया जाता है। कुंतल ने इसी को परिवर्धित कर इसके आधार पर अलंकारों की अनोखी अट्टालिका बनाई है।

इन लोगों ने वक्रोक्ति को इतनी प्रधानता दी है कि इसको समस्त अलंकारों का आधार एवं काव्य का मुख्य सौंदर्य-सार कहा है और बिना इसके काव्य को सत्काव्य ही नहीं माना।

जिन अलंकारों में वक्रोक्ति की पुट नहीं मिलती उन्हें इन लोगों ने अलंकारों की श्रेणी में नहीं रक्खा और उनकी सत्ता भी नहीं मानी, यथा, हेतु, सूक्ष्म, लेश और स्वभावोक्ति आदि अलंकार। भामः ने अतिशयोक्ति में भी वक्रोक्ति की आभा मानी है और अपने ग्रंथ में अतिशयोक्ति तक के अलंकारों के लिये कहा है, "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः"।

यद्यपि स्वभावोक्ति में सब प्रकार स्वाभाविक एवं वास्तविक वर्णन रहता है, तो भी कह सकते हैं कि उसमें भी वक्रोक्ति की कुछ न कुछ पुट अवश्य रहती है, क्योंकि कवि वस्तुओं एवं पदार्थों को उसी दृष्टि एवं विचार से नहीं देखता या विचारता जिसके द्वारा उसे साधारण जन देखते या विचारते हैं। कवि का देखना, विचारना एवं कल्पना करना दूसरे ही प्रकार का होता है, यह सभी जानते एवं मानते हैं। ऐसी दशा में जब उसके देखने,

विचारने तथा कहने में साधारण वैचित्र्य होता ही है तब स्वभावोक्ति कब वक्रोक्ति से रहित रह सकती है।

कवि की लोकातिक्रान्त-गोचरता (वस्तुओं को, जैसी वे लोक में हैं, जैसा उनका ज्ञान एवं अनुभव साधारणतः होता है तथा जैसी वे जानी, मानी एवं अनुमानी जाती हैं और जिस सम्बंध में वे हमारे साथ साधारणतः खड़ी होती हैं उसके विपरीत एवं पृथक् रूप, रंग एवं ढंग में उन्हें देखना, विचारना, जानना या अनुमानना) जो काव्य-सौंदर्य एवं सौख्य का एक मुख्य तत्व है और जो कवि की लोक सम्बंधिनी दृष्टि तथा उसके लौकिक संबंध एवं भाव से पूर्णतया पृथक है, काव्य में वक्रता एवं विचित्रता का प्रादुर्भाव करती है।

कुंतल और भामः के विचारों से रुद्रट के समान यह भाव भी झलकता है कि अतिशयोक्ति ही सब अलंकारों का आधार है और वक्रोक्ति के अन्दर भी अतिशयोक्ति की सत्ता रहती है यद्यपि एक विशिष्ट ढंग के साथ।

दंडी ने भी यही भाव सूचित किया है जब उन्होंने अतिशयोक्ति को सर्वालंकारों का आधार कहा है। उनके टीकाकार का भी यही भाव है ('अलंकारान्तराणामपि एष—अतिशयोक्तिः—उपकारी-भवति, अतिशय जननत्वम् बिना भूषणता न स्यात् इत्यभिप्रायः') आनन्दवर्धन एवं मम्मट ने भी अतिशयोक्ति को प्रधान माना है और समस्त अलंकारों का प्राण रूप कह कर सब में समता के साथ व्यापक दिखलाया है ('सर्वालंकारेषु सामान्यरूपम्, प्राणत्वे-नावतिष्ठते"—मम्मट)—

भामः के मतानुसार वक्रत (वक्रोक्ति-सार) लोकातिक्रान्त गोचरत्व में ही है (अतः यह अतिशयोक्ति में भी जिसमें यह लोका-

तिक्रान्त गोचरता रहती है—"निमित्तो वचोयत्तु लोकातिक्रान्त गोचरम्"—अवश्य रहता है) जो काव्य एवं कवि के कौशल का मूल तत्व है। इस प्रकार इसको व्यापक एवं विस्तृत रूप दिया गया है। हमारे हिन्दी के आचार्यों ने इसको इतना नहीं बढ़ाया, वरन् इन सब विवादों को नितान्त ही छोड़ दिया है। यह अवश्य है कि प्रायः सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को लिया है।

केशव ने इसे युक्ति (उक्ति ?) के अन्दर रख कर यों दिखलाया है—

> "केशव सूधी बात में, वरणत टेढ़ो भाव।
> वक्रोकति तासों कहत, सदा सबै कविराव॥"

इससे स्पष्ट है कि वाक्य तो बहुत सीधा और सरल होता है किन्तु उसका भाव टेढ़ा होता है, अतः यहाँ चमत्कार अर्थ या भाव-भंगिमा में रहता है न कि वाक्य-चातुर्य में—(किन्तु संस्कृताचार्यों का मत है कि भाव साधारण भी हो तो भी उसे एक विचित्रता के साथ प्रकाशित करना वक्रोक्ति का कार्य है)

भिखारीदास के अनुसार वक्रोक्ति वहाँ होती है जहाँ व्यर्थ ही में काकु के द्वारा अन्य अर्थ की तर्कना या कल्पना की जावे (व्यर्थ काकु ते अर्थ को, फेरि लगावै तर्क")

इसे श्लेष तथा काकु पर आधारित करते हुये अन्य सभी आचार्यों ने (इसके दो रूप दिखलाते हुये, जैसा अप्पय, मम्मट, एवं विश्वनाथ ने भी किया है) इसके द्वारा अर्थ का बदल कर दूसरा ही हो जाना प्रतिपादित किया है। श्लेष या काकु (स्वर एवं गति-परिवर्तन या भंगिमा) से जहाँ अन्य अर्थ की कल्पना हो वहाँ वक्रोक्ति कहना चाहिये, यह सभी आचार्यों का साधारण मान्य एवं व्यापक भाव है।

देव ने वक्रोक्ति का प्राधान्य यों प्रगट किया है कि इससे काव्य उत्तम हो जाता है।

("काकुवचन, अश्लेष करि, और अरथ ह्वै जाय।
सो वक्रोक्ति सुबरनिये, उत्तम काव्य सुहाइ॥"
—भा० वि० १०७)

अतः स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के दो मुख्य भेद हैं :—

१—श्लेष (श्लिष्ट) वक्रोक्ति—जहाँ श्लिष्ट पदों के कारण अर्थान्तर या अन्य अर्थ की कल्पना हो।

यथाः—गिरजे ! कित भित्तुक गयो, कह्यो कि वलि ग्रह जाव।
अरी कहाँ वृषपति, कह्यो, श्रीजू ब्रज-वन जाव॥

२—काकु वक्रोक्ति (काकूक्ति) :—जहाँ काकु के द्वारा (ध्वनि एवं गति की भंगिमा से) किसी अन्य जन के कहे हुये वाक्य या उक्ति से निषेध के साथ व्यक्त अभिप्राय का अन्य अभिप्राय से अन्य अर्थ लिया जावे।

जहाँ अपनी ही उक्ति में काकुध्वनि होती है वहाँ वक्रोक्ति न हो कर गुणी भूत व्यंग्य ही होता है।

"सत्य वचन को काकु ते, जहँ निषेध करि वेस।
अलंकार काकोक्ति तहँ, वरनत सुकवि नरेस॥
—र० क० पृ० २६६

यथाः—कारज बस हरि ने कियो, द्वारावति कौ गौन।
भौन न ऐहैं का सखी, मधु में लहि मधु पौन॥

श्लिष्ट वक्रोक्ति के, श्लेष के दो भेदों के आधार पर दो और रूप हो सकते हैं :—

१—सभंगपद श्लिष्ट व० :— २—अभंगपद श्लिष्ट वक्रोक्ति :—

नोटः—काकु संबन्धी वक्रोक्ति को तो शब्दालंकार और श्लेष सम्बन्धी को अर्थालंकार के रूप में माना गया है।

नोट—"लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य-सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्य पूर्वो विधीयते॥

बिना वक्रोक्ति के आप काव्य को काव्य ही नहीं मानते। आप का विचार है कि काव्य में वक्रोक्ति ही प्रधान है :—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि-व्यापार शालिनी।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं च तद्विदाह्लादकारिणि॥

वक्रोक्ति के विषय में आप लिखते हैं:—

"शब्दोविवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्द सुन्दरः॥
उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितरूच्यते॥

आपने इसे इतनी प्रधानता दी है कि अनुप्रासों का नाम आपने "वर्ण विन्यास वक्रत्व" रक्खा है और फिर आगे वक्रोक्ति को बढ़ाते बढ़ाते वाक्य और वस्तु के साथ रख कर "वाक्य वैचित्र्य वक्रता" और 'वस्तुवक्रता' दो विभाग अलग कर दिये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन अपने चतुर्थ उन्मेष में दिया है।

आपने ध्वनि और व्यंग्य को भी वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत माना है। भामः ने वक्रोक्ति को (इसे आकर्षक वैचित्र्य एवं भावाभिव्यंजन का मनोरंजक चातुर्य-चमत्कार मान कर) समस्त अलंकारों का मूलाधार सा ही माना है। वक्रोक्ति को एक विशेष एवं स्वतंत्र अलंकार के रूप में नहीं लिखा। जब इसकी प्रधानता बहुत बढ़ गई तब जान पड़ता है अन्य अलंकार वादी आचार्यों ने इसे भी एक विशेष अलंकार के रूप में स्वतंत्र स्थान दे दिया है।

रुद्रट ने इसे व्याज वैचित्र्य वाणी कह कर श्लेष और काकु के ऊपर आधारित कर दिया है।

स्वभावोक्ति

जहाँ पर वर्ण्य-विषय का प्राकृतिक (नैसर्गिक या स्वाभाविक) वर्णन, वास्तविकता एवं सरलता के साथ हो।

नोटः—इसमें सुन्दरता यही है कि इसके द्वारा वर्ण्य वस्तु या विषय का सच्चा एवं स्वाभाविक (यथातथ्य) वर्णन होता है, उसमें किसी प्रकार भी अलंकारता नहीं रहती, चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण कला-कौशल को बचाते हुये वर्णन करने की कला में कुशलता दिखलाना ही इसकी सफलता है और यही प्रशस्त प्रतिभा की परख है। इस स्वाभाविकता में भी, यह ध्यान रहे, एक विशिष्ट प्रकार का सौंदर्यानंद एवं कौशल रहता है।

यद्यपि इसमें स्वाभाविकता का बहुत ही सर्व साधारण प्रदर्शन होता है, तौ भी कह सकते हैं कि इसमें भी अलंकारता या कला-चातुरी आवश्य रहती है और इसके द्वारा किये गये स्वाभाविक वर्णन में अवश्य ही कुछ कवि-प्रतिभा-जन्य कला-कौशल का चमत्कार रहता है, क्योंकि कवि की स्वाभाविक दृष्टि भी सर्वदा सभी प्रकार एवं सब कहीं जन साधारण की स्वाभाविक दृष्टि से कहीं विशेष विचित्र होती है। कवि में लोकोत्तरगोचरता अवश्य ही रहती है, और यही काव्य की आत्मा भी है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य, जिनके हृदय में कवित्व नहीं तथा जिनके मस्तिष्क में कवि-कल्पना एवं प्रतिभा की स्फूर्ति नहीं, अपने चमत्कार-हीन विचारों को अत्यंत साधारण ढंग एवं भाषा में प्रकट करते हैं, जब उसी प्रकार कोई कवि भी करता है तब स्वभावोक्ति की उत्पत्ति होती है। इससे विचारों एवं भावों को साधारण एवं स्वाभाविक ढंग के साथ सरल स्पष्ट भाषा में अनुवादित करने ही का विशेष प्राधान्य रहता है।

दंडी ने इसे बहुत चाहा एवं सराहा है, किन्तु भामा एवं कुन्तल आदि आचार्य इसमें अलंकारता ही नहीं मानते और इसे वे अलंकारों की कक्षा में कोई भी स्थान नहीं देते। उनके मतानुसार, चूँ कि इसमें वक्रता (वैचित्र्य, विच्छित्ति या चमत्कृत वैलक्षण्य) नहीं होती, जो कि सर्वालंकारों का मूलाधार है, अतः यह अलंकार ही नहीं है। इसमें असाधारण वैचित्र्य कलापूर्ण चमत्कार एवं अलंकृत सौंदर्य के साथ चातुर्य नहीं रहता वरन् अनलंकृत, स्वाभाविकता एवं सरल साधारणता का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है।

भामः आदि के अनुसार इस प्रकार की अनलंकृत स्वाभाविकता, सरल साधारणता एवं स्पष्टता काव्य को अरोचक बनाती है और उससे सदैव दूर ही रक्खी जाती है। कवि को सदैव ही अपने विचारों, भावों एवं कल्पनाओं को लोकोत्तरगोचरता के साथ, विचित्र ढंग से असाधारण रंग देते हुये, कला-कौशल-पूर्ण चातुर्य-चमत्कार की पर्याप्त पुट लगा कर प्रकट करना चाहिये, जिससे उनमें समाकर्षक सौंदर्य एवं मनोरंजकता आ जावे तथा वे नैत्तिक एवं साधारण जीवन की छाया से सर्वथा बाहर रहें, उनमें अलौकिता का अपूर्वाभास ही छिटका रहे तथा वे असाधारण एवं विलक्षण से ज्ञात हों।

इस विचार को मानते हुये भी दंडी और उत्तरकालीन अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलंकार माना है और इसमें स्वाभाविकता, साधारणता का सारल्य, और स्पष्टता के कारण एक विचित्र तथा विशिष्ट प्रकार के मनोरंजक सौंदर्य व कलाकौशल की सत्ता एवं महत्ता स्वीकार की है। वास्तव में यह बात एक कवि-कल्पना एवं प्रतिभापूर्ण कलाकुशल कवि के लिये बहुत कठिन है कि वह अपने काव्य में कला के चातुर्य चमत्कार-पूर्ण

कौशल-वैचित्र्य को किसी भी प्रकार न आने दे। इस कार्य के सुसम्पादन में भी एक विशेष प्रकार का कौशल रहता है। इस विचार से यह एक मुख्य अलंकार ठहराया गया है।

अलंकार शास्त्र के तृतीय विकास-काल में ही इसकी सत्ता एवं महत्ता स्थापित हुई थी। वाणभट्ट ने इसका उल्लेख एवं प्रयोग किया है। इसको जाति की संज्ञा देते हुये कुछ आचार्यों ने 'आद्यालंकृति' या स्वाभाविक मूल अथवा प्रारंभिक अलंकार माना है।

इसी अलंकार की विद्यमानता ने संस्कृत एवं भाषाकाव्य तथा कवियों का इस तीव्रालोचना से बचा लिया है कि इन दोनों भाषाओं के काव्यों एवं कवियों में स्वाभाविक (प्राकृतिक या नैसर्गिक) वर्णन का अभाव है। यह अवश्य है कि इसकी ओर आचार्यों ने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया, और इसको स्थापित करके बिना विकासित किये ही छोड़ दिया है। दंडी ने इसे और वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूलाधार माना है और इन्हीं के आधार पर उनको दो श्रेणियों में विभक्त किया है।

हिन्दी के प्रायः सभी मुख्याचार्यों ने इसे उठाया है। किन्तु इसके भिन्न भिन्न लक्षण दिये हैं:—

केशव ने इसमें रूप-गुण के यथार्थ वर्णन का ही प्राधान्य माना है "जाको जैसो रूपगुण, कहिये तेही साज।" क० प्रि० पृ० ६७।

भिखारीदास ने इसके ३ भिन्न भिन्न लक्षण तीन भिन्न भिन्न स्थानों में दिये हैं :—

१—जहाँ सत्य ही सत्य वर्णन हो। (क० नि० १७१)

२—किसी वर्ण वस्तु के यथार्थ रूप और गुण का वर्णन हो। (क० नि० १७१)

३—जहाँ सीधी सीधी बात कही जावे (क० नि० १७१)

नोट—इससे स्पष्ट है कि आपने स्वाभावोक्ति के ३ रूप या भेद माने हैं, तथा दूसरा रूप केशव के ही समान रक्खा है।

मतिराम और देव ने वास्तविक स्वभाव के यथार्थ वर्णन पर ही सारा भार एवं बल रक्खा है।

वस्तु की जाति और उसके स्वभाव अथवा उसकी जाति के या जातीय स्वभाव का यथार्थ वर्णन ही स्वभावोक्ति सूचक है, इस लक्षण को भूषण, जसवन्तसिंह, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह और पद्माकर आदि ने दिखलाया है और यों अप्पय जी का अनुकरण किया है।

लछिराम ने रूप, गुण और स्वभाव के यथार्थ प्रदर्शन को लेते हुये केशव, दास, मतिराम और देव के लक्षणों का एकीकरण सा किया है।

हमारा विचार यह है कि स्वभावोक्ति की व्यापक परिभाषा यों देते हुये—जहाँ वर्ण्य विषय का साधारण, सत्य, स्पष्ट एवं स्वाभाविक चित्रण या प्रदर्शन किया जावे, वहाँ स्वाभावोक्ति मानना चाहिये—इसके भिन्न भिन्न रूप उक्त लक्षणों के अनुसार या उनके आधार पर कर लेना उचित है। इस प्रकार इसके निम्न रूप हो जावेंगे—

१—किसी विचार या भाव (कल्पना एवं बात) को बिना किसी प्रकार के चातुर्य-चमत्कार, कला-कौशल पूर्ण वैचित्र्य या हेर फेर के सीधे सीधे रंग-ढंग तथा सीधी सादी भाषा में स्वाभाविकता, साधारण सरलता एवं स्पष्टता के साथ रखना।

२—किसी वर्ण्य विषय का यथार्थ एवं सत्य वर्णन वास्तविकता के साथ करना तथा कवि-कल्पना एवं प्रतिभा की पुट न लगाना।

३—वर्ण्य विषय के रूप व गुण, का सच्चा वर्णन करना।

४—वर्ण्य वस्तु के जाति का वर्णन सत्यता से करना।

५—वर्ण्य वस्तु के सत्य स्वभाव का सत्य वर्णन करना।

६—किसी के गुण, कर्म, स्वभाव एवं जाति का यथार्थ चित्रण करना।

अब उक्त भेदों के देखने से यह स्पष्ट है कि प्रथम दो भेद तो भाषा एवं शैली से सम्बन्ध रखते हैं तथा उनके ४ मुख्य गुणों—स्वाभाविकता, साधारणता, स्पष्टता एवं सत्यता (सरलता युक्त) के परिपोषक हैं और रचनात्मक कला के सम्बन्धी हैं। शेष सभी रूपों का सम्बन्ध वर्ण्य-विषय से ही है न कि वर्णन शैली और भाषा से। इस विचार से इसके दो मुख्य भेद यों कर सकते हैं:—

१—वर्णनात्मक—जिसमें भाषा एवं शैली के ऊपर ध्यान दिया जाता है।

२—वर्ण्य विषयात्मक—जिसमें वर्णनीय विषय (वर्ण्य वस्तु) के ऊपर दृष्टिपात किया जाता है।

इस प्रकार देखने से यह अलंकार एक प्रधान एवं मूल अलंकार के रूप में दिखलाई पड़ता है और काव्य के दोनो तत्वों (वर्ण्य विषय तथा वर्णन शैली एवं भाषा) पर प्रकाश डालता है।

मम्मट ने इसे संकीर्णरूप में रक्खा है और केवल विवेक-रहित पशु पक्षी आदिकों (डिम्भादिकों) के क्रिया और रूपादि के यथार्थ वर्णन पर ही ज़ोर दिया है। विवेकयुक्त मनुष्यादि के रूप एवं गुणादि के यथार्थ वर्णन को इसमें नहीं रक्खा, किन्तु टीकाकार का मत यह है कि डिम्भादि पद केवल उपलक्षण ही है और यह सूचित करता है कि किसी भी वर्ण्य वस्तु के साधारण एवं स्वाभाविक धर्मों

(लक्षणों रूप, गुण, कर्म स्वभावादि) के यथार्थ वर्णन में स्वाभावोक्ति मानना चाहिये ("स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूप वर्णनम्"—मम्मट, "डिम्भादेरित्यादिना विवेक-शक्ति रहितानामृतिर्यगादीनां ग्रहणम्, वस्तुतः उपलक्षणञ्चैतत् एवं क्रिया रूपेत्यपिउपलक्षणम् तेनयस्य कस्यचित् वस्तुनोऽसाधारण धर्मोक्तिरेव स्वभावोक्तिरिति")

विश्वनाथ ने भी यही भाव रक्खा है परन्तु यह विशेषता की है कि डिम्भादि को कविमात्र से जानी हुई अकृत्तिम चेष्टाओं एवं क्रिया-रूपादि को लेना चाहिये यों और लिखा है। ऐसा करने से इसमें कला एवं अलंकारत्व की पुट आ जाती है।

नोटः—किसी किसी ने इसके दो रूप यों दिये हैं:—

१—सहजः—जहाँ जाति एवं अवस्थादि के अनुकूल जिसके जैसे स्वाभाविक गुण, कर्म एवं स्वभाव हों, उनका वैसा ही वर्णन करना।

धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति विहंसि गोद बैठाये॥

२—प्रतिज्ञाबद्धः—किसी के कोई स्वाभाविक गुण आदि जहाँ साधारणतः न प्रगट हो कर प्रतिज्ञादि के समय प्रगट हों, और उनका वैसा ही वर्णन किया जावे।

शिव संकल्प कीन्ह मन माँहीं। यहि तन भेंट सती सन नाहीं।
जो सत संकर करैं सहाई। तदपि हतौं रन राम दुहाई॥

अत्युक्ति

जहाँ पर शूरता एवं उदारतादि का बहुत बढ़ा कर मिथ्या वर्णन हो, वहाँ अत्युक्ति होती है।

यह शब्द यौगिक है अति = बहुत + उक्ति = कथन या वर्णन। उक्त लक्षण से स्पष्ट है कि इसकी सीमा को संकीर्णता दे दी गई है वैसे तो इसकी संज्ञा के अनुसार इसकी परिभाषा को भी बहुत विस्तृत एवं व्यापक होना चाहिये था। उदात्त और अतिशयोक्त्यादि अन्य अलंकारों ने इसके कुछ अंशों का अपहरण सा कर लिया है।

काव्यप्रकाश में इसे स्वतन्त्र अलंकार ही नहीं माना गया। कुछ आचार्यों का मत है कि यह स्वयमेव उदात्तालंकार के अन्तर्गत है। अप्पय जी ने समृद्धि के अतिशय वर्णन में उदात्त और सदुक्ति, एवं सत्य और सम्भाव्य वर्णनातिशय में असम्बन्धातिशयोक्ति दिखाई है और इस प्रकार इनको पृथक् पृथक स्थान दिया है।

इनके विचार से अत्युक्ति के वर्णन में सम्भाव्यता, सत्यता एवं सीमाबद्धता न होनी चाहिये वरन् अनृतता (असत्यता) असम्भाव्यता और असीमता या विस्तृता ही होनी चाहिये। साथ ही उसमें एक विशेष प्रकार के अद्भुत-वैचित्र्य की पुट होनी चाहिये।

हमारे हिन्दी अलंकाराचार्यों ने इसके भिन्न भिन्न लक्षण दिये हैं। केवल केशव और देव ने इसकी गणना अलंकारों में नहीं की। भिखारीदास ने इस अक्रमातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति के बीच रखा है और यह सूचित किया है कि कदाचित् यह अतिशयोक्ति का ही एक रूप विशेष है। इस लक्षण में, उनका कथन है, जहाँ किसी योग्य को अधिक योग्य ठहराया जावेगा जहाँ किसी की वास्तविक योग्यता (क्षमता) से भी अधिक योग्यता (क्षमता) उसमें दिखलाई जावे वहाँ अत्युक्ति मानना चाहिये।

"जहाँ दीजिये जोग्य के अधिक जोग्य ठहराय"

मतिराम ने सुन्दरतादि के मिथ्या एवं अधिक वर्णन में, भूषण और जसवन्तसिंह ने रूप के अधिक वर्णन में अत्युक्ति मानी है। लछिराम ने जसवन्त के समान रूप के अतिशय वर्णन में तथा गोकुल, गोविन्द, दूलह, और पद्माकरादि अन्य आचार्यों ने शूरता और उदारता के अद्भुत तथा मिथ्योत्कर्षपूर्ण वर्णन में उसकी सत्ता दिखलाई है। अब स्पष्ट है कि इसके इस प्रकार ३ भेद या रूप हो जाते हैं:—

१—शूरता और उदारता के अद्भुतातिशय मिथ्या वर्णन हों।

२—योग्यता का वर्णनाधिक्य हो।

३—सौंदर्य का अतिशय वर्णन हो या रूप का अतिशय या अधिक वर्णन हो।

हमारा विचार तो यों है कि जहाँ वर्ण्य वस्तु के गुण, कर्म, एवं स्वभावादि का इतना अधिक वर्णन हो कि उसमें सत्यता, स्वभाविकता, और सम्भाव्यता न दिखलाई पड़े वरन् असत्यता कृत्रिमता और असम्भाव्यता झलकती हो, वहाँ अत्युक्ति मानना चाहिये। उक्त परिभाषाओं एवं मतों से यह स्पष्ट है कि इसका प्रयोग विशेष रूप से ही क्या वरन् सब रूप से (सब प्रकार) ही सद्गुणों के उत्कर्षार्थ ही किया जाता है और इसके द्वारा सदा प्रशंसा ही सी की जाती है। हमारी समझ में इसका प्रयोग इसके ठीक विपरीत ढंग पर भी हो सकता है तथा हुआ भी है और इसके द्वारा दुर्गुणों का भी उत्कर्ष दिखलाया गया है।

इस विचार से इसके दो मुख्य भेद यों हो जावेंगे।

(क) सुलक्षणात्मकाः—इसके कई भेद हो सकते हैं:—

१—रूपात्युक्ति, २—वर्णात्युक्ति, ३—परिमाणात्युक्ति (आकारात्युक्ति) ४—संख्यात्युक्ति, ५—सुगुणात्युक्ति, ६—अकर्मादि सूचकात्युक्ति।

(ख) कुलक्षणात्मका—यह उक्त भेद का उल्टा रूप है और सब प्रकार के बुरे धर्म, कर्म, गुण कर्म स्वाभावादि का अतिशय वर्णन देता है।

नोटः—इस अलंकार का प्रयोग सभी रसों में अच्छी तरह होता या हो सकता है। इसके १—प्रशंसात्मक और २—निन्दात्मक ये रूप भी उक्त भेदों के आधार पर किये जा सकते हैं। साथ ही इसका सम्बन्ध प्रायः सभी अलंकारों से है और सभी के साथ इसे हम रख सकते हैं। हाँ ऐसे अलंकारों में इसका समावेश नहीं किया जा सकता जैसे स्वभावोक्ति आदि, क्योंकि उसमें सत्यता, स्वाभाविकता और सम्भाव्यता का ही प्राधान्य रहता है। अन्यान्य अलंकारों के साथ इसका योग करने से इसके अनेकानेक रूप हो सकते हैं। विस्तार-भय से हम नहीं देना चाहते। इसके और अलंकारों के योग से मिश्रालंकार ही बनेंगे।

अत्युक्ति—

१—शुद्धा—(अ) सुलक्षणा और प्रशंसात्मका

(ब) कुलक्षणा और निन्दात्मका

२—संकीर्ण—अन्य अलंकारों के साथ में

उपमात्युक्ति—

रूपकात्युक्ति—

एवं अन्य और भी—

निरुक्ति

अभीष्ट भाव के आधार पर जहाँ किसी नाम या शब्द के साथ किसी अन्य अर्थ का (जो उसके वास्तविक अर्थ से सर्वथा भिन्न है) आरोपण किया जाता है, और उस अन्य कल्पित अर्थ के आरोपण की पुष्टि के लिये कुछ कारण भी दिया जाता है, वहाँ निरुक्ति अलंकार माना जाता है।

हिय हरि लीन्हें सबन के, रूप दिखाइ ललाम।
ऊधव याही ते परयो, साँचो ही हरि नाम॥

केशव और देव ने, मम्मट और विश्वनाथ के समान, इसको स्थान नहीं दिया। भिखारीदास ने इसे यों लिखा है—

"कहुं वाक्यार्थ समर्थिये, कहुँ शब्दार्थ सुजान।
काव्यलिंग कवि जुक्ति गनि, कहैं निरुक्ति न आन॥
है निरुक्ति जहँ नाम को, जोग कलपना आन॥"

अर्थात् जहाँ किसी नाम से संयोगवश, अन्य अर्थ की कल्पना की जावे, अथवा नाम को देखते हुये संयोगानुसार उसमें दूसरे अर्थ की सत्ता दिखाई जावे। काव्यलिंग में जब कवि किसी युक्ति का समावेश कर देता है तब निरुक्ति की उत्पत्ति हो जाती है। इसके दो रूप होते हैं:—

१—जहाँ वाक्य के साथ अर्थान्तर का समर्थन हो।

२—जहाँ शब्द में ही अन्यार्थ की कल्पना हो। अर्थात् यह (१) शब्दगता एवं (२) वाक्यगता दो प्रकार की है।

मतिराम, भूषण, जसवन्त, दूलह, पद्माकर एवं लछिरामादि शेष सभी आचार्यों ने इसे वहाँ माना है जहाँ किसी संयोगवश किसी नाम में अन्यार्थ की कल्पना की जावे। इस प्रकार सब ने अप्पय जी के ही मत का अनुकरण किया है।

प्रौढोक्ति

जो किसी वर्ण्य वस्तु या विषय के उत्कर्ष का कोई हेतु अथवा कारण नहीं है उसे भी जब कवि किसी प्रकार कारण के रूप में दिखलाता है तब प्रौढोक्ति मानी जाती है।

नोटः—मम्मट जी ने इसे सम्बन्धातिशयोक्ति के ही रूप में माना है, किन्तु पंडित राज जगन्नाथ तथा अप्पय जी ने इसे एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में रक्खा है। केशवदास और देव जी ने इसे नहीं दिया, शेष सभी प्रधान आचार्यों ने इसे अप्पय जी के मतानुसार ही (जिसे हमने ऊपर दिखलाया है) लिखा है। केवल भिखारीदास ने इसे अर्थशक्ति के अन्तर्गत दिखलाते हुये यों लिखा हैः—

"जग कहनावति ते जु कछु, कवि कहनावति भिन्न।
तेहि प्रौढोक्ति कहैं सदा, जिनकी बुद्धि अखिन्न॥
का० नि० ५३

आपने यहाँ "कहनावति" शब्द का अर्थ यों दिया हैः—
"वाचक, लच्छक वस्तु को, जग कहनावति जानि।
फिर सूक्ष्म रूप से प्रौढोक्ति के कुछ तत्व यों दिखलाये हैंः—
"उज्जलताई कीर्ति की, सेत कहै संसार।
तम छाया जग में कहै, खुले तरुनि के बार॥
कहै हास्य रस, शान्त रस, सेत वस्तु से सेत।
स्याम सिंगारो, पीति भय, अरुन रौद्र गनि लेत॥
बरनत अरुन अबीर सों, रवि सों तप्त प्रताप।
सकल तेजमय ते अधिक, कहै विरह-सन्ताप॥
साँची बातन युक्ति बल, झूठी कहत बनाइ।
झूठी बातन को प्रगट, साँच देत ठहराइ॥

कहै कहावै जड़नि सों, बातैं विविध प्रकार।
उपमा में उपमेय को, देहिं सकल अधिकार॥
योंही औरौ जानिये, कवि प्रौढोक्ति विचार।
सिगरी रीति जनावते, बाढ़ै ग्रन्थ अपार॥

इससे स्पष्ट है कि प्रौढोक्ति को दास जी ने कवि-परिपाटी (Conventional tendencies) की परम्परा और युक्ति पर समाधारित माना है, और इसे साधारण कथन-शैली से भिन्न प्रकार का दिखलाया है। आगे चलकर आपने इसके ४ भेद यों दिखलाये हैं :—

"वस्तु व्यंग्य कहुं चारु, स्वतः सम्भवी वस्तु तें।
वस्तुहिं तेऽलंकार, अलंकार ते वस्तु कछु॥
कहुं अलंकृत बात, अलंकार व्यंजित करै।
यों ही पुनि गनि जात, चारि भेद प्रौढोक्ति के॥
का० नि० ५४

अर्थात्:—(१) स्वतः सम्भवी से वस्तु-ध्वनि।
(२) " वस्तु से अलंकार व्यंग्य।
(३) " अलंकार से वस्तु व्यंग्य।
(४) " अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

इनके अतिरिक्तः—(१) प्रौढोक्ति में वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(२) " " अलंकार व्यंग्य।
(३) " अलंकार से वस्तु व्यंग्य।
(४) " " अलंकार व्यंग्य।

ये चार रूप और भी दिखलाये हैं (देखो काव्यनिर्णय पृष्ठ ५४, ५५, ५६ और ५७) इससे स्पष्ट है कि प्रौढोक्ति का आधार आपके मतानुसार व्यंग्य (व्यंजना) ही है।

जसवन्तसिंह ने इसे वहाँ भी माना है जहाँ वर्णन के विषय में अधिकता का अधिकार हो—

"प्रौढउक्ति बरनन विषै, अधिकाई अधिकार।"

रामसिंह और दूलह ने किसी बड़े अहेतु (अकारण) में हेतु की कल्पना करने में भी प्रौढोक्ति दिखलाई है।

स्मरण

जिस वस्तु या पदार्थ का अनुभव हो चुका है, उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु को देख कर प्रथमानुभवित पदार्थ का जहाँ एवं जब स्मरण आ जाता है तब स्मरण अलंकार माना जाता है। काव्य में जब इस प्रकार की पूर्वानुभवति वस्तु की स्मृति दिखलाई जाती है, तब यह अलंकार कहा जाता है।

नोटः—इस अलंकार का सम्बन्ध उस मानसिक शक्ति से है जिसका नाम धारणा या मेधा (स्मरण शक्ति) है, अतः यह अलंकार मनो-विज्ञान के स्मरण सम्बन्धी नियम पर आधारित है। मनोविज्ञान के अनुसार स्मृति में जाग्रति प्रायः निम्न दशाओं में आती है।

१—किसी पूर्वानुभवित वस्तु के सदृश रूपादि वाली वस्तु को देखकर या सुनकर।

२—किसी पूर्वानुभवित वस्तु के ठीक विरुद्ध रूपादि वाली वस्तु को देखकर या सुन कर।

३—पूर्वानुभवित वस्तु का चित्र आदि देख कर।

स्मृति के दो रूप होते हैं:—१—आत्मसंबंधिनी—जिसमें अपने ही पूर्व जीवन के (व्यतीत या गत) समय की घटनायें, क्रियायें एवं दशायें आदि रहती हैं।

२—अपर सम्बन्धिनीः—जिसमें किसी दूसरे मनुष्य या वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली और आत्मानुभवित वे बातें रहती हैं, जो अपने से सम्बन्ध रखने वाली नहीं।

स्मृति के लिये यह आवश्यक है कि तत्सम्बन्धिनी वस्तु या घटनादि में पुनरुक्ति या अनुराग से बल पहुँचाया जावे।

स्मृति का सम्बन्ध अनेक बातों से है, मुख्यतया निम्न बातों से ही सम्बन्ध रखने वाली स्मृति का प्रदर्शन काव्य में किया जाता है :—

१—अपने पूर्वानुभवों, अपनी पूर्वावस्थाओं, दशाओं, क्रियाओं एवं बातों का स्मरण।

२—अपनी प्रिय वस्तुओं, अपने प्रिय जनों, स्थानों, घटनाओं और प्रिय बातों का स्मरण।

३—अपर जन सम्बन्धिनी उक्त समस्त बातों का, जिनका ज्ञानानुभव हमें प्रथम हो चुका है और जिनमें हमें अनुराग था, स्मरण होता है—

४—अपर जन सम्बन्धिनी कथाओं आदि का स्मरण, यदि हमें उनका ज्ञान हो चुका है।

आचार्यों ने इसके क्षेत्र को बहुत संकीर्ण कर रक्खा है और केवल पूर्वानुभवित वस्तु के सदृश वस्तु-दर्शन से उत्पन्न स्मृति में अलंकारता मानी है, किन्तु हमारी समझ से उक्त सभी दशाओं में स्मृति का मानना अच्छा है, हमारे साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं।

इस काव्यात्मक स्मृति के साथ ही साथ यदि हम एक प्रकार की दूसरी स्मृति को भी इसके एक भेद के रूप में मानलें तो

सर्वथोचित होगा—यह विशिष्ट स्मृति वह है जो देवादि से सम्बन्ध रखती है और पवित्र भावो को जागृत करती है—इसे हम पुण्यस्मृति कह सकते और इसका लक्षण यों दे सकते हैं कि जब विपत्ति में किसी देवता का ध्यान या स्मरण होता है तब यह स्मृति स्फूर्ति पाती है—

'रस गंगाधर' में स्मरण को ध्वनि से भी संयुक्त करके स्मरण-ध्वनि दिखलाई गई है।

अरुण सरोरुह वृन्दयुत, लघु सर यह कमनीय।
चुप रहु रे रमणी वदन, दहन करै मम हीय॥

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव ने इसे नहीं लिखा। शेष अन्य मुख्याचार्यों में से भिखारीदास, मतिराम जसवन्तसिंह और गोविन्द कहते हैं कि स्मरण, भ्रम और सन्देह नामी अलंकारों की परिभाषायें उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाती हैं। पद्माकर और दूलह जी का भी यही कहना है।

भूषण जी ने इसे स्मरण के नाम से न देकर स्मृति के नाम से दिया है और इसके क्षेत्र को संकीर्ण करते हुये "सम सोभा लखि आन की, सुधि आवत जेहि ठौर" की ही सीमा के भीतर रक्खा है और समान शोभा से उत्पन्न होने वाली स्मृति पर ही आधारित माना है।

लछिराम ने 'जहँ विलोकि सम समुझि कै, वर्णनीय अनुमान। अलंकार सुमिरन तहाँ.........' यों कहते हुये सदृश वस्तु को देखकर तथा उसमें सादृश्य एवं साम्य का भाव समझ कर वर्णनीय का अनुमान करना इसके लक्षण में दिखलाया है।

गोकुल कवि ने—'उपमा लखि उपमेय को स्मर्न स्मृति है सोय।
वर्न्य लखे आवर्न्य की सुधि आये हू होय"॥

यह लक्षण दिया है। यहाँ तो हमारी समझ में बड़ा ही संकीर्ण रूप रक्खा गया है किन्तु दूसरे रूप में कुछ विस्तार दे दिया गया। यदि इन दोनों के स्थान पर यों कहा जावे—

प्रस्तुत लखि जब सर्वथा, अप्रस्तुत-सुधि होय।
कह 'रसाल' कवि जानिये, स्मृति भूषण है सोय॥

तो अच्छा होगा—इस परिभाषा के अन्दर इसके प्रायः सभी भाव आ जावेंगे।
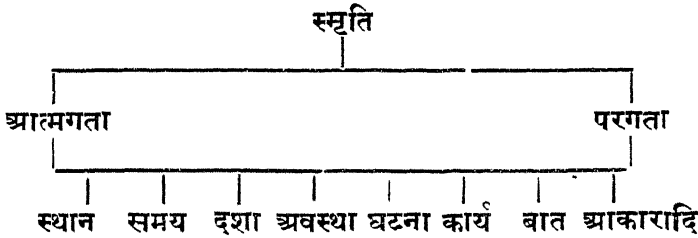
—अपने प्रिय जन की किसी प्रिय वस्तु को देखकर उसका स्मरण होना।

—किसी घटना सम्बन्धी वस्तु को देखकर पूर्व घटना का स्मरण होना।

—किसी घटना सम्बन्धी वस्तु की कल्पना से उस घटना का स्मरण होना।

—किसी आंगिक क्रिया से स्मरण में जागृति आना।

१—आँख फड़कना (प्रियागमन) इत्यादि।

२—हुचकी आना (कोई स्मरण करता होगा)

३—काक का शकुन देख प्रियजन का स्मरण।

स्नेह वश स्नेही के वियोग पर स्वतः जब स्मरण आता है।

—भोर ही भुखात ह्वै हैं—इत्यादि उदाहरण देखिये।

धूप में कुम्हला के गुल से और थक कर।
कहीं साये में बैठे होंगे रघुबर॥

किसी अभीष्ट या अनभीष्ट घटना के घटित होने पर किसी पूर्ववर्ती घटना-विशेष का (जो उसका कारण है या हो सकती है) स्मरण आना या किसी कार्य के होने पर उसके किसी कारण रूपी घटना का स्मरण आना।

—तापस अन्ध-शाप सुधि आई।

—किसी को अपने प्रिय के साथ देख, अपने प्रिय का स्मरण

खंजन जुग लखि राम जू, कहत कठिन यह हीय।
हाय किते मेरी गई, खंजननयनी सीय॥

आकस्मिक या प्रेम-स्मृतिः—बिना किसी प्रस्तुत के देखे, सुने या सोचे ही जहाँ अकस्मात् किसी प्रिय जन, कार्य या घटनादि का स्मरण आवे। या प्रेमादि भावों के कारण जब और जहाँ प्रेम-पात्रादि का स्मरण अकारण ही आवे।

इसी प्रकार इसके और भी कई रूप हो सकते हैं। ध्यान रहे कि स्मृति नामी संचारी भाव से यह सर्वथा भिन्न है। जहाँ रस की पुष्टि होती है वहाँ तो स्मृति भाव, किन्तु जहाँ अर्थ में चातुर्य-चमत्कार होता है वहाँ स्मृति अलंकार होता है।

भ्रमालंकार (मोहोपमा)

जहाँ किसी प्रस्तुत वस्तु को देख कर इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान हो जावे कि यह वस्तु (जो प्रस्तुत है और अभीष्ट अप्रस्तुत वस्तु से सर्वथा भिन्न है, यद्यपि उसके साथ रूपाकारादि में सादृश्य एवं साम्य भी बहुत कुछ रखती है) अप्रस्तुत वस्तु ही है। अर्थात जहाँ अप्रकृत (उपमान) के सदृश

किसी प्रकृत (उपमेय) के देखने से उसमें अप्रकृत का निश्चयात्मक ज्ञान हो।

नोट: —इसे भ्रम, भ्रान्तिमान एवं भ्रान्त्यालंकार भी कहते हैं। ध्यान रहे कि इसका भो मूलतत्व सादृश्य एवं साम्य है, इसी के आधार पर भ्रमात्मक ज्ञान का जन्म होता है। इस प्रकार के भ्रम सम्बन्धी ज्ञान में (किसी दूसरी वस्तु को कोई दूसरी वस्तु, जो उसके समान ही सी है, समझ या मान लेना) निश्चय का पर्याप्त भाग रहता है, किन्तु तथ्यता एवं सत्यता का पूर्ण अभाव रहता है। यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान है (उस व्यक्ति के लिये नहीं जिसे भ्रम हुआ है, वरन् दूसरों के लिये यह ज्ञान पूर्णतया मिथ्या ज्ञान है—भ्रम से भूले हुये व्यक्ति के लिये यह ज्ञान उस वक्त तक सत्य ही सा रहता है जब तक उसे इसकी असत्यता किसी प्रौढ़ एवं पुष्ट प्रमाण से प्रतिपादित नहीं हो जाती, ऐसा हो जाने पर वह व्यक्ति अपने भ्रमात्मक ज्ञान को (जिसे वह प्रथम, जब वह भ्रम में था, सर्वथा सत्य एवं निश्चित ही जानता व मानता था) मिथ्या समझ लेता है)।

यह भी याद रखना चाहिये कि इसमें स्मरण या स्मृति का भी पर्याप्त भाग रहता है और इसी के आधार एवं बल पर या इसी के द्वारा भ्रम का उदय भी होता है। किसी प्रस्तुत वस्तु को देखते ही किसी तत्सदृश अप्रस्तुत वस्तु का स्मर्ण आया और शीघ्र ही वह स्मर्ण उसी प्रस्तुत वस्तु पर आरोपित हो कर भ्रम में रूपान्तरित हो गया। इस विचार से कह सकते हैं कि भ्रम एक प्रकार का विचित्र परिवर्तित स्मरण-जन्य मिथ्या ज्ञान है।

भ्रम या भ्रान्ति का वर्णन काव्य में सदैव विचित्र प्रकार से ही किया जाता है, इसमें रसात्मिकता का ही पूर्ण प्राधान्य एवं घनिष्ठ सहयोग रहता है।

दंडी जी ने इसे अग्निपुराण के मतानुसार "मोहोपमा" के नाम से उपमा ही का एक विशिष्ट भेद या रूप कहा है।

जहाँ किसी वस्तु (प्रस्तुत) को जान बूझ कर (यह जानते हुये कि यह एक पृथक् एवं भिन्न वस्तु है) कोई दूसरी वस्तु (अप्रस्तुत) मान लेते हैं. और उस प्रस्तुत में उस अप्रस्तुतका आरोप करते हैं वहाँ भ्रम नहीं, वरन् रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है।

इस अलंकार में किसी कारण विशेष से भ्रम होता है, तथा भ्रम से भूले हुये व्यक्ति में एक प्रकार से प्रमाद का भाव झलकता रहता है तथा प्रेमादि सम्बन्धिनी स्थितियों के प्रावल्य के आधार पर ही (उनके द्वारा ही) इस प्रकार के भ्रम का ज्ञान होता है। इष्ट वस्तु की प्रवलेच्छा तथा तत्प्रति प्रवलानुराग की धारा सदैव काव्य-वर्णित भ्रम के नीचे बहती रहती है। जहाँ उन्माद आदि विकारों के कारण भ्रम या भ्राँति होती है वहाँ भ्रम अलंकार नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ अनुभाव का ही प्राधान्य रहता है।

भ्रम अलंकार में यह भी एक प्रकार से आवश्यक है कि भ्रान्ति की दशा में अनुभव करने वाला व्यक्ति सब बातें वैसी ही करे मानो वह वास्तव में अप्रस्तुत की विद्यमानता में ही अप्रस्तुत के साथ है (जैसा व्यवहार वह अप्रस्तुत के साथ करता वैसा ही वह भ्रमोत्पादक प्रस्तुत के साथ भी करे)

इसके साथ ही भ्रम के कारण कभी कभी किंकर्तव्य विमूढ़ता की सी दशा भी कवि दिखला सकता है।

परस्पर भ्रांतिः—जहाँ भ्रम करने वाले को प्रस्तुत वस्तु में और प्रस्तुत वस्तु में भ्रम करने वाले प्रस्तुत व्यक्ति में भ्रम हो तथा दोनों में यों परस्पर भ्रान्ति हो जाये।

किंशुक मुकुल सुजानि जिय, परत भौंर सुक तुंड।
सोऊ जामुन भ्राँतिसों, धरन चहत अलि मुंड ॥ का० क० ३१७

भ्रान्तिध्वनिः—जहाँ भ्रान्ति का भाव केवल ध्वनित ही रहे।

कनक गात राधा चली, हरि सँग वन की ओर।
हरषि चले लखि मुग्धमन, चातक मोर चकोर ॥

केशवदास और देव को छोड़ कर शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे नाम ही से स्पष्ट होने वाले अलंकार के रूप में दिया है और इसकी विवेचना किसी ने भी नहीं की। प्रायः लोगों ने मतिराम की भाँति इसे स्मरण और संदेह के साथ ही रक्खा है और इसी भाव को माना है—

"एक वस्तु लखि आनको, सुमरन, भ्रम, संदेह।"
—ललित ललाम

"आन बात को आन में, होत जहाँ भ्रम आय।"

भूषण ने ऐसा लक्षण दिया है। लछिराम जी ने इसकी परिभाषा कुछ अच्छी दी है—

"जाहि वस्तु को चाह मन, तद अकार लखि रूप।
भ्रम उपजै, तहँ कहत हैं, भ्रम भूषन कवि भूप ॥
—रा० क० पृ० १५८

भ्रान्ति

परस्पर भ्रान्ति—जहाँ अनुभवकर्ता एवं अनुभूत वस्तु दोनों को परस्पर भ्रम हो—

छलोत्पन्नभ्रमः—जहाँ किसी को इष्ट साधनार्थ छल से (जान बूझ कर) भ्रम में डाल दिया जाये—

इष्टसाधनार्थ—सुर गण सब नल-रूप में गे करि माया गूढ़।
लखि दमयंती भ्रमित भै, किंकर्तव्य विमूढ़ ॥

इसी प्रकार इसके और भी कई रूप होते या हो सकते हैं।

संदेह

जहाँ किसी वस्तु के विषय में संशयात्मक ज्ञान हो।

नोटः—किसी प्रस्तुत वस्तु के विषय में दो प्रकार का ज्ञान साथ ही उत्पन्न हो और उन दोनों में से किसी में भी निश्चय न हो, वरन् बुद्धि द्विविधि में ही पड़ी रहे। प्रस्तुत वस्तु दोनों को समान रूप से सूचित करती रहे। जब तक यह दशा रहती है तभी तक संदेह रहता है। अब इतना और देखना चाहिये कि किसी प्रस्तुत वस्तु के विषय में जो दो प्रकार के पृथक् पृथक् ज्ञानानुभाव होते हैं उनमें से एक सत्य एवं दूसरा मिथ्या, तथा कभी कभी दोनों मिथ्या हो सकते हैं। साथ ही जब मिथ्या ज्ञान पर निश्चय हो जाता है तब भ्रम की उत्पत्ति होती है। इसका आधार भी स्मरण का एक विशेष रूप ही है। प्रस्तुत वस्तु को देख कर उसके साथ सादृश्य रखने वाली किसी पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण आता है और तब उसका आरोपण प्रस्तुत वस्तु पर प्रारंभ हो चलता है, जब तक यह आरोपण द्विविधि दशा में रहता है तभी तक संदेह रहता है जब आरोप निश्चयपूर्वक हो जाता है तब भ्रम आ जाता है—

ध्यान रखना चाहिये कि काव्य में वहीं पर संदेह अलंकार माना जाता है, जहाँ कवि की प्रतिभा-जन्य कल्पना के समुत्पन्न सादृश्य मूलक संशय नहीं होता।

इसके मुख्य दो भेद माने गये हैं :—

१—भेदोक्ति संशयः—जहाँ किसी दूसरे पदार्थ से भिन्नता दिखलाने वाला धर्म भी कहा जावे और फिर भी संशय हो।

इस भेदोक्ति के २ रूप होते हैं :—१—उपमान निष्ट भिन्न धर्मोक्ति २—उपमेय निष्ट भिन्न धर्मोक्ति

इसके आधार पर भेदोक्ति मूलक संदेह के दो रूप होते हैं।

क—निश्चय गर्भाः—जहाँ संशय के मध्य में तो निश्चय हो किन्तु आदि और अन्त में अवश्य ही संदेह रहे।

इसमें उपमान निष्ट भिन्न धर्म की उक्ति होती है।

ख—निश्चयान्तः—जहाँ प्रथम तो संशय हो किन्तु अन्त में निश्चय ज्ञान हो जावे। इसमें उपमेय निष्ट भिन्न धर्म की उक्ति रहती है।

नोटः—यह भी समीचीन एवं सम्भव है कि किसी स्थान पर प्रथम तो सत्य ज्ञान या निश्चय रहे किन्तु किसी विशेष कारण से मध्य और अन्त में संशय उठ खड़ा हो। इसे निश्चयादि संशय कह सकते हैं।

२—भेदानुक्ति संशयः—जहाँ केवल संशय ही प्रधान रहे और दूसरे से वैभिन्न प्रकट करने वाले धर्म का कथन न किया गया हो। इसे शुद्ध संदेह भी कहते हैं।

नोटः—निश्चयान्त भेदोक्ति संदेह को अग्निपुराण में निश्चयोपमा नाम से उपमा का एक विशिष्ट रूप ही माना है—

"उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमा"।

इसी को दंडी ने "निर्णयोपमा" की संज्ञा दी है।

भेदानुक्ति संशय को काव्यादर्शकार ने संशयोपमा का नाम देकर उपमा के भेदो में रक्खा है।

संदेहालंकार के वाचक शब्द कैधौं, कैं, धौं, आदि हैं, जहाँ इनका लोप रहता है वहाँ वाचक लुप्त संदेह या संदेहध्वनि मानते हैं—

देव जी ने इसे "संसय" नाम से लिखा है और कहा हैः—

"जहँ उपमा उपमेय को, आपुस में संदेहु।

ताही सो संसय उकति-सुमति जानि सब लेहु॥ भा० वि० १०५

केशव ने इसे नहीं लिखा। भूषण ने कहा है—

"कै यह, कै वह, यों जहाँ, होत आनि संदेह।
भूषन सो संदेह है, यामें नहिं संदेह॥ शि० भू० १२८

लछिराम ने इसको यों लिखा है:—

एक वस्तु को तर्कना, निश्चय रहित सराहि।
अलंकार संदेह तहँ, बरनत कवि चित चाहि॥ रा० क० १५६

गोकुल कवि ने लिखा है—

'बहु विधि बरनत वर्न्य जहँ, नियत न तथ्य अतथ्य।
अलंकार संदेह तहँ, बरनत हैं मतिपथ्य॥" चे० च० ३३

रामसिंह ने सूक्ष्म लक्षण यों दिया है:—

"निश्चय होत नहीं है जहाँ। कहु संदेह अलंकृत तहाँ॥"
अ० दर्प० ११

हमारे आचार्यों ने इसके भेदोपभेद नहीं दिखलाये। किन्तु इसके भेद यों होते हैं।

भेदोक्ति निश्चया०—घनच्युत चपला कै लता, संशय भयो निहारि।
दीरघस्वासन लखि कपी, कि य सीता निरधार॥

भेदानुक्तिः—

सुन्दर या रचना के लिये निशिकान्त सुकान्त भयो कि प्रजापति।
कै कुसुमाकर ही सुखमा कर, कै सुमनायुध ही रति को पति॥
वृद्ध विरक्त भयो विषयान सों, है विधि वेद विचाररता मति।
कैसे बनाय सकै यह वो, मनभावनो रूप सुहावनोहू अति॥

संदेहध्वनिः—तीर तरुणि स्मित मुख निरखि, नीर खिले अरविन्द।
गंध लुब्ध दुंहुं ओर से, धावहिं मुग्ध मलिंद॥

अर्धग्रहण पर—ग्रहण लखनहित गगन प्रति, चन्द्र मुखी मुख कीन्ह।
लखि, ताको तहँ राहु तब, त्यागि मयंकहिं दीन्ह॥
—र० मं०

परिकरालंकार

जहाँ अभिप्राय के साथ विशेषणों से विशेष्य का कथन हो अथवा जहाँ साभिप्राय विशेषणों का वर्णन हो।

हे शीतांशु द्विजेश, नाम सुधा कर आप को।
दह्यो विरह तापेश, तुम नाशहु तेहि ताप को॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि काव्य को अपुष्टार्थ नामी दोष से बचाने के लिये निरर्थक, निष्प्रयोजन एवं अनभीष्ट विशेषणादि न रखने चाहिये। अतः साभिप्राय विशेषणों का रखना दोष का परिहार या अभाव ही है, अलंकार नहीं, ऐसी शंका का निवारण काव्य प्रकाश के मतानुसार यों है कि एक विशेष्य के जब अनेक साभिप्राय विशेषण आते हैं और सभी अपना चमत्कार एवं पुष्टार्थ दिखलाते हैं तथा जान बूझ कर वैसे अभीष्ट अभिप्राय-सूचक विशेषण स्वकार्य या इष्ट की सिद्धि के लिए रक्खे जाते हैं तब अवश्य ही चमत्कार पूर्ण अलंकार माना जाता है।

इस विचार के साथ ही पंडितराज जगन्नाथ का मत है कि साभिप्राय एक विशेषण में भी चमत्कार रहता है, अतः ऐसी दशा में भी परिकर अलंकार मानना चाहिये, यह अवश्य है कि अनेक साभिप्राय विशेषणों से अधिक चमत्कार आता है। ऐसी अवस्था में तो हमारी समझ में साभिप्राय विशेषणमाला नाम से परिकार का एक विशेष रूप मानना ही अच्छा होगा।

पंडित राज जी का कहना है कि साभिप्राय एक विशेषण के ही होने पर परिकर अलंकार यों माना जा सकता है जैसे ब्राह्मण के विद्वान होने पर उसके मूर्ख होने के दोषाभाव के साथ विद्वता का गुण भी माना जाता है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो "समासोक्ति" (जो गुणीभूत व्यंग का एक विशिष्ट रूप है) और

"काव्यलिंग" (जो निर्हेतु रूप दोष का अभाव मात्र है) अलंकार न कहे जा सकेंगे। इस अलंकार में अपुष्टार्थ दोषाभाव, एवं साभिप्राय विशेषणों के होने से चमत्कार, दोनों सौंदर्यकारी गुण विद्यमान हैं।

इसके विशेषणों में इष्टाभिप्राय के व्यंग्य होने के साथ ही साथ वाच्यार्थ से भी वह व्यक्त रहता है, अतः इसमें वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है, और व्यंग्यार्थ गौण रूप में ही रहता है। इस व्यंग्यार्थ के दो रूप होते हैं:—१—कहीं यह वाच्यार्थ का उपस्कारक और कहीं २—वाच्यार्थ की सिद्धि का एक अंग होता है।

जग-मृगतृष्णा में भटकि, मनकुरंग अकुलाय।
नाथ! दयोदधि बीचि बिच, चाहत शान्ति अन्हाय॥

—र० मं०

केशवदास और देव जी ने इसकी चर्चा ही नहीं की। शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे उक्त प्रकार के रूप में ही दिया है। भिखारीदास ने विशेषण का (जिसका इस अलंकार में अभिप्राय के साथ प्राधान्य रहता है) यह लक्षण दिया है:—

"बर्ननीय के साज को, नाम विशेषन जानि।"

फिर परिकर का लक्षण आपने यों लिखा है:—

'सो है साभिप्राय जहँ, परिकर भूषन मानि।

का० नि० १६१

जसवन्तसिंह और पद्माकर ने अभिप्राय के स्थान पर आशय शब्द का प्रयोग किया है। इस अलंकार का लक्षण सब ने एक सा ही दिया है।

हमारा विचार यह है कि यह अलंकार एक विशिष्ट वैचित्र्य-पूर्ण व्याकरण सम्बन्धी वाक्य-रचना की व्यवस्था-कला का एक

भेद ही है। जहाँ एक विशेष्य के अनेक विशेषण एक माला के रूप में रहते हैं वहाँ हमारी समझ में 'विशेषण माला' नामी अलंकार कहना या मानना चाहिये। यदि ये विशेषण अपने साधारणावस्था एवं स्वाभाविक अर्थ के साथ ही प्रयुक्त हुये हों तो उक्त अलंकार के साधारण रूप में और यदि वे विशेषण अपने विशेष एवं इष्टार्थ अव्यक्त साभिप्राय-अर्थ के साथ रक्खे गये हों तो विशेषण-वैचित्र्य, विशेषण विशिष्ट या परिकर के रूप में जानना चाहिये।
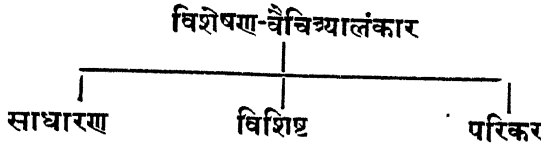
इसी के साथ हम क्रिया विशेषणों के व्यवस्था-वैचित्र्य को भी ले सकते हैं:—इसके भी यही तीन रूप होंगे।

इसको श्लिष्ट करके हम श्लिष्ट परिकर के रूप में रख सकते हैं। साथ ही इसमें कभी कभी अतिशयोक्ति की भी पुट दे सकते हैं।

विशेषण-वैचित्र्यालंकार

१—साधारणः—राखिय अवध, जो अवधि लग, रहत जानिये प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद, शील सनेह निधान॥

गजाननं, चारु विशालनेत्रं, मूँजीधरं मूषकवाहनञ्च।
चतुर्भुजं चंचल चारु युग्मं गणाधिपं गौरिसुतं नमामि॥

एवं अन्य स्तुतियों में—

१—विशिष्टः—जहाँ किसी विशेषण को सार्थक एवं चरितार्थ होता हुआ दिखलाया जावे।

२—जहाँ किसी अभीष्ट की पूर्ति न करने पर किसी का विशेषण सार्थक या चरितार्थ न होता हुआ कहा जावे।

जहाँ किसी की सार्थकता के लिये किसी विशेष अभिप्राय की पूर्ति की आवश्यकता हो।

३—साँकेतिकः—जहाँ विशेषण किसी विशेष अर्थ या भाव की ओर संकेत करे—किन्तु किसी अभिप्राय को न प्रकट करें—

क्रिया-विशेषण-वैचित्र्यालंकार

१—जहाँ साधारण क्रिया विशेषणों की माला रहे—

तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसति सी,
खीझत सी रीझति सी रूसति रिसानी सी।
छाही सी, छली सी, छीन लीनी सी छकी सी छीन,
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी॥
बाँधी सी बधी सी, विष बूड़ी सी, विमोहित सी,
बैठी वह बकति विलोकति बिकानी सी।

इसके भी विशिष्ट, साभिप्राय एवं सांकेतिक आदि रूप हो सकते हैं।

सूच्यपरिकर (लुप्ताभिप्राय मूलक)

जहाँ जिस अभिप्राय से विशेषणों का प्रयोग किया गया हो और उसका प्रकाशन स्पष्ट रूप से न किया गया हो, वरन् वह सूच्य ही रक्खा गया होः—

पतित उधारन अघहरन, हौ प्रभु दीन दयाल।
पतित दीन पापी परम, है यह दास "रसाल"

—र० मं०

परिकरांकुर

जहाँ अभिप्राय के साथ विशेष्य या विशेष्यों का कथन किया जावे। यथाः—

बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलो प्रानेश।
प्यारो कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस॥

नोटः—यह उक्त अलंकार (परिकर) का विलोम रूप ही है। इसमें जानबूझकर हो अभीष्टाभिप्राय के साथ विशेष्यों का प्रयोग किया जाता है। जो बातें उक्त परिकरालंकार के साथ लागू होती हैं वही इसके साथ भी होती हैं। इसका भी सम्बन्ध व्याकरण सम्बन्धी विशेष्य-व्यवस्था-वैचित्र्य से है। कहना चाहिये कि ये दोनों अलंकार वाक्य-रचना-चातुरी के दो विशिष्ट रूप हैं तथा उसी से सम्बन्ध रहते हैं। इन दोनों अलंकारों को हम अपने रचना-चातुर्य के ही दो रूप मानते हैं।

इसे विशेष्य-वैचित्र्यालंकार के अन्तर्गत रखते हुये हम यह बतला देना चाहते हैं कि यह उसका एक विशेष रूप ही है, अन्य रूप यों हो सकते हैं।
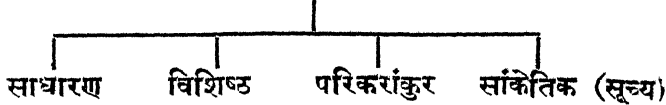
इनके अतिरिक्त जहाँ इसके साथ श्लेष का योग कर दिया जाता है वहाँ श्लिष्ट रूप जानना चाहिये।

परिकर और परिकरांकुर दोनों को हम एक साथ मिश्रित रूप में भी रख सकते हैं, इस मिश्रालंकार के रूप यों होंगे।

१—साधारणः—दोनों विशेष्य एवं विशेषण अपने साधारण एवं स्वाभाविक अर्थ में प्रयुक्त हों।

२—विशिष्टः—दोनों कुछ विशेषता के साथ प्रयुक्त हों।

३—सूच्यः—दोनों किसी विशेष भाव को सूचित करें।

४—साभिप्रायः—दोनों अभीष्टाभिप्राय के साथ हों।

५—श्लिष्टः—दोनों श्लिष्ट होकर द्व्यार्थक हों।

६—प्रश्नात्मकः—दोनों प्रश्न के साथ साभिप्राय या साधारण हों।

७—संकीर्णः—जहां किसी विशेष अभीष्टाभिप्राय की पूर्ति करने पर ही वे सार्थक या चरितार्थ हों।

८—विशेषण बाहुल्यः—जहाँ एक विशेष्य के कई विशेषण हों।

९—विशेष्य बाहुल्यः—जहाँ एक विशेषण के साथ कई विशेष्य हों।

१०—समः— जहाँ दोनों समान संख्या में हो।

नोटः—केशव और देव को छोड़ कर शेष सभी आचार्य साभिप्राय विशेष्य का होना ही इसके लक्षण में रखते हैं। विशेष्य की परिभाषा में भिखारीदास कहते हैंः—

वर्णनीय जु विशेष है, सोई साभिप्राय।
परिकर अंकुर कहत हैं, तिहि प्रवीन कविराय॥ का० नि० १७०

विशेष्य-वैचित्र्यालंकार

१—साधारण—जहाँ कोई विशेष्य एक या अधिक विशेषणों के साथ अपने साधारण एवं स्वाभाविक अर्थ में प्रयुक्त होः—

यथाः—सुबरन खोज करैय्या, कवि अरु चोर।
व्यभिचारिहु तेहि भैय्या, लख चहुँ ओर॥

२—विशिष्टः—इसी प्रकार कुछ विशेषता पूर्ण होता है।

३—साँकेतिक (सूच्य)—जहाँ विशेष्य अपने अभिप्राय की सूचना संकेत के रूप में ही देवें।

४—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष युक्त विशेष्य हों।

अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा या उसका वर्णन किया जावे। यहाँ प्रस्तुत (मुख्यरूप से कवि जिसका वर्णन करना चाहता है और इस लिये जिसका प्रकरण प्रस्तुत या उपस्थित रहता है—इसे प्राकरणिक या प्रासंगिक भी कहते हैं तथा कभी २ उपमेय का भी प्रयोग करते हैं) का वर्णन ही अभीष्ट रहता है किन्तु कवि उसे सीधे सीधे न करके अप्रस्तुत (जिसका वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं होता और जिसका प्रकरण एवं प्रसंग भी नहीं होता, इसे अप्राकरणिक एवं अप्रासंगिक भी कहते हैं तथा उपमान शब्द का भी इसी के अर्थ में प्रयोग करते हैं) के द्वारा उसको व्यक्त करता है अर्थात् अप्रस्तुत वस्तु का कथन करते हुये प्रस्तुत के अभीष्ट वर्णन को व्यक्त करता है।

नोटः—ध्यान रहे कि यहाँ प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति या श्लाघा नहीं है वरन् वर्णन करना ही है। आचार्यों ने स्तुति और निन्दा दोनों के कथन करने में इस अलंकार को माना है, किन्तु हमारा विचार यह है कि जहाँ स्तुति हो वहाँ तो इसे और जहाँ निन्दा हो वहाँ अप्रस्तुत निन्दा मानना चाहिये। जिस प्रकार व्याज स्तुति और व्याज निन्दा दो पृथक् अलंकार माने जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी कर लेना उचित और उपयुक्त है।

इसके भेदोपभेद इस प्रकार किये गये हैं :—

१—कारण निबंधना:—प्रस्तुत कार्य के स्थान पर अप्रस्तुत कारण का कथन करना और कार्य का वर्णन करना अभीष्ट होते हुये भी जहाँ उस कार्य का वर्णन न करके उसके अप्रस्तुत कारण का कथन किया गया हो।

भूमि शयन बल कल बसन असनकंद फल मूल।

नोटः—यहाँ कार्य का कथन इष्ट होता है, किन्तु कहा उसका कोई कल्पित कारण जाता है तथा उससे ही इष्टार्थ को सूचित किया जाता है।

२—कार्यनिबंधनाः—वर्णनीय अभीष्ट प्रस्तुत कारण के प्रस्तुत होते हुये भी उसके स्थान पर अप्रस्तुत कार्य का ही कथन करना। यह पूर्व भेद का विलोम रूप ही है। पर्यायोक्ति और इसमें यह भेद है कि प्रथम में तो कार्य और कारण दोनों ही प्राकरणिक और प्रस्तुत होते हैं किन्तु इसमें कारण तो प्रस्तुत रहता है और कार्य अप्रस्तुत रहता है। हाँ कारण रूप जो वाच्यार्थ होता है वह कार्य के द्वारा दोनों ही में निष्ठ रहता है और दोनों ही में समानता से कहा जाता है।

३—विशेष-निबंधनाः—सामान्य के प्रस्तुत होते हुये भी अप्रस्तुत विशेष का ही कथन करना—या विशेष बात कह कर सामान्य का तात्पर्य देना।

४—सामान्य निबंधनाः—उक्त विशेष-निबंधना के विलोमरूप से विशेष के प्रस्तुत रहते हुये भी उसके स्थान पर अप्रस्तुत सामान्य का कथन करना—या सामन्य बात कह कर विशेष का तात्पर्य सूचित करना।

नोटः—ऊपर से यह स्पष्ट है कि प्रथम दो भेद कार्य-कारण से और पश्चात् के दो भेद सामान्य-विशेष भाव से सम्बन्ध रखते हैं तथा दोनों प्रकार के भेद विरोधी या विलोम रूपों के द्वारा परिवर्धित किये गये हैं।

५—सारूप्य-निबंधना—प्रस्तुत के स्थान पर उससे समानता रखने वाले अप्रस्तुत का वर्णन करना—

इसके ३ उपभेद और होते हैं:—

(क) श्लिष्ट हेतुकः—इसमें श्लेषालंकार की भी पुट रहती है और विशेष्य व विशेषण दोनों ही श्लिष्ट पद होते हैं। ये विशेष्य व विशेषण दोनों ही अप्रस्तुत होते हैं और प्रस्तुत के ऊपर घटित होते रहते हैं क्योंकि वे श्लिष्ट होते हैं।

यूथप तेरे मान सम, थान न इतै लखाहिं।
क्योंहू काट निदाघ-दिन, दीरघ कित इत छाँहि॥

(ख) श्लिष्ट विशेषणः—केवल विशेषण ही जहाँ श्लिष्ट पद हो। इस प्रकार यह समासोक्ति से समानता रखता है।

धिक तेली जो चक्र धर, नेहिन करत विहाल।
पारथिवन विचलित करत, चक्री धन्य कुलाल॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि समासोक्ति में प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत का ज्ञान होता है किन्तु यहाँ अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का कथन होता है। श्लिष्ट विशेषण समासोक्ति में तो प्रस्तुत और यहाँ अप्रस्तुत सम्बन्धी होता है। काव्य-प्रकाश में इसे समासोक्ति हेतुक कहा है, किन्तु पंडित राज जगन्नाथ का मत इसके विरोध में है। वे इसे श्लिष्ट विशेषण ही मानते हैं और कहते हैं कि इसमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का कथन है, उसे प्रस्तुत रूप में मानने से समासोक्ति न हो सकेगी क्योंकि समासोक्ति में प्रस्तुत समान विशेषणों के द्वारा अप्रस्तुत का वर्णन होता है। इसे फिर अप्रस्तुत मानने से अप्रस्तुत प्रशंसा की सत्ता जाती रहती है। किसी किसी ने इसे समासोक्ति का विलोम माना हैः—

"औरौ एक पिछान है, मानि लेहु परतीत।
समासोकि भूपन जु है, ताको यह विपरीत॥

जिस प्रकार इसमें केवल विशेषण ही श्लिष्ट पद होता है उसी प्रकार केवल विशेष्य को भी श्लिष्ट पद रख सकते हैं और उसे श्लिष्ट-विशेष्य की संज्ञा दे सकते हैं।

(ग) सादृश्य निबंधनाः—बिना श्लेष की साहाय्य के जहाँ अप्रस्तुत के सादृश्य कथन से ही प्रस्तुत का ज्ञान हो। इसके ३ रूप होते हैं :—

१—वाच्यार्थ के आरोपण के बिना—

मोती चुनि, बसि मान-सर, नितही-राजमराल।
काक हिये, परि ताल सोइ, सेवत भेक सिवाल॥

—र० मं०

२—वाच्य में अर्थारोपण के साथ—

ताप-तपत, नित जपत तोहिं, चातक आसा लाय।
ताही पै धिक धिक जलद, पाहन डारत आय॥

—र० मं०

३—वाच्य में अर्थारोप और अनारोप दोनों हों।

कर्ण चपल, कर शून्य पुनि, रसना विधि प्रति कूल।
अस मदांध गज को भ्रमर, क्यों सेवत हठि भूलि॥

—का० क०

नोटः—कोई कोई आचार्य सारूप्य निबंधना के इस भेद को अन्योक्ति अलंकार और उसका विशिष्ट भेद मानते हैं।

वैधर्म मूलाप्रस्तुत प्र०ः—जहाँ साधर्म्य के साथ न हो कर अप्रस्तुत प्रशंसा वैधर्म्य के साथ होती है।

विहरि स्वच्छंद अनंद करि, चाखत सुफल रसाल।
धनि धनि कीर स्वतंत्र पुनि, सुकृती भये निहाल॥

—र० मं०

नोटः—इन सभी भेदों में यद्यपि व्यंग्यार्थ ही के द्वारा प्रस्तुत का कथन होता है वाच्यार्थ के द्वारा नहीं, तथापि यहाँ व्यंग्य का प्राधान्य नहीं और इसीसे यहाँ ध्वनि की भी प्रधानता नहीं मानी जाती, क्योंकि ध्वनि में व्यंग्यार्थ की ही प्रबलता और वाच्यार्थ की गौणता रहती है। ऐसा ध्वनिकार का भी मत है। व्यंग्यार्थ-ज्ञान के समय वाच्यार्थ का ध्यान नहीं रह जाता, किन्तु अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत के व्यंग्यार्थ-ज्ञान पर भी अप्रस्तुत-वृत्तान्त के वाच्यार्थ का ज्ञान तत्साधर्म्य विवक्षा से होता रहता है। अतः कह सकते हैं कि यहाँ वाच्यार्थ-चमत्कार से व्यंग्यार्थ की चारुता चटक हो जाती है और ये दोनों प्रायः समान रूप में ही रहते हैं, ऐसी दशा में अलंकृत गुणीभूतव्यंग्य हम भले ही यहाँ मान सकते हैं। अप्पय जी ने इस अलंकार में केवल अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का वर्णन होना दिखलाया है और कहा है कि इसमें तथा प्रस्तुतांकुर में एक प्रस्तुत के द्वारा किसी अन्य अभीष्ट प्रस्तुत का वर्णन किया जाता है न कि अप्रस्तुत के द्वारा, जैसा यहाँ होता है।

हिन्दी काव्याचार्य केशवदास जी ने इसको अपनी कविप्रिया में दिया ही नहीं, भिखारीदास ने अप्रस्तुत प्रशंसा को अपने अन्योक्ति वर्ग में रक्खा है और इसी के साथ प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्ति भी रक्खे हैं। आपने इसका लक्षण यों दिया है :—

"अप्रस्तुत के कहत ही, प्रस्तुत जान्यों जाय।
अप्रस्तुतपरसंस तेहि, कहत सकल कविराय॥

इसी के साथ आपने प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भी परिचय यों दिया है :—

कवि इच्छा जिहि कथन की, प्रस्तुत ताको जानु।
अनचाहो कहिबो परो, अप्रस्तुत सो मानु॥

मतिराम ने इसका यह लक्षण दिया है:—

अप्रस्तुतै प्रसंसिये, प्रस्तुत लीने नाम।

जसवन्तसिंह ने इसके दो रूप दिखलाये हैं :—

अलंकार द्वै भाँति को, अप्रस्तुत परसंस।

इक वर्नन प्रस्तुत बिना, दूजे प्रस्तुत अंस॥

अर्थात्:—१—प्रस्तुत के बिना अप्रस्तुत का वर्णन।

२—प्रस्तुतांशरूप अप्रस्तुत का वर्णन।

लछिराम जी ने इसकी परिभाषा 'अप्रस्तुत बरनन जहाँ, झलकै प्रस्तुतभाव'। इस प्रकार देते हुये तथा अप्रस्तुत और प्रस्तुत पर प्रकाश डालते हुये इसके ५ भेद दिये हैं:—

१—कारज मुख कारन कतहुँ........

२—कारन मुख कारज कहूँ

३—कहि विशेष सामान्य मुख

४—कतहूँ कहि सामान्य मुख, यों विशेष निरधार

५—कतहुँ तुल्य प्रस्ताव में, तुल्य कथन परमान।

अप्रस्तुत परमंसको, पाँच भेद जिय जान॥

दूलह कवि ने भी इसके ५ भेद कहे हैं, किन्तु उनके रूप स्पष्टतया नहीं दिखलाये। पद्माकर ने 'अप्रस्तुत विरतान्त महँ, जहँ प्रस्तुत को ग्यान। अप्रस्तुत परसंस सो, पंच प्रकार प्रमान॥' यों देते हुये ५ निबंधना-रूपदिये हैं—१—सारूप्य निबंधना २—सामान्य नि० ३ विशेष निबं० ४ कारण निबंधना ५—कार्य-निबंधना।

भिखारीदास ने भी इन्हीं पाँच रूपों को दिखलाया है, किन्तु मतिराम, भूषण, जसवन्तसिंह, गोकुल, गोविन्द और रामसिंह ने भी इसके भेद नहीं दिये। शेष सभी आचार्यों ने चन्द्रालोक और विश्वनाथ जी का अनुकरण किया है।

काहू तरुवर बीस बितव, ह्वै परभृत तपकाल।
रे पिक जौलौं सुमधु लहि, फूलि फरै न रसाल॥
गावत गुन सुख काल में, तासु लह्यो सुखवास।
धिक पिक ताकी विपति में, जाति न ताके पास॥

नोटः—ध्यान रहे कि समासोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन से किसी अप्रस्तुत का भी ज्ञान होता है, पर्यायोक्ति में प्रस्तुत का कथन कुछ वक्रता के साथ घुमा फिरा कर किया जाता है और अप्रस्तुत का आभास भी नहीं दिया जाता, किन्तु यहाँ अप्रस्तुत ही से प्रस्तुत का ज्ञान होता है।

व्याज-स्तुति

जहाँ किसी व्याज या बहाने के साथ किसी की स्तुति की जावे। साथ ही जहाँ किसी की स्तुति, निन्दा के व्याज के साथ हो, अर्थात् जहाँ प्रगट रूप में तो निन्दा का भाव जान पड़ता हो किन्तु हो वास्तव में वहाँ स्तुति या प्रशंसा ही का भाव।

नोटः—जहाँ तक हम समझते हैं हमारे आचार्यों ने शुद्ध स्तुति या प्रशंसा के लिये कोई भी अलंकार नहीं माना। यद्यपि अप्रस्तुत प्रशंसा एवं व्याज स्तुति जैसे अलंकारों में किसी विशिष्ट वस्तु की प्रशंसा या स्तुति का भाव कुछ झलकता है तौ भी वह किसी दूसरे ही रंग में रँगा रहता है और किसी दूसरे ही प्रकार रक्खा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि आचार्यों ने इसे कुछ विशेष महत्व नहीं दिया, प्रथम तो कवि लोग केवल देवताओं या अपने अपने इष्ट देवादि की स्तुति या प्रशंसा किया करते थे, और केवल धार्मिक भाव हीं से, अतः उसे आचार्यों ने एक प्रकार काव्य से परे ही जान मान लिया था, हाँ उसमें अन्य प्रकार के अलंकारों

की सत्ता एवं महत्ता अवश्य दिखला कर उसकी काव्यालोचना कर ली थी, किन्तु उत्तर काल में कवि लोगों ने अपने अपने राजाओं, हितैषियों एवं अन्य सज्जनों, की भी प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया, और उसे बहुत दूर तक खींच ले आये। तौ भी न जाने क्यों आचार्यों ने उसे एक पृथक् अलंकार नहीं माना। कदाचित यह ही देखा हो कि प्रशंसा का भाव एक आधार है जिस पर प्रायः सभी प्रकार के अलंकारों से अलंकृत काव्य का सुन्दर प्रासाद खड़ा रहता है अतः उस मुख्य या मूल भाव को न देख कर वे उसके ऊपरी भूषणों एवं साजों को ही देख संतुष्ट हो गये हैं।

हमारी समझ में यदि "प्रशंसा" या "स्तवन" (स्तुति या शुद्ध स्तुति) नामी एक अलंकार सबसे पृथक् मान लिया जावे तो अच्छा हो। इसके भेदों में व्याज स्तुति आदि को डाल दिया जा सकता है। अब यदि ऐसा एक अलंकार मान लें तो उसे यों रक्खेंगे।

स्तुति या प्रशंसालंकार—जिससे किसी वस्तु की प्रशंसा या स्तुति का भाव स्पष्ट हो। इसके भेद या रूप यों हो सकते हैं।

१—शुद्ध—जिसमें किसी प्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा सीधे सीधे और स्पष्ट रूप से बिना किसी अन्य अलंकार की सहायता के गुण महिमा के साथ की गई हो।

२—संकीर्ण—जिसमें प्रशंसादि की पुष्टि के लिये किसी विशेष अलंकार की सहायता ली जावे। शब्दालंकारों का समावेश सर्वत्रैव हो सकता एवं होता ही है। यहाँ अलंकारों से हमारा तात्पर्य केवल भाव या अर्थ परिपोषक अर्थालंकारों से ही है।

स्तुत्यादि की पुष्टि के लिये यों तो सभी अलंकार उपादेय हो सकते हैं, किन्तु विशेष रूप से निम्न अलंकार बहुत सुन्दरता के

साथ काम करते हैं और इसीलिये कवियों ने इनका उपयोग भी बहुत किया है।—१—उपमा (अपने भेदों के साथ) २—अत्युक्ति ३—अतिशयोक्ति ४—अपन्हुति ५—उत्प्रेक्षा ६—व्यतिरेक, ७—श्लेष ८—रूपक आदि

३—लुप्ताशयः—जहाँ प्रशंसा का आशय या भाव एक अर्थ गाम्भीर्य के चातुर्य-पटल से गुप्त या लुप्त सा हो तथा स्पष्ट-रूप से न प्रगट हो कर कुछ विशेष ध्यान देने पर ही सुबोध हो सकता हो।

४—श्लिष्टः—जहाँ पर प्रशंसा का भाव श्लेष के परदे में हो और विचार करने पर ही समझ में आवे, ऊपर से देखने पर कुछ दूसरा ही अर्थ दिखलाई पड़े।

५—विरोधात्मकः—जहाँ व्यंग्यार्थ या अन्य प्रकार के विरोध वैचित्र्य के साथ प्रशंसा का प्रकाश किया जावे।

६—उक्ति वैचित्र्यः—जहाँ किसी विचित्र उक्ति से प्रशंसा हो। कवि किसी की प्रशंसा तो करे किन्तु किसी प्रकार कहीं खेद या दुख दिखला कर उसी को विचित्र चमत्कार पूर्ण उक्ति से स्तुति में परिवर्तित कर दे—

यथा यथा भोज यशो विवर्धते
सितौं तिलोकी मिवकर्तुमुद्यतम्
तथा तथा मे हृदयो विदूयते,
प्रियाल काली धवलत्वशंकया।

७—प्रशंसारोपः—जहाँ किसी दूसरे की प्रशंसा करके कवि उसे किसी प्रकार अपने अभीष्ट व्यक्ति के ऊपर आरोपित करके उसकी स्तुति करता हुआ प्रशंसा दिखलाये।

(क) पक्षीयः—अपने इष्टव्यक्ति के किसी पुरजन, परिजन मित्रादि की प्रशंसा का आरोप कवि करे—

(ख) विपक्षीयः—जहाँ अपने नायक के विपक्षी या शत्रु की प्रशंसा को कवि उस पर घटित या आरोपित कर दे।

८ - सूच्यात्मकः—जहाँ सीधे सीधे किसी की प्रशंसा न की जावे किन्तु सब भाव का निष्कर्ष किसी इष्ट व्यक्ति की प्रशंसा या स्तुति को सूचित करे।

नोटः—इसे ध्वन्यात्मक भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें प्रायः प्रशंसा का भाव ध्वनि के ऊपर निर्भर रहता हुआ सूच्य दशा में रहता है, तथा स्तुति की उसमें से ध्वनि निकलती है और अन्त में उसकी छाया झलकती है!

९—परापकर्षोत्पन्नाः—जिसमें किसी दूसरे की निन्दा हो और इष्ट व्यक्ति की स्तुति या प्रशंसा उसी से या उसीके साथ प्रगट होती हो।

नोटः—इनके अतिरिक्त भी प्रशंसा या स्तुति के अनेक रूप मिलते हैं और रचे जा सकते हैं। हमने केवल यहाँ मुख्य मुख्य ही दिये हैं।

इसके सब से प्रधान रूप को आचार्यों ने व्याज स्तुति नाम से एक स्वतंत्र और मुख्य अलंकार माना है। जिसे हम प्रथम दिखला चुके हैं:—जहाँ निन्दा के व्याज से स्तुति की जाती है वहाँ व्याज स्तुति मानी जाती है—अर्थात् जहाँ देखने से तो ऐसा जान पड़े कि कवि उसी पदार्थ को निन्दा कर रहा है किन्तु वस्तुतः वह उसकी प्रशंसा या स्तुति ही करता हो।

इसके अनेकों रूप हो सकते हैं किन्तु मुख्य मुख्य इस प्रकार जानने चाहिये :—

शुद्धः—जहाँ किसी की निन्दा करने पर भी उसी के व्याज से स्तुति प्रगट होती है। इसके मुख्यतया ये रूप होते या हो सकते हैं।

१—स्पष्ट रूपाः—जहाँ भाव सब प्रकार स्पष्ट ही हो।

२—सूच्या या ध्वन्यात्मकाः—जहाँ भाव सर्वथा स्पष्ट न हो कर सूच्य या व्यंग्य रूप में ही हो। उसमें व्यंग्य एवं ध्वनि की पुट लगी हुई हो।

३—आत्मगताः—जहाँ अपनी निन्दा के व्याज से अपनी ही स्तुति की जावे।

४—गूढार्थाः—जहाँ इस प्रकार के पदों से निन्दा की जावे कि उसके गूढार्थ को खोलने पर स्तुति ज्ञात हो।

आत्म प्रशंसा (सिंहनाद)—जहाँ कवि अपनी प्रशंसा आप ही करता है। इसके भी कई रूप होते या हो सकते हैं:—

१—स्पष्ट—जहाँ सीधे सीधे कवि आत्मश्लाघा करे।

२—संकीर्णा:—जहाँ अन्योक्तादि अलंकारों के आधार पर आत्मश्लाघा रख कर इन्हीं की सहायता से वह ऐसा करने में समर्थ हो सके—

यहाँ ध्वनि एवं व्यंग्य की भी पुट लगाई जाती है—

३—श्लिष्टा—जहाँ कवि श्लेष की पुट देकर अपनी प्रशंसा करता हुआ अप्रस्तुत वस्तु की भी प्रशंसा करे—

४—सांकेतिकः—जहाँ उस व्यक्ति या समाज की स्तुति की जावे जो अपने ही समान या अपनी ही समाज का हो, और इस प्रकार अपने को उसी के समान या उसी समाज का एक व्यक्ति दिखलाते एवं सूचित करते हुये, अपनी भी स्तुति की जावे, या उस स्तुति का अपने पर आरोपण किया जावे। इसे तर्कानुमानात्मक भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें तर्क की पुट रहती है:—चूँकि यह समाज या व्यक्ति-स्तुत्य है अतः इसका सम्बन्धी यह व्यक्ति भी स्तुत्य है।

५—अव्यक्ता—जहाँ किसी की सीधे सीधे स्तुति न की जावे, वरन् ऐसे पद रक्खे जावें कि उनके अर्थों के देखने पर स्तुति ज्ञात हो।

इसी प्रकार अव्यक्त निन्दा भी हो सकती है।

६—परारोप—जहाँ कवि अपनी प्रशंसा करके उसी के आधार पर किसी दूसरे की प्रशंसा या महत्ता सूचित कर दे। और सम्पूर्ण गौरव का आरोपण दूसरे व्यक्ति पर हो जावे।

७—स्वारोपः—जहाँ किसी दूसरे की प्रशंसा स्पष्ट रूप से की जावे, किन्तु उसी का अन्त में आरोप अपने ऊपर हो जावे। और यह सूचित हो कि ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला अवश्य ही प्रशंसनीय है। इसी के विलोमरूप में पर निन्दा से आत्मनिन्दा और आत्म-निन्दा से परनिन्दा हो सकती है।

स्तुति (प्रशंसा)

शुद्धाः—१—शृंगारात्मक—जिसमें आंगिक सौंदर्य एवं वस्त्राभूषण-सौंदर्य का वर्णन हो।

२—चारित्रिक—जिसमें चरित्र एवं मन की उच्चता और उज्वलता की प्रशंसा हो।

३—गुणात्मकः—जिसमें किसी के गुणों का गान करके उसके सत्कर्मों और उसके यश की प्रशंसात्मकः स्तुति की जावे।

४—वाह्योपचारात्मकः—जहाँ किसी के वहिरंग उपकारणों जैसे शान-शौकत के साज-सामान सभा, मित्रों एवं धन धान्यादि की समृद्धि-वृद्धि दिखलाते हुये प्रशंसा की जावे।

निन्दा एवं व्याज निन्दा

जहाँ किसी की निन्दा का भाव प्रगट होता हो वहाँ निन्दा नामी अलंकार माना जा सकता है। इसमें किसी प्रकार के व्याज या बहाने आदि की आवश्यकता नहीं।

इसके निम्न रूप हो सकते और होते हैं:—

स्पष्टाः—जहाँ स्पष्ट रूप से निन्दा का भाव प्रगट हो।

संकीर्णाः—जहाँ किसी अलंकार की सहायता से निन्दा का भाव स्पष्ट हो।

सूच्याः—जहाँ निन्दा का भाव स्पष्ट न हो, वरन् केवल छिपे हुये परदे से ध्वनि एवं व्यंग्य की पुट के साथ वह कुछ कुछ झलकता हो, और उसकी केवल सूचना ही मिलती हो।

इसके भी कई रूप हो सकते हैं, मुख्य ये हैं—

साधारणः—जिसमें साधारणतया व्यंग्यादि से निन्दा व्यक्त हो।

विशेषः—जिसकी स्पष्टता के लिये कुछ ऊपर से घटनादि के जानने की आवश्यकता हो।

> चंदन कर्दम कलहे मंडूको मध्यस्थो गतः।
> ब्रूते पंक-निमग्नः कर्दम समतां न चंदनो याति॥

निन्दारोपः—जहाँ अपनी या किसी अन्य की निन्दा का चतुरता के साथ दूसरे पर आरोपण कर दिया जावे।

श्लिष्टाः—जहाँ श्लेष की सहायता से निन्दा का भाव प्रगट हो।

विरुद्धाः—जहाँ किसी प्रकार के विरोधी शब्दों के द्वारा निन्दा की गई हो।

(१) सब प्रकार प्रशंसा करके जहाँ अन्त में एक ऐसी बात कह दी जावे कि उसके कारण सब का भाव निन्दा में बदल जावे।

(२) जहाँ कुछ पद प्रशंसा सूचक और कुछ प्रौढ़ पद निन्दा सूचक हों और इस प्रकार प्रशंसा सूचक पद निन्दा को प्रौढ़ कर देते हों।

सुन्दर रूप भयानन आनन कानन लौं विकटानन साजू।

विशिष्टा या अव्यक्ताः—जहाँ शब्दों या पदों के गूढ़ार्थों के खोलने पर निन्दा का भाव व्यक्त हो। यथाः—

देवी को वाहन जानि कै आये,
पै गद्दी पै देख्यो तौ सीतला वाहन।

नोटः—स्तुति, निन्दा, (व्याज स्तुति एवं व्याज निन्दा) के भेदों का वर्गीकरण यों भी कर सकते हैंः—

१—देवात्मक—जिसमें किसी देवता की स्तुति एवं निन्दा (व्याज के बिना और व्याज के साथ) की जावे। यथा— स्तोत्रादि आदि में।

२—मानवात्मकः—जिसमें किसी मनुष्य की स्तुति एवं निन्दा (व्याज रहित या व्याज सहित रूप में) की जावे।

३—निसर्गात्मकः—जिसमें प्रकृति या प्रकृति के पदार्थों की स्तुति या निन्दा (व्याज रहित या व्याज सहित रूप में) हो।

अब इनके भी यों उपभेद हो सकते हैं :—

१—देवात्मकः—(क) १—इष्टदेवात्मकः—जिसमें कवि अपने इष्टदेव को ही ले।

(ख) २—साधारणः—जिसमें कवि किसी भी देवता को ले।

२—मानवात्मकः—(क) आत्मगताः—इसमें कवि अपनी ही स्तुति या प्रशंसा करता है, या अपने आत्मीय जन या वंश की प्रशंसा करता है। जहाँ कवि अपनी प्रशंसा करता है वहाँ सिंहनाद माना जाता है।

(ख) परगताः—जिसमें कवि किसी दूसरे मनुष्य की स्तुति या निन्दा (व्याज सहित या व्याज रहित) करे।

१—वंश, कुल या जाति सम्बन्धी—जिसमें किसी जाति, वंश या कुल आदि की स्तुति या निन्दा हो।

'कायस्थेनोदरस्थेन मातुरामिषशंकया
अंत्राणि यन्न भुक्तानि तत्र हेतुरदन्तता।

२—मित्र या इष्ट जन—जिसमें कवि अपने मित्र, हितकारी एवं सहायकादि की प्रशंसा तथा अपने शत्रु आदि की निन्दा करता है।

३—निसर्गात्मकः—१—शुद्धाः—जिसमें स्पष्ट रूप से प्रकृति के किसी पदार्थ की (यथा वृत्त, चन्द्र सूर्यादि) स्तुति या निन्दा हो।

२—संकीर्णाः—जिसमें किसी अलंकार-अन्योक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसादि की पुट देकर प्रकृति के किसी पदार्थ की स्तुति या निन्दा किसी दूसरे पर घटित की जावे।

व्याज निन्दा

जहाँ किसी की स्तुति के व्याज या बहाने से किसी की निन्दा की जावे। इसके निम्न रूप हो सकते या होते हैं:—

१—स्पष्ट (शुद्ध):—जहाँ स्तुति के मिस से निन्दा स्पष्ट हो।

२—संकीर्णाः—जहाँ किसी अन्य अलंकार से सहायता ली जावे। इसमें अप्रस्तुत प्रशंसा, अन्योक्ति एवं वक्रोक्ति आदि अलंकारों का अच्छा सामंजस्य होता है।

सेमर तेरो भाग्य यह, कहा सराह्यो जाय।
पंछी करि फल-आश जो, तुहिं सेवत नित आय॥

नोटः—अलंकार सर्वस्व में इस रूप को अप्रस्तुत प्रशंसा ही माना है, किन्तु इसमें चूंकि निन्दा और स्तुति का कौतुक-पूर्ण चमत्कृत सामंजस्य रहता है, इसलिये अन्य आचार्यों ने इसे व्याज निन्दा ही ठहराया है। हाँ, इसे अप्रस्तुत प्रशंसा-संकीर्ण अवश्य माना है। यदि ऐसा न किया जावे तो व्याजस्तुति और व्याज-निन्दा नामी अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा की व्यापकता के कारण रह ही न सकेंगे।

३—श्लिष्टाः—जहाँ श्लेष की पुट से स्तुति में निन्दा हो।

तव कलत्र यह मेदनी, है भुजंग संसक्त।
कापै करत गुमान नृप, ह्वै तासों अनुरक्त॥

नोटः—जिस प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा, अन्योक्ति और श्लेषादि अलंकारों से इसमें सहायता ली जाती है उसी प्रकार इसकी सहायता रूपक, और उपमादि अलंकार भी करते व कर सकते हैं।

इसके प्रस्तुत, अप्रस्तुत एवं पर और आत्मीय के आधार पर निम्न रूप यों हो सकते हैं:—

१—प्रस्तुत की स्तुति से अप्रस्तुत की निन्दा।
२—अप्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की निन्दा।
३—पर-स्तुति से आत्मीय निन्दा।
४—परस्तुति से परनिन्दा।
५—आत्मीय स्तुति से परनिन्दा।
६—आत्मीय निन्दा से परनिन्दा।
७—परनिन्दा से परनिन्दा।
८—प्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की निन्दा।
९—अप्रस्तुति की स्तुति से अप्रस्तुत की निन्दा।
१०—प्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की निन्दा।
११—अप्रस्तुत की निन्दा से अप्रस्तुत की निन्दा।

हमारे बहुत से आचार्यों ने (यथा—मम्मट, विश्वनाथ, केशव, दास, देव, मतिराम, भूषणादि) दोनों को एक ही साथ रक्खा है और केवल एक ही नाम 'व्याजस्तुति' से दोनों को प्रगट किया है। साथ ही कुछ आचार्यों ने (जैसे जसवन्तसिंह, अप्पय, लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, दूलह, पद्माकर ने) व्याजस्तुति और व्याज निन्दा को पृथक् पृथक् ही रक्खा है। यह अवश्य है कि किसी भी आचार्य ने केवल स्तुति और केवल निन्दा (बिना व्याज के भाव के) के लिये इन्हीं नामों के साथ पृथक् पृथक् दो अलंकार नहीं दिये।

केशव, मतिराम, भूषण, जसवन्तसिंह, दूलह और गोकुल कवि ने केवल दो ही रूप दिये हैं:—

१—स्तुति के व्याज से निन्दा २—निन्दा के व्याज से स्तुति, और इस प्रकार ये व्याजस्तुति और व्याज निन्दा ही को बिना इनके दूसरे रूपों या भेदों के देते हैं।

भिखारीदास ने इसके (व्याजस्तुति के, जिसमें व्याज निन्दा भी सम्मिलित है) ४ भेद या रूप यों दिये हैं:—

१—निन्दा के व्याज से स्तुति।

२—स्तुति के व्याज से निन्दा।

३—स्तुति के व्याज से स्तुति।

४—निन्दा के व्याज से निन्दा। दास जी ने अप्रस्तुत प्रशंसा और व्याज स्तुति के विषय में यह भी कहा है कि ये दोनों कहीं तो मिल जाते हैं और कहीं पृथक् पृथक् रहते हैं।

"अप्रस्तुत परसंस अरु, व्याजस्तुति की बात।
कहुँ भिन्न ठहरात अरु, कहूँ जुगुल मिलि जात॥

का० नि०

लछिराम, और रामसिंह ने भी यही चार भेद दिये हैं। गोविन्द ने (१) स्तुति के व्याज से निन्दा और (२) निन्दा के व्याज से स्तुति ये दो रूप देते हुये (३) परस्तुति से परस्तुति और (४) पर निन्दा से पर निन्दा ये दो रूप दिये हैं। दूलह ने दास के ४ भेदों के साथ पर-निन्दा का रूप देकर ५ भेद दिये हैं। पद्माकर ने व्याजा स्तुति और व्याज निन्दा के मूल रूपों को देकर गोविन्द के दो रूप, जिनका सम्बन्ध परजन से है, (परस्तुति से परस्तुति और पर निन्दा से पर निन्दा) दिये हैं। देव जी ने केवल दो ही मूल रूप (१) अप्रस्तुत स्तुति में निन्दा और निन्दा में स्तुति) दिये हैं।

गुलाब कवि ने सबको लेकर साथ ही ६ रूप यों दिये हैं।

(१) स्तुति मिस निन्दा (२) निन्दा मिस स्तुति (३) पर निन्दा से परस्तुति (४) परस्तुति से परनिन्दा (५) परस्तुति से परस्तुति और (६) परनिन्दा से परनिन्दा।

आक्षेप

जहाँ किसी विवक्षित वस्तु की विशेषता के प्रतिपादनार्थ कुछ निषेध सा किया जावे, वहाँ आक्षेप माना जाता है।

विवक्षित (कहने की इच्छा, विवक्षा) वस्तु उसे जानना चाहिये जिसके वर्णन करने की इच्छा हो, यही वस्तु वर्ण्य या इष्ट वस्तु भी कही जाती है। जब किसी विशेष बात के लिये उसका निषेध सा किया जाता है--यथार्थ में निषेध नहीं होता, केवल उसकी कुछ छाया या उसका आभास मात्र ही होता है—तब आक्षेपालंकार माना जाता है। इसके दो रूप या भेद माने गये हैं :—

१—वक्ष्यमाणनिषेधाभासः—जहाँ विवक्षार्थ के वक्ष्यमाण (आगे कथन किये जाने वाले) विषय में, न कहने योग्य विशेष बात के कहने की इच्छा से निषेध का आभास होता है।

इसके भी दो रूप होते हैं:—

क—जहाँ साधारण रूप से सूचित की हुई सम्पूर्ण बात का निषेध सा किया गया हो।

ख—जहाँ एक अंश कहा गया हो और दूसरे अंश का निषेध सा किया गया हो।

(१) कृपण ! तिहारे चरित नित, कैहैं सुनिहैं लोग।
नहीं नहीं, तव नामहूँ, कबहुँ न लेबे जोग॥

(२) तव वियोग दुख सों भई, बाल विकल बेहाल।
कस 'रसाल' कहिये अधिक, भयो जु वाको हाल॥

२—उक्त विषया—जहाँ विवक्षितार्थ से कहे हुये विषय में (उक्त विषय में) किसी अति प्रसिद्ध विशेष बात के कहने की इच्छा से निषेध का आभास दिया जावे।

इसके भी दो भेद होते हैं :—

१—स्वरूप का निषेधः—जहाँ वस्तु के स्वरूप का ही निषेध सा किया जावे।

हौं नहिं दूती जो रचत, बात और की और।
अहित भयो राधहिं जु कछु, अजस तुम्हैं सब ठौर॥

२—वस्तु का निषेध :—जहाँ उक्त विषय में वस्तु का ही निषेध सा आभासित हो।

चन्दन चन्द्रक चंद्रिका, चन्द साल मणिहार।
हौं न कहौं, सब होंय ये, ताको दाहन हार॥

इनके साथ ही इसके अन्य रूप भी यों माने गये हैं :—

३—द्वितीयाक्षेपः—जहाँ पक्षान्तर के ग्रहण करने से उक्तार्थ का निषेध प्रगट हो।

भीष्म-द्रोण अन्याय सों, हत्यो तथा मोहिं तात।
कहैा कृष्ण न कहैा, सबै, कहिहै जग यह बात॥

४—तृतीयाक्षेपः—जहाँ कुछ विशेष बात के कहने की इच्छा से अभीष्ट बात में सम्मति या स्वीकृति सी दी गई जान पड़े और वास्तव में उसका निषेध भी किया गया हो।

जाहु जाहु परदेस पिय! मोहिं न कछु दुख पीर।
लहौं, ईश ते विनय यह, हौं हू तहां शरीर॥

—का० का०

काव्यादर्शकार ने इसे "अनुज्ञाक्षेप" की संज्ञा दी है।

केशव ने इसे यों दिया हैः—

"कारज के आरम्भ ही, जहँ कीजत प्रतिषेध।
आक्षेप तासों कहत, बहुविधि वरणि सुमेध॥

इसी के साथ आप प्रतिषेध का लक्षण यों देते हैं :—

"तीनहु काल बखानिये, भयो जु भाभी होत।
कवि कुल को कौतुक कहत, यह प्रतिषेध उदोत।

यह स्पष्ट ही है आपने आक्षेप को कार्यकारण तथा समय से सम्बद्ध माना है और यों इसके प्रचलित लक्षण से दूसरा ही लक्षण दिया है, यहाँ निषेध का भाव स्पष्ट रूप से नहीं दिखलाया।

भिखारीदास ने इसके तीन रूप दिये हैं। १—उक्ताक्षेप २—निषेधाक्षेप ३—व्यक्ताक्षेप। इसकी व्यापक परिभाषा यों दी है:—

"कहै कहन की विधि मुकुरि, कै आक्षेप सुवेस।

—का० नि० २६

फिर तीनों रूप यों दिये हैं:—

१—जहाँ बरजिये कहि इहै, अवसि करौ यह काज।

२—मुकर परत जेहि बात को, मुख्य वही जहँ राज॥

३—दूषि आपने कथन को; फेरि कहै कछु और।

मतिराम ने दास के समान ३ रूपों में आक्षेप को दिया है:—

१—जहाँ कहूँ निज बात को, समुझि करत प्रतिषेध।

२—जहाँ न साँच निषेध है, है निषेध आभास।

३—जहँ विधि प्रगट बखानिये, छप्यो निषेध प्रकाश।

भूषण ने केवल दो ही रूप दिये हैं:—(१) उक्ताक्षेप (२) निषेधाभास।

पहिले कहिये बात कछु, पुनि ताको प्रतिषेध।

जहँ निषेध अभास हो, भनि भूषन सो और।

मतिराम एवं दास के ही समान जसवन्तसिंह ने भी आक्षेप के तीन ही रूप दिये हैं:—

तीन भाँति आक्षेप हैं, एक निषेधाभास।

पहिलहि कहिये आपु कछु, बहुरि फेरिये तासु॥

दुरै निषेध जु विधि वचन, लच्छन तीनौ लेखि।

देव जी ने केवल साधारण रूप में ही इसका व्यापक लक्षण यों दिया है:—

"करत कहत कछु फेर सों, बर्जन बच आक्षेप।
—भा० वि० ९११

लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह, और पद्माकर आदि आचार्य दास और मतिराम के समान इसके तीन ही तीन रूप देते हैं और इस प्रकार अप्पय जी का ही अनुकरण करते हैं।

भिखारीदास ने इसे अन्योक्त्यादि वर्ग के अन्दर रक्खा है। निषेधाक्षेप को, भूषण, मतिराम, जसवन्त, लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, दूलह आदि, निषेधाभास के नाम से पुकारते हैं, शेष सभी लोग इसे निषेधाक्षेप ही कहते हैं।

केशवाचार्य ने इसके ९ रूप या भेद यों दिखलाये हैं:—

"प्रेम, अधीरज, धीरजनि, संशय, मरण, प्रकाश।
आशिष, धर्म, उपाय, कहि, शिक्षा केशवदास॥

फिर इनके लक्षण आपने यों दिये हैं:—

१—प्रेमाक्षेप—'प्रेम बखानत ही जहाँ, उपजत कारज बाधु।
२—अधैर्या०—प्रेम भंग बच सुनत ही, उपजत सात्विक भाव।
३—धैर्याक्षे०—कारज करि कहिये वचन, काज निवारन अर्थ।
४—शंशया०—उपजाये संदेह कछु, उपजत काज विरोध।
५—मरणा०—मरण निवारण करत जहँ, काज निवारण होय।
६—आशिषा०—आशिष पिय के पंथ को, देवै दुःख दुराय।
७—धर्माक्षे०—राखत अपने धर्म को, जहँ कारज रहि जाय।
८—उपाया०—कौनहु एक उपाय करि, रोकै पिय-प्रस्थान।
९—शिक्षा०—सुख ही सुख जहँ राखिये,
सिख ही सिख सुख दानि।

शिक्षाक्षेप के उदाहरण में आपने बारह मासा सा लिखा है। मम्मट जी ने आक्षेप के केवल दो ही रूप दिये हैं:—

"निषेधोवक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्त विषयः स आक्षेपोद्विधा मतः ॥

—का० प्र० ३०५

विश्वनाथ ने मम्मट के इन दो भेदों के दो दो भेद और दिये हैं:—

वस्तुनो वक्तु मिष्टस्य विशेष प्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥

—सा० द० ५४७

१—वक्ष्यमाणः—(क) सर्वस्व सामान्य निषेध ।
(ख) अंशोक्तावशांतरे निषेध ।

२—उक्तविषयेः—(क) वस्तुस्वरूप निषेध ।
(ख) वस्तु कथन निषेध ।

केशवदास को छोड़ कर (जिन्होंने ६ रूप देकर इसमें अच्छा विकास किया है) शेष सभी हिन्दी-आचार्य कुवलयानन्द के ही आधार पर चलते हैं ।

आक्षेप का अर्थ है "बाधा या मना करना" अतः इसमें किसी क्रिया या कार्य को ऐसे ढंग से कहा जाता है कि उसमें बाधा डालने का तात्पर्य प्रगट होता है। सुकवि दीन जी ने इसके ३ रूप यों दिये हैं:—

१—उक्ताक्षेपः—'जहाँ कथित निज बात को,
समुझि करिय प्रतिषेध ।"

अर्थात् जहाँ अपनी पूर्व कथित बात का निषेध कर दूसरी बात कही जावे ।

२—निषेधाक्षेपः—पहिले करै निषेध जो, फिर ठहरावै ताहि । या जहाँ प्रथम किसी बात से ईंकार किया जावे फिर अन्य प्रकार से उसकी स्थापना की जावे ।

३—करिबे की आज्ञा प्रगट, छिप्यो निषेध जु होय।

या जहाँ किसी कार्य के करने की आज्ञा में निषेध का भाव छिपा हो।

विरोध

जहाँ वस्तुतः विरोध नहीं होता फिर भी वहाँ जब विरोध दिखलाया जाता है तब विरोधालंकार जानना चाहिये।

ध्यान रखना चाहिये कि वास्तविक विरोध होने पर एक प्रकार का दोष हो जाता है। इसीलिये इस अलंकार में केवल विरोध का आभास ही दिखलाया जाता है, और वास्तविक विरोध नहीं। हमारी समझ में तो जहाँ वास्तविक विरोध भी हो वहाँ भी यह अलंकार मानना चाहिये, यदि उस वास्तविक विरोध का प्रदर्शन चमत्कार के साथ किया गया हो।

इससे १० रूप या भेद माने गये हैं:—

१—जाति का जाति से विरोध।
२—जाति का गुण से विरोध।
३—जाति का क्रिया से विरोध।
४—जाति का द्रव्य से विरोध।
५—गुण का गुण से विरोध।
६—गुण का क्रिया से विरोध।
७—गुण का द्रव्य से विरोध।
८—क्रिया का क्रिया से विरोध।
९—क्रिया का द्रव्य से विरोध।
१०—द्रव्य का द्रव्य से विरोध।

नोटः—यदि इन भेदों को विचार पूर्वक देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि ये गुण, द्रव्य, जाति और क्रिया के ही ऊपर वास्तव में समाधारित हैं।

जहाँ विरोध का चमत्कार अकेले ही रहता है वहाँ तो शुद्ध विरोध ही मानना चाहिये, किन्तु जहाँ इसके साथ किसी दूसरे अलंकार का भी सामंजस्य हो वहाँ संकीर्ण विरोध ही कहना उचित होगा। इस प्रकार विरोध के प्रथम दो भेद हो जाँयगे।

१—शुद्ध विरोध। २—संकीर्ण विरोध।

विरोध का भाव प्रायः निम्न शब्दों के द्वारा या उनके साथ प्रगट किया जाता है, अतः ये शब्द या पद विरोध वाचक हैं:—

ज्यों ज्यों, त्यों त्यों, जैसे जैसे, तैसे, यद्यपि (यदपि) तऊ, तौहू तथापि, अपि, और हू आदि (तथा इनके पर्यायी वाची शब्द या पद)।

जहाँ ये वाचक स्पष्ट रूप से विरोध की सूचना देते हैं वहाँ शुद्ध सर्वाङ्ग विरोध (स्पष्ट विरोध) है, किन्तु जहाँ इन शब्दों का लोप रहता है तथा विरोध का भाव व्यंग्य, लक्षित, या सूच्य रूप में रहता है वहाँ लुप्त विरोध अथवा विरोध ध्वनि कहना चाहिये।

विरोध के भाव को उक्त वाचक शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों या पदों के द्वारा भी सूचित कर सकते हैं।

इस प्रकार विरोध के निम्न भेद और हो जाते हैं:—

१—स्पष्ट विरोध (सवाचक)—वाचक शब्द के साथ जहाँ विरोध हो।

सखि लखि तव द्रग चपल गति, ह्वै किहि को विश्वास।
कृष्णार्जुन अनुरक्त तऊ, करन निकट नित वास॥

२—वाचक लुप्त विरोध—जहाँ उक्त वाचक पदों का लोप हो।

३—विरोध ध्वनि—यथा—सखर सुकोमल मंजु,
दोषरहित दूषन सहित।

४—सांकेतिक विरोध—
रीझी सी दिखाति है 'रसाल' एक लोचन मैं,
खीझी सी दिखाति बाल दूसरे नयन मैं॥

५—श्लिष्ट विरोध—यथाः—कृष्णार्जुन अनुरक्त पै,
करन निकट नित वास।

ध्यान रखना चाहिये कि विरोध दिखलाने में चातुर्य-चमत्कार अवश्य ही रहे, तभी यह अलंकार हो सकता है। यद्यपि हमारे आचार्यों ने वहीं पर यह अलंकार माना है जहाँ वास्तव में विरोध न हो, किन्तु उसका आभास अवश्य ही दिखलाई पड़ता हो, किन्तु हमारा विचार इसके साथ ही साथ यह भी है कि जहाँ वास्तव में भी विरोध हो वहाँ भी विरोध अलंकार मानना चाहिये और उसे सत्य विरोध कहना चाहिये। विरोध अलंकार के साथ हम अन्य अलंकारों को भी रख सकते हैं और इस प्रकार कई प्रकार के मिश्रालंकार बना सकते हैं। विरोध में प्रायः श्लेष और अतिशयोक्ति (अत्युक्ति एवं विचित्र) बड़ी चारुता एवं रोचकता के साथ आते हैं।

केशव ने इसका लक्षण यों दिया है :—

'केशव जहाँ विरोध में, रचियत वचन विचारि।
तासों कहत विरोध सब,.........

आपने इसके भेदोपभेद नहीं दिये और केवल अर्थ-विरोध पर ही बल दिया है। भिखारीदास ने इसकी परिभाषा यों देकर :—

"कहत, सुनत, देखत जहाँ, है कछु अनमिल बात।
चमत्कार युत अर्थ युत, सो विरुद्ध अवदात॥

यह दिखलाया है कि सत्य विरोध भी (जो देखने सुनने आदि से स्पष्ट हो) विरोध के अन्दर है, तथा अर्थ-विरोध का ही इसमें चमत्कार हो और इससे अनमिल बात जान पड़े। शब्द विरोध को (जहाँ परस्पर विरोधी शब्दों का ही प्राधान्य रहता है, चाहे उनके अर्थ से विरोध स्पष्ट हो या न हो) आपने स्थान नहीं दिया। आपने मम्मट के अनुसार इसके द्रव्य, गुण, जाति एवं क्रिया के आधार पर (जिन्हें हम ऊपर दे चुके हैं) दस भेद दिखाये हैं। हाँ आपने इसे विरोध न कह कर विरुद्ध ही कहा है।

मतिराम, जसवन्तसिंह तथा इधर के अन्य आचार्य इसे विरोधाभास के नाम से लिखते हैं (जैसा अप्पय दीक्षित ने लिखा है) कुछ ने इसे द्वितीय विषम कहते हुये विषमालंकार का एक भेद माना है। भिखारीदास ने इसे विरुद्ध की संज्ञा देकर यों भी लिखा है।

"है विरुद्ध अविरुद्ध में, बुधि बल सजे विरुद्ध।"

नोटः—विरोध को निम्न भेदों में भी विभक्त कर सकते हैं।

१—अतिशयोक्ति गर्भा—अतिशयोक्ति के साथ जहाँ विरोध हो।

२—श्लिष्ट विरोध—जहाँ श्लेष से विरोध (एक अर्थ में) हो जहाँ श्लेष से विरोध न हो (दूसरे अर्थ में)

३—शब्द-विरोध—जहाँ ऐसे शब्द दिये गये हों जो परस्पर विरोध रखते हों। अर्थ से चाहे विरोध का भाव निकले, या न निकले।

४—अर्थ-विरोध—जहाँ विरोध का भाव शब्दों से तो सूचित न हो किन्तु अर्थ से ही हो।

५—सोपमा विरोध—जहाँ विरोध को उपमा के साथ स्पष्ट किया गया हो।

चन्द्रमुखी तुम बिन भई ज्वालामुखी समान।

६—सत्य विरोध—जहां दो या अधिक वस्तुयें ऐसी वर्णित हों जिनमें स्वभावतः ही परस्पर विरोध हो।

७—विरोधमाला—जहाँ विरोध सूचक बातों, पदार्थों या वस्तुओं की एक माला सी बनाई गई हो।

८—विरोधाभास—जहाँ वस्तुतः विरोध तो न हो पर वह किसी प्रकार आभास-रूप में दिखलाया अवश्य जावे।

९—असत्य विरोध—जहाँ वस्तुओं एवं बातों में यथार्थतः विरोध न हों, किन्तु किसी कारण वश उनमें विरोध हो गया हो तथा वही दिखाया गया हो।

वा विरहिन को चाँदिनी, लागति है जनु घाम।

१०—सोत्प्रेक्षा विरोध—जहाँ विरोध के साथ ही साथ उत्प्रेक्षा भी हो। इसी प्रकार सरूपक विरोधादि भी जानने चाहिये।

मानौ है ज्वालामुखी, चन्द्रमुखी वह लाल।

११—नष्ट विरोध—जहां विरोधी बातें या वस्तुयें तो हों किन्तु उनमें (किसी कारण) विरोध का भाव न रह गया हो, और वह दिखाया भी न गया हो।

(क) सूच्या—अपनो प्रखर प्रताप यों, उपज्यो आय निदाघ।
तजि विरोध एकत बसत, अहि मयूर मृगवाघ॥

(ख) स्पष्टा—वृषभ, सिंह, अहि, मोर हू, तजि विरोध भे मित्र।
धन्य धन्य शिव रावरी, महिमा बड़ी विचित्र॥

(ग) हेत्वात्मक—जहाँ विरोध का कारण भी दिया गया हो।

१२—विरोध-कुतूहल—जहाँ विरोधी शब्दों एवं पदों के द्वारा एक ओर ते विरोध का भाव दिखलाई पड़े, परन्तु वास्तव में वहाँ विरोध न दिखलाया गया हो, वरन् उन शब्दों या पदों को कवि ने किसी दूसरे ही मंतव्य से रक्खा हो। वह विरोध दूसरे रूप या अर्थ (तात्पर्य) से बिलकुल ही दूर हो जाता हो और यथार्थ में उससे कुछ भी मतलब न हो, वह व्यर्थ ही (केवल तनिक कुतूहल के ही लिये) रक्खा गया हो।

बाँझ कुपूत बिना अँखियान कुहू निसि में ससि पूरन देखै।

ऐसा प्रायः अन्तर्लापिकादि के कौतुकों में बहुत देखा जाता है। कहीं कहीं पदों की व्यवस्था या अन्वय में तनिक हेरफेर कर देने से ही (और वह वस्तुतः अभीष्ट ही हो) विरोध का भाव नष्ट हो जाता है।

पाप करै सो तरै तुलसो कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये।

१३—सार्थक विरोध—जहाँ विरोध सार्थक ही हो, वह केवल देखने ही में हो, किन्तु वह सार्थक किया गया हो।

इसी प्रकार इसके और भी भेद किये जा सकते हैं।

नोटः—ध्यान रहे कि यह अलंकार अद्भुत रस में बड़ी चारुता लाता है, और वस्तुतः उसी से सम्बन्ध भी रखता है। ध्यान रहे कि विरोधाभास में विरोध (असत्य एवं अवास्तविक विरोध) का आभास मात्र रहता है, किन्तु द्वितीय विषम में सत्य विरोध का भाव कार्य-कारण-सम्बन्ध के साथ दिया जाता है।

विरोधाभास

कुछ आचार्यों ने विरोध ही को विरोधाभास कहा है और यों इन दोनों को एक ही अलंकार माना है, किन्तु कुछ आचार्यों के मत से ये दोनों (विरोध एवं विरोधाभास) अलंकार पृथक और स्वतंत्र हैं।

जिन्होंने इन दोनों को एक माना है वे अप्पय दीक्षित के अनुयायी जान पड़ते हैं। मम्मट और विश्वनाथ ने भी यही बात मानी है। हिन्दी के कुछ आचार्यों ने इन्हें पृथक माना है।

केशवदास ने इसकी परिभाषा यों दी है :—

"बरनत लगै विरोध सों, अर्थ सबै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह, समुझत सबै सुबोध॥

इससे यह ज्ञात होता है कि आप यहाँ पर शाब्दिक विरोध को ही प्रधान मानते हैं, (कदाचित आपने विरोध नामी अलंकार में अर्थगत विरोध को प्रधान माना है) इस प्रकार आपने विरोध को दो रूपों में दिखलाया है—१—शाब्दिक (विरोधाभास) और
२—अर्थगत (विरोध)

नोटः—हमारी समझ में भी विरोध और विरोधाभास को पृथक ही पृथक मानना चाहिये, जहाँ वास्तविक विरोध (विरुद्ध शब्दों, बातों, एवं पदार्थों के द्वारा) प्रगट किया गया हो वहाँ तो विरोध और जहाँ विरोध का आभास मात्र केवल अर्थ या भाव के द्वारा दिखलाया गया हो वहाँ विरोधाभास मानना चाहिये (विरोध का आभास मात्र जहाँ हो वहीं विरोधाभास है, यह शब्द के अर्थ ही से स्पष्ट है)। इसी प्रकार शाब्दिक विरोध वहीं मानना चाहिये जहाँ केवल ऐसे शब्द दिये गये हों जिनमें परस्पर विरोध तो हो या जो एक दूसरे के विरोधी या विरुद्ध तो हों, किन्तु उनके

अर्थों से जो भाव निकले उनमें विरोध का तात्पर्य न हो। किन्तु जहाँ शब्द तो विरोधी न हों किन्तु भाव या अर्थ विरोधमूलक हो वहाँ अर्थगत विरोध ही मानना ठीक होगा, और जहाँ इन दोनों के अतिरिक्त विरोध का केवल आभास ही दिया गया हो वहाँ विरोधाभास ही मानना उपयुक्त होगा, जैसा दास जी ने माना है।

भिखारी दास ने इसका लक्षण यों दिया है और इसे विरोध (विरुद्ध) से पृथक या स्वतंत्र माना है :—

> "परैं विरोधी शब्दगन, अर्थ सकल अविरुद्ध।
> कहैं विरोधाभास तेहि, दास जिन्हैं मति सुद्ध॥

इस अलंकार के आपने (तथा अन्य आचार्यों ने भी) भेदोपभेद नहीं दिखलाये। भूषण, मतिराम, रामसिंह, और गोविन्द, ने प्रायः एक ही ढंग पर इसकी परिभाषायें दी हैं।

सब का मूल लक्षण यही है कि जहाँ देखने में तो विरोध सा लगै, किन्तु वास्तव में विरोध न हो, वहाँ विरोधाभास होता है। जसवन्तसिंह, दूलह और गोकुल ने वहीं पर इसकी सत्ता मानी है जहाँ पर वास्तविक तात्पर्य के ही अनुकूल शब्दों एवं पदों का अर्थ या भाव प्रगट हो, किन्तु देखने में जहाँ विरोध का आभास भासित हो। लछिराम ने लिखा है कि जहाँ प्रगट रूप में विरोध का आभास यमकयुक्त पदावली के साथ हो वहाँ विरोधाभास होता है—

> "जमक युक्त जाहिर किये, जहँ विरोध सो भास।"

इसमें आपने यमक को और रख दिया है, यह न जाने क्यों? पद्माकर ने भी इसी प्रकार कुछ विशेषता यों दिखाई है, कि जहाँ झूठ या असत्य विरोध हो वहीं विरोधाभास मानना चाहिये—

"कहत विरोधाभास तहँ, झूठो जहाँ विरोध।"

हमारी समझ में पद्माकर ने इससे यह सूचित किया है कि जहाँ उन वस्तुओं, पदार्थों या बातों में भी विरोध दिखलाया जावे जिनमें वस्तुतः विरोध नहीं है, और इस प्रकार असत्य विरोध का आरोप या स्थापन सा किया जावे, वहीं विरोधाभास मानना चाहिये—हमने भी इस रूप या भाव को अपने भेदों में दिखलाया है।

नोटः—विरोध एवं विरोधाभास का यही विवरण प्रायः प्रतिष्ठित ग्रंथों में पाया जाता है, हम ने यहाँ इनके कुछ नये भेद या रूप प्रथम दिखलाये हैं।

विभावना

जहाँ बिना किसी हेतु या कारण के ही किसी कार्य की उत्पत्ति कही जावे वहाँ विभावना नामी अलंकार माना जाता है।

" विभाव्यते विचार्यते हेतुरस्यामिति विभावना " अथवा " विभावयति कारणान्तरं कल्पयति इति विभावना शब्दोऽपि अन्यर्थः, प्रसिद्ध कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्हि स्वस्य कारणान्तरं कल्पयति"

जहाँ किसी क्रिया के प्रतिषेध एवं निषेध में भी फल को व्यक्त किया जावे वहाँ विभावना मानी जाती हैः—

" क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फल-व्यक्तिर्विभावना "

—का० प्र०

" विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्य जन्म चेत् "—चन्द्रा०

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते—सा० द०

नोटः—किसी कार्य का कारण तो न कहा गया हो, या इसका प्रकाशन तो न हुआ हो, किन्तु कार्य व्यक्त हो तथा उसी के आधार पर कारण की चमत्कृत कल्पना की जावे अथवा यथार्थ या वास्तविक कारण के स्थान पर किसी दूसरे विचित्र कारण की कल्पना की जावे, यही इसके मूलतत्व हैं। इसके मुख्यतया २ भेद हैं :—

१—उक्तनिमित्ता—जहाँ वास्तविक कारण के स्थान पर किसी काल्पनिक कारण को ही व्यक्त किया गया हो।

निगरि गयो निसि-तम सबै, विमल मयंक अनूप।
दरसत ताके उदर में, ताको स्याम स्वरूप॥

२—अनुक्तनिमित्ता—जहाँ वास्तविक कारण या हेतु तो कहा हो न गया हो (जैसा लक्षण के नियम में है) कार्य का कल्पित कारण भी उक्त न हो।

चितवन चोखी रावरी, कियो बावरी मोंहिं।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये इसमें वास्तविक कारण सदैव छिपा ही रहता है, उसी के स्थान पर किसी अन्य कारण की कल्पना की जाती है। अब यह काल्पनिक कारण दो प्रकार का ही मुख्यतया हो सकता है:—१—वह कारण जो वास्तविक कारण के साथ कुछ समानता रखता हो, २—वह कारण जो वास्तविक कारण का विरोधी हो। प्रथम रूप में तो इसमें उपमा का आधार रक्खा जाता है और साम्यभाव (काल्पनिक एवं यथार्थ कारणों में) प्रधान रहता है। दूसरे रूप में विरोध को इसका आधार बनाया जाता है, अतः इसे हम विरोध मूलक भी कह सकते हैं:—

निरखि स्याम-तन साँवरो, बूझति कारण काह।
दहि दहि ऐसो ह्वै गयो, लखि तब ससि मुख आह॥

विरोधमूलकः—जहाँ विरोधाभास की भी पुट दी गई हो—

राधे तेरो चंद मुख, उर उपजावत दाह।

यहाँ चन्द्र का शरीर (जो शीतल है) नायिका के चंद्र मुख को देख जल कर काला हो गया है, यों कह कर विरोध की झलक दी गई है।

ध्यान रखना चाहिये कि विरोध एवं विरोधाभास से यह पूर्ण-तया पृथक ही है—दोनों में बड़ा अन्तर है।

विरोधाभास में दोनों (कार्य एवं कारण) परस्पर वाध्यता से प्रतीत होते हैं किन्तु यहाँ कारण के अभाव से कार्य की वाध्यता होती है, और कार्य से कारणाभाव की वाध्यता नहीं होती, यही दोनों में मुख्य अन्तर है।

" विरोधाभासे उभयमेव परस्परं वाध्यतया प्रतीयते, इह तु कारणाभावे न कार्यमेव वाध्यतया प्रतीयते, न तु कार्येण कारणा-भावोऽपि वाध्यतया प्रतीयते " इति भेदः—

—टि० का० प्र०

कार्य एवं कारण यहाँ निम्न रूपों में विभक्त हो सकते हैं।

कार्यः—१—इष्ट या अभीष्ट या ईप्सित
२—अनभीष्ट, अनिष्ट या अनीप्सित
क—साधारण
ख—विशिष्ट—१—मानवी २—दैवी

कारण—१—साधारण एवं सहायक हेतु, दूरवर्ती
२—विशिष्ट, प्रधान, तात्कालिक या निकटवर्ती
क—वास्तविक, सत्य
ख—काल्पनिक
ग—असत्य
घ—ज्ञात (गोपनीय एवं अगोपनीय)
ङ—अज्ञात (गोपनीय एवं अगोपनीय)
च—अज्ञेय

साहित्य दर्पण में उक्त दो ही भेद दिये गये हैं, काव्यप्रकाश में इसके कोई भी भेद नहीं दिये गये। अप्पय दीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में इसके ६ भेद दिखलाये हैं:—

१—जहाँ बिना कारण के ही कार्य का जन्म (सिद्धि) होता हुआ दिखलाया जावे।

नोट:—इसको हम यों भी ले सकते हैं कि कोई भी कारण न हो किन्तु तौ भी कार्य का जन्म हो जावे, यह दैवी रहस्यमूलक ही ठहरता है, वस्तुतः तो ऐसा हो ही नहीं सकता, प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण तो अवश्य ही होता है चाहे हम उसे जान पावें या न जान पावें, यह दूसरी बात है—"कारणाभावे कार्याभावः" अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का अभाव रहता है, बिना कारण के कार्य नहीं होता, इसके अनुसार प्रत्येक कार्य का कारण होना ही चाहिये, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात हो।

यदि कारण ज्ञात है तो उसका व्यक्त करना या न करना अथवा उसे छिपा कर उसके स्थान पर किसी दूसरे काल्पनिक कारण को व्यक्त करना कवि के हाथ में है। इस अलंकार में मूलरूपेण आवश्यक बात यही है कि कारण तो ज्ञात रहे किन्तु वह छिपा दिया गया या अव्यक्त रक्खा गया हो और उसके स्थान पर कोई दूसरा काल्पनिक कारण दे दिया गया हो (या न भी दिया गया हो वरन् सूचित ही कर दिया गया हो, यथा अनुक्तनिमित्ता नामी भेद में) इस अलंकार में यह आवश्यक नहीं कि कारण अज्ञात हो, हाँ ऐसा हो सकता है अवश्य, किसी अज्ञात कारण के समय या स्थान पर भी काल्पनिक कारण दिया जा सकता है किन्तु हमारी समझ में यहाँ वैसा अलंकार-सौंदर्य न रहेगा जैसा वह प्रसिद्ध कारण के छिपाने तथा उसके स्थान पर किसी दूसरे विलक्षण काल्पनिक कारण के ही दिखाने में होता है।

यह भी होता एवं हो सकता है कि अकस्मात ही होने वाले किसी दैवी कार्य का कारण किसी प्रकार ज्ञात ही न हो सके, ऐसी अवस्था में उस कार्य के केवल काल्पनिक कारण का दिखलाना ठीक है, परन्तु इससे भी अलंकारिता का अभाव ही सा रहेगा। अब कोई ऐसा कार्य हो जिसका कोई कारण ही न हो, यह उक्त सूत्र के सामने असिद्ध एवं असंभाव्य ही है। कवि-संसार में यह हो सकता एवं होता है और वहाँ कार्य बिना कारण के ही समुत्पन्न होता हुआ दिखलाया जा सकता या जाता है।

भेदः—१—अज्ञात निमित्ता—जहाँ कारण के अज्ञात होने, से केवल काल्पनिक ही कारण दिया जावे, या यह कहा जावे कि हेतु ज्ञात नहीं, किन्तु यह हेतु हो सकता है।

जानत नाहिं कि हेतु कहा, हरि आजुहूँ आये इतै अरी नाहीं।
होइहै बीसोबिसे यह हेतु, कि कूबरी आवन देति है नाहीं॥

२—अज्ञेय निमित्ता—किसी दैवी कार्य का कारण जहाँ जाना ही न जा सके। ऐसी दशा में कारण दिया ही न जावे और यह कहा जावे कि कारण ज्ञात ही नहीं हो सकता, या वह दैवी कारण है जो अज्ञेय है—

जानो न जाय कि हेतु कहा, पै सखी यह कारज ह्वै ही गयो है।
हेतु कछू अरी दैविक है, वह जानो न जाय बतावैं कहा तौ॥

१—निमित्तसूच्याः—निमित्त या हेतु जिसमें व्यक्त न हो वरन् सूचित अवश्य ही रहे।

निरखि नैन तव मद भरे, मतवारे भे स्याम।

२—विरुद्ध निमित्ताः—जिसमें कार्य के वास्तविक कारण का विरोधी कारण दिया जावे।

३—लुप्ता - जहाँ ऐसे पद या शब्द जैसे, हेतु यहै, जानै कौन हेतु और कारण कहा है आदि का लोप रहे।

४—स्पष्टा—जहाँ कारण, एवं हेतु आदि सूचक शब्द स्पष्ट रूप से दिये गये हों।

हेतु यही सूझत हमैं, तैं कछु कियो गुमान।
रूठि रहे आवत नहीं, गये बुरो हरि मान॥

५—विपर्ययः—जहाँ सभी प्रसिद्ध कारणों की उपस्थिति में भी कार्य का अभाव हो।

होति अवनो पै हानि धर्म की जबैई सबै,
होति त्यों अधर्म की जबैई बढ़वारी है।
आवत हैं अवतार लैकै तब दीनबंधु,
ऐसियै विरद विस्व वेदन पुकारी है॥
आजु अवनी पै हानि धर्म की सबैई भई,
होति त्यों अनीति अरु हाय अनाचारी है।
सुकवि 'रसाल', कहै तौहू क्यों न जानै हाय,
इत पग धारो न अबैलौ पगधारी है॥

२—जहाँ कारण की असमग्रता में भी कार्य को उत्पत्ति होती है।

तिय कित कमनैती सिखी, बिन जिहि भौंह कमान।
चल चित बेधत, चुकत नहिं, बंक विलोकन बान॥
—विहारी

नोटः—यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि एक कार्य के अनेक कारण भी होते हैं (केवल एक ही नहीं), हाँ उनमें से एक तात्कालिक एवं प्रधान होता है तथा दूसरे दूरवर्ती एवं सहायक या गौण से रहते हैं (१) जहाँ सभी कारण हों और कार्य न हो वहाँ तो इसका प्रथम रूप होगा और (२) जहाँ कारण (चाहे वह एक ही हो) अपने पूर्ण रूप में न होकर ही (कारण एक हो वह भी अपने

सर्वांश या पूर्ण रूप में न हो) कार्य की उत्पत्ति कराता है वहाँ दूसरा रूप जानना चाहिये। एक का सम्बन्ध कारणों की संख्या से और दूसरे का कारण की मात्रा या उसके परिमाण से है। ये दोनों भाव यहाँ असमग्रता शब्द से ही सूचित हो जाते हैं।

३—जहाँ एक या अनेक प्रतिवंधकों (रुकावटों या विरोधी हेतुओं) के भी रहने पर कार्य की उत्पत्ति हो जावे।

इसके मुख्य रूप यों हो सकते हैं:—

क—यथार्थ प्रतिवंधकात्मक—जहाँ प्रतिवंधक सत्य हों

ख—व्याज प्रतिवंधकात्मक—जहाँ प्रतिवंधक सत्य न हों वरन् केवल बहानों के रूप में या दिखावटी ही हों।

ग—साधारण—जहाँ प्रतिवंधक साधारण हों।

घ—विशिष्ट—जहाँ प्रतिवंधक विशेष रूप के हों।

४—जहाँ किसी ऐसे कारण से कार्य की उत्पत्ति हो जो वस्तुतः उस कार्य का प्रसिद्ध कारण नहीं है।

इस रूप में कार्य और उसका कारणान्तर दोनों ही प्रायः केवल काल्पनिक ही से रहते हैं। ध्यान रखना चाहिये इसमें चमत्कार-चातुर्य के ही आधार पर यह कुतूहल किया जाता है।

> बेधत अनियारे दृगन, वेधत करत न खेद।
> बरबस बेधत मो हियो, तो नासा को बेध॥
>
> —विहारी

नोटः—इसे भी मुख्यतया दो रूपों में यों रख सकते हैं:—

१—किसी कार्य के प्रसिद्ध कारण के अतिरिक्त उसकी उत्पत्ति का कोई ऐसा कारण देना जिससे साधारणतया (लोक के ज्ञान में) वह कार्य नहीं होता, किन्तु उससे किसी प्रकार उस कार्य का होना संभव हो।

क—जहाँ ऐसा कारण स्वतः उस कार्य को जन्म देने में क्षमता रखता हो।

ख—जहाँ वह किसी अन्य सहायक हेतु के द्वारा कार्योत्पत्ति की क्षमता प्राप्त करे।

२—जहाँ कारणान्तर में किसी भी प्रकार उस कार्य के लिये क्षमता न हो किन्तु वह दिखलाई जावे।

५—जहाँ किसी ऐसे कारण से भी कार्य की उत्पत्ति दिखलाई जावे जो वास्तव में उस कार्य के प्रसिद्ध हेतु का विरोधी हो।

यदि विचार किया जावे तो इस रूप का आधार वास्तव में विरोध पर ही है, अतः यदि हम इसे विरोधमूलक मान लें तो अनुचित न होगा। यह विरोध ही है जिससे इसमें चमत्कार की चारुता आती है।

मुक्तन हू के संग बसि, कठिन देत दुख रोज।
श्रुति सेवी दृग दुखद जिमि, तैसहि भये उरोज॥

—र० मं०

नोटः—इसके भी हम दो रूप यों कर सकते हैं:—

क—स्वतंत्र—जहाँ बिना किसी अन्य अलंकार के ही विरोधी हेतु से कार्य हो।

ख-संकीर्ण—जहाँ श्लेषादि अन्य अलंकारों की सहायता पाकर विरोधी हेतु किसी कार्य की उत्पत्ति करे। यथा उक्त उदाहरण में।

६—जहाँ किसी कार्य से ही उसके या किसी अन्य कार्य के कारण का जन्म हो।

नोटः—इसके दो रूप यों हो सकते हैं:—

अ—जहाँ किसी कार्य से ही उसी के कारण का जन्म हो।

ब—जहाँ किसी कार्य से किसी अन्य कार्य के कारण की उत्पत्ति हो अथवा जहाँ कोई कार्य किसी दूसरे का कारण बन जावे।

अब यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि विभावना का मूलाधार कार्य-कारण सिद्धान्त का ही तारतम्य है। कार्य-कारण के भिन्न भिन्न प्रकार के सम्बन्धों के ही रूपों पर इसके भेदों की कल्पना की गई है। साथ ही इसे अन्य अलंकारों के मूल तत्वों से भी सहायता मिली है, यथा विरोध और अन्योन्यादि। ध्यान रहना चाहिये कि इसको श्लेष से बहुत बड़ी सहायता एवं चमत्कृत चारुता मिलती है यह उक्त ५ वीं विभावना के उदाहरण से स्पष्ट ही है।

केशवदास ने इसकी दो भिन्न भिन्न परिभाषायें दी हैं, कह सकते हैं कि उन्होंने इसके दो ही रूप माने हैं और दो ही रूप दिखलाये भी हैं किन्तु उन्होंने ऐसा कहीं कहा नहीं—

१—कारण के बिनु कार्य को, उदय होत जेहि ठौर।
२—कारण कौनहु आनते, कारज होइ सुसिद्ध ॥
जानौ यहै विभावना, कारज छाँड़ि प्रसिद्ध ॥

का० नि० ९८, ९९

भिखारीदास ने इसके लक्षण यों दिये हैं :—

१—बिनु कै लघु कारनन्ह ते, कारज परगट होइ।
रोकत हू करि कारनौ, वस्तुन्ह ते विधि सोइ ॥

× × ×

२—कारन ते कारज कछू, कारज ही ते हेतु।
होती छविधि विभावना, उदाहरन कहि देत ॥

× × ×

३—बिन कारन कारज प्रगट, विभावना-विस्तार।

आपके टीकाकार यहाँ लिखते हैं कि 'किसी घटना के कारण के सम्बन्ध में कोई विलक्षण कल्पना करना विभावना अलंकार है'।

दास जी ने उक्त ६ भेदों के केवल उदाहरण ही दिये हैं उनके लक्षण पृथक पृथक नहीं दिखलाये। मतिराम जी ने विभावना का साधारण लक्षण नहीं दिया, वरन् उसके ६ भेदों के ही लक्षण दिये हैं—

१—बिना हेतु जहँ बरनिये, प्रगट होत है काज।
२—थोरे हेतुनि सों जहाँ, प्रगट होत है काज॥

नोटः—जहाँ केवल थोड़े (कुछ ही) कारणों से (उन समस्त कारणों से नहीं जिनकी समष्टि कार्योत्पत्ति करती है) कार्य प्रगट हो। इससे यह स्पष्ट है कि आपके मत से एक कार्य के कई कारण होते हैं, और उन कई कारणों के ही एकत्रित योग से कार्य होता है, किन्तु जहाँ उन समस्त कारणों में से केवल कुछ कारणों से ही कार्य प्रगट हो जावे वहाँ द्वितीय विभावना जानना चाहिये। यहाँ कार्य के कारणों की संख्या पर ही विशेष बल रक्खा गया है न कि कार्य के कारण की मात्रा या परिमाण पर। यदि कारण की अल्प मात्रा ही पूर्ण कार्य को प्रगट करती है तो भी विभावना मानना चाहिये।

३—जहाँ हेतु प्रतिबन्ध हू, बरनत प्रगटत काज।
नोटः—इसके वाचक शब्द तऊ एवं तौ भी आदि हैं।
४—हेतु काज को जो नहीं, ताते काज उदोत।
५—बरनत हेतु विरोध ते, उपजत है जहँ काज।
६—जहाँ काज ते हेतु कों, बरनत प्रगट प्रकास।

ल० ल० ११५

भूषण जी ने केवल ४ ही भेद दिखलाये और उन्हीं के लक्षण भी दिये हैं, विभावना की साधारण परिभाषा नहीं दी।

१—भये काज बिन हेतु ही, बरनत हैं जिहि ठौर।

२—जहाँ हेतु पूरन नहीं, उपजत है पर काज॥

नोटः—इससे यह जान पड़ता है कि यहाँ कारण का परिमाण ही प्रधान माना गया है और कारणों की संख्या का विचार नहीं किया गया, जहाँ कारण पूर्ण न हो (उसकी मात्रा पूरी या उसका परिमाण पूर्ण न हो) अर्थात् कारण अपने समस्त रूप या परिमाण में मौजूद न हो और फिर भी कार्य हो जावे, वहाँ द्वितीय विभावना होती है। यही विशेष अन्तर यहाँ विचारणीय है।

३—कै अहेतु ते और द्वै, यों विभावना साज।

नोटः—यहाँ अहेतु से (जो कार्य का सत्य या वास्तविक कारण नहीं है, और जो कार्य के वास्तविक कारण का विरोधी कारण है) कार्य की उत्पत्ति हो, इसके दो रूप हैं यह उक्त पद से सूचित तो किया गया है किन्तु स्पष्ट रूप से वे दो रूप दिखलाये नहीं गये, कदाचित वे दो रूप ये ही हैं १—अप्रसिद्ध कारण से कार्योत्पत्ति २—विरोधी कारण से कार्य का जन्म—

४—जहाँ प्रगट भूषन भनत, हेतु काज ते होय।

भाषाभूषण में जसवन्तसिंह ने ६ भेद दिये हैं उनमें से एक रूप विशेष वैचित्र्य-पूर्ण है:—

१—होंहि छ भाँति विभावना, कारन बिन ही काज।

२—हेतु अपूरन ते जबै, कारज पूरन होय।

नोटः—यहाँ भी मतिराम की भाँति कार्य के कारण का परिमाण ही प्रधान माना गया है और कारणों की संख्या पर विचार नहीं किया गया, जैसा दास जी ने भी किया है।

३—प्रतिबंधक के होतहू, कारज पूरन मानि।

४—जबै अकारन वस्तु तें, कारज प्रगटित होत।

५—काहू कारन ते जबै, कारज होत विरुद्ध।

नोटः—यहाँ यह विशेष वैचित्र्य पूर्ण बात है कि किसी कारण से किसी विरोधी कार्य का जन्म होता है, (उस कार्य का जन्म नहीं होता जिसे उस कारण से होना चाहिये या जिसकी सम्भावना हो, वरन् एक विरोधी (वास्तविक या सम्भावित या प्रसिद्ध कार्य का विरोधी) कार्य उत्पन्न होता है। अन्य आचार्यों ने यह माना है कि जहाँ कार्य अपने प्रसिद्ध एवं वास्तविक कारण से उत्पन्न न होकर उसके विरोधी कारण से उत्पन्न हो, वहाँ ५ वीं विभावना का रूप जानना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने कारण को विरोधी माना है और विरुद्ध हेतु पर बल दिया है, किन्तु जसवन्तसिंह ने कार्य को विरोधी मान कर विरुद्ध कार्य ही पर प्रधान बल दिया है—यही यहाँ मतान्तर है।

६—पुनि कुछ कारज तें जबै, उपजै कारन रूप॥

दूलह, गोकुल, रामसिंह और लछिराम ने राजा जसवन्तसिंह, के ही अनुसार इसके ६ रूप दिये हैं, केवल भाषा एवं पदावलियों को रूपान्तरित कर दिया है। हाँ लछिराम ने दो रूपों में कुछ विशेषता यों दिखलाई हैः—१—चतुर्थवि०—'जहँ कारज के अंगसों, कारज होय प्रकाश, अर्थात् जहाँ कार्य के अंग से (कार्य के शरीर से या उसके एक अंश या हिस्से से) कारण की उत्पत्ति हो, वहाँ चतुर्थ विभावना होती है।

२—पंचमवि०—परम्परा तजि कारने, कारज प्रगटै और। अर्थात् जहाँ कारण अपनी परम्परा (परिपाटी—कि उससे यही कार्य होगा—) को छोड़ कर किसी दूसरे कार्य को प्रगट करे वहाँ पंचम विभावना होगी।

रामसिंह ने अन्य भेद तो मतिराम जी के ही अनुसार दिये हैं किन्तु पंचम भेद जसवन्तसिंह के मतानुसार दिखलाया है और किसी कारण से विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति में पंचम विभावना मानी है। पद्माकर ने पूर्ण रूप से मतिराम ही के मत का अनुसरण किया है।

महाकवि देव ने विभावना की परिभाषा यों दी है—

"हेतु प्रसिद्ध निरास करि, कहिये हेतु सुभाउ।
अलंकार कवि देव कहि, सो विभावना गाउ॥"

यह लक्षण पूर्णतया विचित्र एवं स्वतंत्र है, जहाँ (किसी कार्य के) प्रसिद्ध हेतु या कारण को निराश किया जावे और स्वाभाविक हेतु या हेतु के स्वभाव को बतलाया जावे वहाँ विभावना अलंकार मानना चाहिये। इस विचित्र लक्षण को देकर आपने इसके कोई भी भेद या रूप नहीं दिखलाये।

असम्भव

जहाँ किसी वस्तु, पदार्थ एवं कार्य की सिद्धि को असम्भव कहा जावे वहाँ असंभव अलंकार मानना चाहिये।

जरै न ईंधन आगि में, होति न ऐसी बात।
बूझति का, लव के लगें, जरो सकल यह गात॥

—र० मं०

नोट—अप्पय जी ने ही इस अलंकार को स्वतन्त्र एवं पृथक् स्थान दिया है, अन्य आचार्यों ने तो इसे विरोधालंकार के ही अन्दर माना है।

हिन्दी अलंकार शास्त्र में केशवदास ने इसे अपने ग्रंथ में नहीं दिया, वे इसे अलंकार नहीं मानते, ऐसा ही देव जी और गोविन्द जी का भी मत है।

भिखारीदास ने इसे 'संभवादि अलंकार' नामी वर्ग में रक्खा है और इसका लक्षण यों दिया है।

"बिन जाने ऐसो भयो, असम्भवै पहिचान"

अर्थात् जहाँ ऐसा कहा जावे कि यह (ऐसा कार्य) बिना जाने ही (यद्यपि इसके होने का ज्ञान भी न था) हो गया, वहाँ असंभव अलंकार मानना चाहिये। अब देखिये उक्त लक्षण और इसमें कितना अन्तर है। मतिराम जी ने लिखा है कि जहाँ अर्थ (मतलब या अभीष्ट कार्य, मंतव्य, तात्पर्य या प्रयोजनादि) की सिद्धि के विषय में सम्भावना पूर्ण बात न कही जावे, वहाँ असम्भवालंकार होता है :—

"जहाँ अर्थ की सिद्धि को, सम्भव बचन न होय।"

यह लक्षण हमारे लक्षण से बहुत कुछ सादृश्य रखता है।

भूषण जी ने इसके लक्षण को शब्द के अर्थ पर ही समाधारित किया है और कहा है कि जहाँ कोई अनहोनी बात सी प्रगट हो।

"अनहूबे की बात कछु, प्रगट भई सी जान।"

जसवन्तसिंह ने इससे भी अधिक स्पष्ट भाव लेकर कहा है कि जहाँ बिना सम्भावना के ही कोई कार्य हो जावे वहाँ असम्भव होता है।

"कहत असम्भव होत जब, बिन सम्भावन काजु।"

रामसिंह ने भी यही लक्षण दिया है :—

"काज सिद्ध ह्वै जाइ, जहाँ बिना सम्भावना।"

लछिराम ने लिखा है कि किसी कार्य की सिद्धि को जब संसार असम्भव जानता हो, अर्थात् संसार में उस कार्य का होना असम्भव ही माना गया या प्रसिद्ध हो।

"कोई कारज सिद्धि को, जगत असम्भव जानि।"

यही विचार दूलह का भी है, वे इसके लक्षण में कार्य के होने के असम्भावना पूर्ण वर्णन को ही प्रधान मानते हैं—

"कारज के ह्वैबे को असम्भावित बरनन, कहत असम्भव..."

गोकुल ने लिखा है कि जहाँ असम्भवार्थ पूर्ण घटना लाकर घटित की जावे और जहाँ अद्भुत रस स्थायी हो वहाँ असम्भव होता है।

"जहाँ असम्भव अर्थ की, घटना करिये आनि।
थाई अद्भुत रस तहाँ, असम्भाव पहिचानि॥"

जहाँ असम्भव कार्य होता हुआ दिखाई पड़े वहाँ पद्माकर जी ने असम्भवालंकार माना है—

"सुअसम्भव जु असम्भवित, कारज भयो दिखाइ।"

अब पाठकों को यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि हमारे आचार्यों ने इसके भिन्न भिन्न प्रकार के लक्षण दिये हैं, हाँ असम्भावना का भाव अवश्य ही सब के आधार में उपस्थित है। केवल दास जी ने ही इसे स्पष्ट रूप से नहीं दिखलाया, उन्होंने इस अलंकार के साथ ही साथ सम्भावना अलंकार भी दिया है जिसे हम पृथक् से दे रहे हैं।

अब असम्भावना को मूलतत्व मान कर हम इस अलंकार को मुख्यतया निम्न रूपों में विभक्त कर सकते हैं (इस अलंकार के भिन्न भिन्न रूप और भेद किसी भी मुख्य आचार्य ने नहीं दिखलाये):—

१—पूर्णासम्भव (प्रकृति-विरुद्ध) जो प्रकृति के प्रतिकूल होकर असम्भव हो।

२—व्यक्त्यसम्भव (शक्ति या संघ-सम्भव) एक व्यक्ति के लिये जो असम्भव हो, किन्तु संघ-शक्ति के लिये नहीं।

३—असम्भवाभास—जहाँ असम्भाव्यता का आभास मात्र हो।

४—मानवासम्भव—मनुष्य मात्र के लिये तो असम्भव हो, किन्तु दैवी शक्ति के लिये न हो।

५—विशेषासम्भव—जो किसी विशेष समय, स्थान, दशा या परिस्थिति में असम्भव हो।

६—पुष्टासम्भव—जहाँ असम्भव का भाव उपमा, लोकोक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा पुष्ट किया गया हो।

७—हेत्वात्मक—जहाँ असम्भावना का हेतु भी दिया गया हो।

८—स्पष्ट—जहाँ असम्भव का भाव शब्दों से स्पष्ट रहे।

९—अव्यक्त—जहाँ असम्भावना का भाव केवल सूच्य ही रहे।

१०—संभूतासंभव—जहाँ किसी प्रकार असम्भव बात सम्भूत हो जावे।

अन्य रूप

१ हेत्वासम्भव—जहाँ किसी कार्य की सिद्धि की असम्भाव्यता का हेतु भी बतलाया जावे।

२—संभवकृता—जहाँ कोई असम्भव बात किसी कारण विशेष (दैवी या प्रबलमानवी पुरुषार्थ के विशेष प्रयत्न) से सम्भव हो जावे।

३—संदिग्धासम्भव—जहाँ किसी कार्य की असम्भाव्यता में कुछ संदेह भी हो।

४—व्याजसंभव—जहां किसी सम्भाव्यकार्य में भी असम्भवता का बहाना किया जावे।

५—असम्भव साधना—जहाँ कार्य तो सम्भव हो किन्तु उसके साधन किन्हीं विशेष परिस्थितियों या कारणों से असम्भव हों, और इसीसे कार्य की सिद्धि में भी असम्भावता आजावे।

६—असम्भवकृता—जहाँ कोई सम्भव कार्य किसी विशेष कारण से असम्भव हो जावे।

७—प्रकृत्यासम्भव—जहाँ कोई ऐसा कार्य कहा जावे जो स्वभावतः (प्राकृतिक) या नैसर्गिक रूप में ही असम्भव हो।

सम्भवकृताः——जहाँ कोई असम्भव कार्य भी हो जावे और यों वह सम्भव हो जावे। यथाः—उदधि का जलना।

विचित्र

जहाँ किसी अभीष्ट फल की इच्छा के होने पर उसकी प्राप्ति के लिये कोई ऐसा प्रयत्न किया जावे या किसी ऐसे साधन का उपयोग किया जावे जो उस अभीष्ट फल को उत्पन्न करने वाले उचितोपयुक्त साधन एवं प्रयत्न से विपरीत या विरुद्ध हो, वहाँ विचित्र अलंकार मानना चाहिये।

यदि ध्यान से देखा जावे तो इस के आधार में विरोध तथा असम्भव के ही भाव कुछ न कुछ अंश में अवश्य रहते हैं। इसका अद्भुत रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ इष्टार्थ की सिद्धि के लिये विपरीत प्रयास करने पर विशेष बल दिया जाता है, अतः जहाँ कार्य अपने कारणों से विपरीत होता है वहाँ यह अलंकार नहीं होता। कारण से जहाँ कार्य के गुणादि विपरीत होते हैं वहाँ विषमालंकार का तृतीय रूप ही जानना चाहिये।

कविवर मम्मट ने इसकी गणना अलंकारों में नहीं की, और यही बात हिन्दी के आचार्य केशवदास तथा देव जी ने भी की है।

भिखारीदास ने इसकी परिभाषा विचित्र ही दी है और कहा है कि जहाँ कोई किसी दोष में गुण का दर्शन करता हुआ उसकी इच्छा या चाह करे, वहाँ विचित्र अलंकार मानना चाहिये।

'करत दोष की चाह जहँ, ताही में गुन देखि।"
तेहि विचित्र भूषण कहौ, हिये चित्र अवरेखि॥

इस अलंकार को अन्य आचार्यों ने आचार्य अप्पय के ही मतानुसार दिया है—"विचित्र तत् प्रयत्नश्चेद् विपरीत फलेच्छया" अर्थात् जहाँ किसी विपरीत फल की इच्छा से प्रयत्न किया जावे वहाँ विचित्रालंकार होता है।

मतिराम लिखते हैं:—जहाँ करत उद्यम कछू, फल चाहत विपरीत। भूषण कहते हैं:—"जहाँ करत है जतन, फल, चित्त चाहि विपरीत॥ जसवन्तसिंह का मत है—"इच्छा फल विपरीत की, कीजै जतन, विचित्र"। लछिराम जी ने इस लक्षण में कुछ थोड़ी सी विशेषता कर दी है:—

"जबहिं सुफल विपरीत हित, कीजे वर व्यापार।"

"अर्थात् जब किसी अच्छे और विपरीत फल के लिये कोई श्रेष्ठ व्यापार (प्रयत्न) किया जावे—यहाँ सु शब्द या तो पद-पूर्ति के लिये ही या फल की विशेषता के प्रकाशनार्थ ही आया है, साथ ही वर शब्द व्यापार की विशेषता को स्पष्ट रूप से प्रगट करता है। गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, और दूलह ने अप्पय-मतानुयायी मतिराम आदि के ही समान इसकी परिभाषायें दी हैं। केवल पद्माकर जी ने अपनी परिभाषा इन सब से विचित्र एवं विपरीत दी है—

"सो विचित्र, फल चहि जु कछु, जतन करै विपरीत।

अर्थात् जहाँ किसी फल की इच्छा से (इष्ट फल या विपरीत फल, कोई भी हो—यह भेद यहाँ नहीं दिखलाया गया) विपरीत यत्न (उस फल के उत्पन्न करने वाले प्रयत्न से विपरीत प्रयत्न) करे वहाँ विचित्रालंकार मानना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके दो पृथक पृथक लक्षण दिये गये हैं, उनमें से प्रथम प्रधान एवं बहुमान्य हो सर्व साधारण या व्यापक है और दूसरा अल्प मान्य है:—

१—विपरीत फल की इच्छा से प्रयत्न करना।

अर्थात अपने प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले फल के विपरीत फल की इच्छा रख कर वह प्रयत्न करना।

२—किसी फल के लिये विपरीत प्रयत्न करना।

अर्थात् किसी अभीष्ट फल की इच्छा रखते हुये ऐसा प्रयत्न करना जिससे उस इष्ट फल के विपरीत फल उत्पन्न होता है, और यों अभीष्ट फल को उत्पन्न करने वाले प्रयत्न के विपरीत प्रयत्न करना।

नोटः—ऐसा अज्ञानता, भूल, और जान बूझ कर भी किया जा सकता है। इस प्रकार इसके कई भेद हो सकते हैं।

हम इन दोनों को अब इस अलंकार के दो पृथक रूप मान सकते हैं। इन दो रूपों के अतिरिक्त हम इसके अन्य रूप या भेद यों कर सकते हैं:—

विचित्र के भेद

इसके वाचक शब्द—विचित्र, अनोखी, अनूठी, विलक्षण, नई बात, आचरज इत्यादि।

१—स्पष्टा—जहाँ वाचक शब्द विचित्रता के भाव को स्पष्ट करते हों।

और करै अपराध अरु और पाव फल भाेग।
अति विचित्र भगवन्त गति. को जग जानै जाेग॥

२—लुप्ता—जहाँ वाचक शब्दों का लोप हो और विचित्र का भाव सूचित किया गया हो।

३—जहाँ कारणों, परिस्थितियों, एवं साधनादि के विपरीत उनसे किसी विचित्र कार्य की उत्पत्ति हो, जिसके उत्पन्न होने का का ध्यान, अनुमान एवं ज्ञान साधारणतया किसी को भी न रहा हो। जब तक वह कार्य नहीं हो जाता तब तक उसका कहना या दिखलाना असम्भव के अन्दर आता है, किन्तु जब वह हो जाता है तब वही विचित्र के अन्दर आ जाता है।

४—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष की पुट विचित्र में दी गई हो—

यथाः—धन्य धन्य बारानसी, धनि कासी विख्यात।
अमर होन के हित जहाँ, मरिबे को नर जात॥

५—सप्रश्नोत्तर—जहाँ किसी प्रश्न का विपरीत उत्तर दिया जावे या जहाँ किसी अभीष्ट उत्तर के लिये या किसी खास बात के पूछने के लिये विपरीत एवं विचित्र प्रश्न किया जावे।

६—हेत्वात्मक—जहाँ हेतु भी दिया गया हो।

७—माला—जहाँ विचित्र की माला हो। यथाः—

"जीवन हित प्रानहिं तजत, नवत ऊँचाई हेत।
सुख कारन दुख संग्रहैं, बहुधा पुरुष सचेत॥"

७—संकीर्णः—जहाँ इसके साथ दृष्टान्तादि अन्य अलंकारों का सामंजस्य किया गया हो।

असंगति

जहाँ पर कार्य और कारण पृथक् पृथक् स्थान पर विरोध का आभास रखते या दिखलाते हुये रक्खे गये हों।

"थे नैना धैना करैं, उरज उमेठे जाहिं।"

साधारणतया यही प्रसिद्ध है कि जहाँ पर कारण रहता है वहीं पर प्रायः उससे उत्पन्न होने वाला कार्य भी रहता है, अतः जहाँ ऐसा ही सम्बन्ध दिखलाया गया होगा वहाँ यह अलंकार नहीं माना जा सकता। इसकी सत्ता के लिये कार्य-कारण में वैय्यधिकरण (भिन्न भिन्न स्थानों में उनकी स्थिति के होने) का किसी चातुर्य-चमत्कार के साथ दिखलाना अत्यावश्यक एवं अनिवार्य हैं, साथ ही उनमें विरोध के आभास की भी आवश्यकता है। कार्य और कारण एक ही समय में विरोध का आभास रखते हुये पृथक पृथक स्थानों में जहाँ दिखलाये जावेंगे वहीं असंगति की संगति होवेगी।

ध्यान रहना चाहिये कि अत्यन्तातिशयोक्ति में कार्य और कारण की विपरीतता तो होती है किन्तु वह पौर्वापर्य (पूर्वोत्तर) भाव के साथ रहती है, अर्थात् कार्य प्रथम और कारण उसके बाद ही दिखलाया जाता है, और इस प्रकार वहाँ दोनों के समयों में पार्थक्य का भाव एवं क्रम-विपर्यय का आभास रहता है, किन्तु यहाँ दोनों में स्थान-पार्थक्य के ही भाव का प्राधान्य रहता है, और यह विरोधाभास के साथ ही रहता है।

यदि कार्य-कारण के वैय्यधिकरण के साथ विरोध का आभास न होगा तो भी असंगति अलंकार की सत्ता न हो सकेगी।

जौलौं ये टेढो करत, भौंह चाप कमनीय।
तौलौं बान कटाच्छ सों, बिधि जावै मो हीय॥

ध्यान रहना चाहिये कि इसमें यद्यपि विरोध का आभास रहता है किन्तु यह विरोधाभास से पूर्णतया पृथक ही है, क्योंकि इसमें वे कार्य और कारण जिनमें एकाधिकरणत्व (एक ही स्थान पर होना या रहना) होता है (प्रसिद्ध होता) वैय्यधिकरणत्व के (स्थान-पार्थक्य के) भाव को रखते हुए, दिखलाये जाते हैं, किन्तु विरोधाभास में ऐसा न हो कर उन कार्यों और कारणों में भी जिनमें वैय्यधिकरणत्व (स्थान-पार्थक्य) का ही प्राधान्य प्रसिद्ध होता है, एकाधिकरणत्व (स्थानैक्य) का ही भाव प्रधान रहता है।

असंगति में कार्य-कारण के अन्तर्गत रहने वाला एकाधिकरणत्व का भाव उपलक्षण रूप में ही रहता है और उसका प्राधान्य नहीं दिखलाया जाता, वरन् उसके विरोधी भाव की ही विशेषता रहती है। जहाँ एक स्थान में रहने वालों में स्थान-पार्थक्य का भाव विरोधाभास के साथ दिखलाया जाता है वहाँ भी असंगति मानना चाहिये।

करनफूल बिन लखि करन, सखि मम सुमन न फूल॥

जहाँ अन्य अलंकार में विरोध की पुट रहती है (जैसे विरोध-मूलक विभावनादि में) वहाँ विरोधाभास की आंशिक सत्ता मानी जाती है किन्तु असंगति में विरोधाभास की आंशिक सत्ता के होने पर भी विरोधाभास की स्थिति नहीं मानी जाती। बस यही अलंकार उक्त बात का अपवाद ठहरता है।

प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने असंगति के इसी रूप को दिखलाया है और इसके भेद नहीं किये। हाँ, अप्पय ने इसके दो रूप यों माने हैं :—

द्वितीय रूप—जब कोई करणीय कार्य अपने उपयुक्तोचित स्थान में न किया जाकर किसी दूसरे स्थान में किया जाता है।

पिय-आवन सुनि आतुरी, करि कै वह सुकमारि।
कटि की लै कै किंकिणी. चली हिये पै डारि॥

तीसरा रूप—जब किसी कार्य विशेष के करने को प्रवृत्त हो कर उसके विरोधी (या उससे पृथक किसी दूसरे) कार्य को किया जाता हुआ दिखलाया जावे।

मोह मिटावन हेतु प्रभु! लीन्हो तुम अवतार।
उलटो मोहन रूप धरि, मोही सब ब्रजनार॥

रसगंगाधरकार ने इन रूपों को असंगति के रूप नहीं माने और कहा है कि इनमें विरोधालंकार ही का प्राधान्य है, न कि असंगति का। मम्मट जी ने तो इसे अलंकार ही नहीं माना और इसीलिये इसे अपने ग्रंथ में स्थान भी नहीं दिया। यही बात केशव और देव जी ने भी की है।

भिखारीदास ने उक्त तीनों रूप दिये हैं और लिखा है:—

१—"जहँ कारन है और थल, कारज औरै ठाम।
२—"अनत करन को चाहिये, करै अनत ही काम॥
३—"और काज करबे लगै, करै जु औरै काज।

मतिराम जी ने भी इसके ये ही तीनों भेद दिये हैं:—

१—"होत हेतु जहँ और थल, काज और थल होय।
२—"और ठौर करनीय जो, करत और ही ठौर॥
३—"करन लगै जो काज कछु, ताते करै विरुद्ध।"

यहाँ तीसरे भेद में मतिराम ने दास जी से यह विशेषता की है कि किसी कार्य का करना छोड़ कर उसके विरोधी कार्य का करना कहा है, दास ने ऐसा न कह कर केवल किसी अन्य कार्य ही का करना रक्खा है। भूषण और जसवन्तसिंह ने भिखारी दास ही के मत के समान अपने मत इस सम्बन्ध में रक्खे हैं। गोकुल

कवि ने प्रथम रूप में न केवल स्थान-पार्थक्य ही रक्खा है वरन् समय भेद भी दिया है—"कारन कहुँ, कारज कहूँ, देस, काल, को बीच"। आपने तृतीय रूप में मतिराम के मत का अनुसरण किया है और कार्यान्तर के साथ विरोध के भाव को भी प्रधान माना है। केवल लछिराम जी को छोड़ कर, जिन्होंने तृतीय रूप में दास जी के मत को प्रधानता दी है, और सभी आचार्य (गोविन्द, दूलह, पद्माकरादि) मतिराम का ही अनुकरण करते हैं।

फलान्तर—जहाँ किसी के कार्य का फल किसी दूसरे पर पड़े।

यथाः—लरत नैन प्रेमीन के, कहत रसाल सुजान।
मदनदेव पै करत हैं, हिय पै दंड विधान॥

श्लिष्टासंगतिः—जहाँ असंगति में श्लेष की पुट दी गयी हो।
विषयी नृपति कुसंग सों, पथ्य विमुख ह्वै आपु।
करत लोक सन्ताप ज्वर, चढ़ि सचिवत संतापु॥

अन्यरूप

१—कर्ता विरोधः—जहाँ किसी दूसरे के द्वारा किये जाने वाले कार्य को किसी दूसरे के द्वारा किया जाता हुआ कहा जावे।

२—समयान्तरः—जब किसी कार्य को उसके उपयुक्तोचित समय एवं स्थान पर न करके किसी अन्य समय एवं स्थान पर किया जावे।

३—हेत्वासंगति—जहाँ किसी कार्य को उसके उचित स्थान एवं समयादि पर न करके किसी दूसरे स्थान (विरोधी एवं अविरोधी) एवं समय पर किये जाने को सहेतु दिखलाया जावे।

अन्यभेद—१—जहाँ इष्टकार्य के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य को जो उसका विरोधी न हो, किया जावे।

लोकोक्तिगर्भा—जहाँ उक्त रूप के साथ लोकोक्ति भी रहे—

गई रही हरि भजन को, ओटन लगी कपास।

२—जहाँ किसी कार्य के उपयुक्त साधनों को छोड़ उसके विरोधी या उससे दूसरे साधनों के द्वारा उसी कार्य या किसी अन्य कार्य को किया जावे।

नोटः—केशव मिश्र ने इसे अपने अलंकार शेखर में अन्य-देशत्व के नाम से लिखा।

सम अलंकार

जहाँ दो या दो से अधिक वस्तुओं का सम्बन्ध सम्भावनापूर्ण और उपयुक्तोचित हो, अर्थात् वह सम्बन्ध सब प्रकार योग्य हो वहाँ सम अलंकार जानना चाहिये।

नोटः—सम्बन्ध यदि योग्य होगा तो वह सराहनीय भी होगा किन्तु यदि वह अयोग्य हुआ तो असम्बद्धता का दोष उत्पन्न कर देगा जो अनभीष्ट और निन्द्य है। जिस वस्तु को जिसके साथ में रखना ठीक है उसे उसी के साथ रखना चाहिये। यदि वस्तुएँ अच्छी हैं तो उन्हें अच्छी ही वस्तुओं की समाज में रखना उचित और रुचिकर है, यदि वस्तुएँ बुरी हैं तो उन्हें उन्हीं की समता वाली बुरी वस्तुओं के साथ बिठालना ठीक है। कह सकते हैं कि यह अलंकार एक प्रकार से व्यवस्था सम्बन्धी गुण है, इसमें और चातुर्य-चमत्कार नहीं। इसमें सुन्दरता केवल जोड़े जोड़े के शब्दों और अर्थों को खोजकर एकत्रित करने और उन्हें सुव्यवस्था के साथ संगुम्फित करके रखने में है। कवि की चातुरी और प्रतिभा इसी में परखी जाती है कि वह कहाँ तक एक शब्द एवं एक अर्थ विशेष का जोड़ा (समानता सूचक) दे सकता है।

इसके मुख्य दो भेद हैं :—

(१) साहचर्य-सम्पर्क

१—सद्योग सूचकः—जहाँ उत्तम बातों या वस्तुओं का सराहनीय एवं उचित (यथोचित) सम्बन्ध दिखलाया गया हो।

हौं मैं 'दीन रसाल' जो, तौ तुम दीनानाथ।
याही ते अपनाय प्रभु ! मोहिं राखिये साथ॥

२—असद्योग सूचकः—जहाँ असद् अर्थात् बुरी वस्तुओं का निन्दनीय सम्बन्ध भी यथायोग्य व्यवस्था के साथ हो।

कह 'रसाल' कबि फबति अति, मित्र नीच हित नीच।
सोहत है मंडूक कौ, कारो कलुषित कीच॥

(२) कार्य कारण सारूप्य

द्वितीय रूपः—जहाँ कार्य का कारण के साथ सारूप्य एवं साम्य हो, अर्थात् कारण के ही अनुरूप एवं अनुकूल कार्य भी हो।

नोटः—ध्यान रहे कि इस रूप का प्रतिद्वन्द्वी रूप (या विरोधी रूप) विषमालंकार के तृतीय भेद में होता है, क्योंकि उसमें कार्य सर्व प्रकार कारण से प्रतिकूल ही रहता है। अतः कह सकते हैं कि द्वितीय सम का विलोम रूप तृतीय विषम है।

कह 'रसाल' अचरज कहा, जो सकलंक मयंक।
श्यामा दोषा को मुदित, भेंटत भरि भरि अंक॥
—र० मं०

नोटः—इस रूप में प्रायः कारण को देखकर ही तदनुकूल कार्य का अनुमान एवं ज्ञान किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत हम कार्य को देख कर उसके अनुकूल कारण का भी अनुमान

कर सकते हैं और इस प्रकार इसका एक उपभेद यों भी रख सकते हैं—

कह 'रसाल' कवि अति कठिन, हैं उरोज जब दोय।
वा रमनी को उरहु तब, कठिन न काहे होय॥

तृतीय रूप—जहाँ किसी कार्य की सिद्धि बिना किसी विघ्न या अनिष्टादि के हो जावे।

जल बसि नलिनी तप कियो, ताको फल वह पाय।
तो पद ह्वै या जन्म में, सुगति लही इत आय॥

नोटः—यहाँ सुगति पद को श्लेष की पुट दी गई है अतः इसे हम श्लिष्ट समालंकार भी कह सकते हैं।

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ कार्य किसी भी प्रकार का हो सकता है। जहाँ कार्य उत्कृष्ट रूप में अभीष्ट होता है वहाँ प्रहर्षण अलंकार होता है। श्लेष के प्रभाव से कभी कभी किसी ऐसे कार्य की सिद्धि में भी सम अलंकार माना जाता है जो अनिष्ट होता है—यह भी अप्पय जी का ही मत है—

यथा—आयो वारन हेतु तें, भलो सुयोग विचार।
आवत ही वारन मिल्यो, रे तो को नृप-द्वार॥

मम्मट जी ने अप्पय जी के अनुसार इसके उक्त तीन भेद नहीं माने, वरन् इसकी परिभाषा "समयोगिता योगो यदि सम्भावितः क्वचित्" यों देकर (१) सत् और (२) असत् योग के आधार पर दो ही भेद लिखे हैं। विश्वनाथ जी ने भी ऐसा ही किया है, आपने तो एक सूक्ष्म लक्षण यों दिया है "समंस्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः" और केवल श्लाघ्य सम्बन्ध में इसे परिसीमित सा कर दिया है, निन्द्य सम्बन्ध में इसकी सत्ता नहीं दिखलाई, यद्यपि ऐसा होता एवं हो सकता है।

केशव और देव जी को छोड़ कर हिन्दी के प्रायः सभी दूसरे मुख्य आचार्य इसे अलंकार मानते हैं। भिखारीदास ने इसकी दो परिभाषायें यों दी हैं:—

१—" उचित बात ठहराइये, सम भूषण तेहि नाम।"
२—" जाको जैसो चाहिये, ताको तैसो संग।"
३—" कारज में सब पाइये, कारन ही को अंग।"
है विषमालंकार को, प्रतिद्वन्दी सम नित्त।

इससे ज्ञात होता है कि आपने एक लक्षण तो साधारण दिया है और फिर सम के दो रूप (प्रथम और द्वितीय) जो हम लिख चुके हैं, दिये हैं। द्वितीय को (या पूरे सम अलंकार को ही) विषम का प्रतिद्वन्दी माना है। प्रथम का केवल एक ही रूप (योग्यायोग्य का संग) दिया है। प्रायः सभी अन्य आचार्यों ने इस अलंकार के उक्त तीन ही भेद माने हैं। हाँ किसी किसी ने कुछ थोड़ा बहुत अन्तर किसी किसी रूप में कर दिया है।

जसवन्तसिंह ने तीसरे रूप में उद्यम (प्रयत्न) करते ही बिना श्रम के ही कार्य की सिद्धि मानी है।

" श्रम बिनु कारज सिद्ध जब, उद्यम करतहि होइ॥

ऐसा ही रामसिंह और पद्माकर ने भी लिखा है, किन्तु मतिराम, गोविन्द और दूलह आदि ने जिस कार्य के लिये उद्यम या प्रयत्न किया जा रहा है उसकी सिद्धि बिना अनिष्ट एवं बाधा के ही होने पर तीसरा रूप माना है। गोकुल ने इसके साथ बाधा का भाव न रखकर यह लिखा है कि इसमें इष्टार्थ और श्लेष की पुट न रहे, और दूसरे भेद में आपने कार्य-कारण की एक ही अनुकूलता एवं एक रूपता के साथ ही साथ यह भी लिखा है कि उनमें गुणों की भी सदृशता रहे।

"कारन के सम बरनिये, कारज को जेहि ठौर।
देखि सदृश गुण रूप तहँ, बरनत हैं सम और॥
सिद्ध होत सोई अरथ, उद्दिम करिये जौन।
बिना इष्ट अस्लेस पद, सम कहि तीजो तौन॥

नोटः—इसमें व्यंग की भी पुट देकर इसे परिहासोक्ति के रूप में रख सकते हैं।

कुबजा की अरु कृष्ण की, जोड़ी बड़ी ललाम।
जैसी वा है कूबरी, त्याकृति हैं त्यों श्याम॥

इसे अन्योक्ति के साथ भी रख सकते हैं :—

सूकर स्वान शृगाल जो, मिलि बैठे ह्वै मित्र।
तौ 'रसाल' यामें कहौ, कैसो बात विचित्र॥

"उचित कोकिला हित सदा, सुन्दर सरस रसाल।"

समोपमाः—जहाँ उपमा के साथ सम अलंकार हो।
दृष्टान्त—जहाँ दृष्टान्त के साथ सम अलंकार हो।
श्लिष्ट—जहाँ श्लेष के साथ सम अलंकार हो।
लोकोक्ति गर्भा—जहाँ लोकोक्ति से समालंकार की पुष्टि हो।

नीम कीट को हात है, सदा नीम सों हेत।

(१) योग्य व्यक्तियों के योग्य स्थान
(२) " " " समय
(३) " बात " बात
(४) " व्यक्ति " गुण, कर्म, एवं स्वाभावादि

इनके अतिरिक्त इनके और भी विलोम रूप हो सकते हैं। विस्तार-भय से हम नहीं दे रहे, पाठक स्वतः देख सकते हैं।

विषम

जहाँ ऐसी दो (या दो से अधिक) वस्तुओं में, जिनके धर्म परस्पर विरोधी हों (जिनके धर्मों में पारस्परिक विरोध हो) और इससे वे विरुद्ध धर्म वाली कहलाती हों, ऐसा अयोग्य सम्बन्ध दिखलाया जावे जो रुचिकर एवं श्लाघनीय न हो, वहाँ विषमालंकार माना जाता है। कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।

कहाँ मृदुल तन कामिनी, सिरस प्रसून समान।
कहाँ मदन की अनल यह, अब सम दुसह महान॥

नोटः—प्रायः इस अलंकार के वाचक (सूचक) शब्द, 'कहाँ, कित, कैसे आदि हैं, किन्तु इनके ही रहने से विषम अलंकार न मान लेना चाहिये, जब तक वस्तुओं का अयोग्य सम्बन्ध न दिखलाया गया हो। कहँ कुम्भज कहँ सिंधु अपारा—

कहँ गुलाब, कटंक कहाँ, पंकदु कहाँ सरोज।
चतुरानन की चूक है, मृदु उर, कठिन उरोज॥

—र० मं०

इसके दो भेद और माने गये हैं:—

द्वितीय विषम—जहाँ किसी कार्य (क्रिया) के करने वाले (कर्ता) को उससे अभीष्ट फल की तो प्राप्ति न हो, वरन् किसी अन्य अर्थ या अनिष्ट (अनर्थ) की ही प्राप्ति हो।

इसके दो रूप यों हो सकते हैं:—

१—जहाँ कर्ता को अपने कार्य से अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, वरन् किसी दूसरे फल की प्राप्ति हो।

२—जहाँ कर्ता को अपने कार्य से अनिष्ट या अनर्थ पूर्ण फल की प्राप्ति हो। यह अनिष्ट-प्राप्ति कई प्रकार से हो सकती है। मुख्यतः निम्न दशाओं में अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

क—आधिक्य (अति) सेः—"अति सर्वत्र वर्जयेत्" के आधार पर अति सब वस्तुओं की बुरी है, चाहे वह गुणों की हो या दुर्गुणों की। अति फिर दो रूपों में होती है—(१) परिमाण में, और (२) संख्या में। इन कारणों से इसके चार रूप हो जावेंगे।

ख—न्यूनता सेः—जहाँ किसी साधन की न्यूनता के कारण अनिष्ट की प्राप्ति हो। इसके भी दो रूप हो सकते है १—परिमाण-न्यून २—संख्या न्यून।

नोटः—इसके अन्य भेद यों और हो सकते हैंः—

१—जहाँ किसी कार्य के कर्त्ता को अभीष्ट फल की प्राप्ति के साथ ही साथ अनिष्ट की भी प्राप्ति हो।

२—हेत्वात्मक—जहाँ अभीष्ट की अप्राप्ति एवं प्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति आदि के साथ ही साथ उनका हेतु भी कहा गया हो।

३—सोपमा विषम—उपमा से जहाँ विषम को पुष्ट किया जावे।

४—सापन्हुति विषम—अपन्हुति से जहाँ विषम को पुष्ट किया जावे।

५—सोदाहरण विषम—उदाहरण से जहाँ विषम को पुष्ट किया जावे।

६—रूपक विषम—रूपक से जहाँ विषम को पुष्ट किया जावे।

७—अन्योक्ति विषम—जहाँ अन्योक्ति के साथ विषम हो।

८—श्लिष्ट विषम—जहाँ श्लेष की भी पुट हो।

अब अभीष्ट एवं अनिष्ट (अनभीष्ट) दोनों की प्राप्ति निम्न प्रकार दिखलाई जा सकती हैः—

१—न्यूनाधिकः—क-अभीष्ट की प्राप्ति से अनिष्ट की अधिक मात्रा में (संख्या में) प्राप्ति हो। ख अभीष्ट की प्राप्ति से, अनिष्ट की न्यून मात्रा (संख्या में) में प्राप्ति हो।

२—समः—जहाँ अभीष्ट एवं अनिष्ट दोनों की प्राप्ति समानता के साथ हो।

संकीर्णः—जहाँ विषम के इन रूपों के साथ किसी दूसरे अलंकार का भी मेल हो।

मृग अंक कलंक नसावन को इत कामिनि को मुख आय भयो।
मन भायो न पायो तऊ फल को, त्यों कटाछन सों बहु बेध्यो गयो॥
मृग के मद को पुनि पंक कलंक की रेख सों तापै लगाय दयो।
जग सत्य कहै प्रमदान के हाथन कौन कलंकित नाहिं भयो॥

यहाँ विषम के साथ ही साथ अर्थान्तरन्यास की भी पुट है और विषम उससे परिपुष्ट हो रहा है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों का भी सामंजस्य इसके साथ हो सकता है।

तृतीय विषमः—जहाँ कार्य की गुण व क्रियाओं से कारण की गुण-क्रियायें यथाक्रम विरोधी दिखलाई जावें। इसके दो मुख्य रूप होते हैं:—

१—गुण-विरोध—कारण के गुण से कार्य का गुण विरुद्ध हो।

असित नीर रविजा भली, लीला तासु विचित्र।
दूर कलुषता करति है, तन मन उज्वल मित्र॥

नोटः—यहाँ विरोध के आधार पर ही समस्त खेल होता है, यदि इसे हम विरोधालंकार के ही अंतर्गत मानें तो भी कोई आपत्ति नहीं, वस्तुतः यह विरोध का ही एक विशेष रूप है।

यहाँ साथ ही कुछ श्लेष की भी पुट है, अतः इसे श्लिष्ट विरोधमूलक ही मानना चाहिये।

२—क्रिया-विरोधः—कारण की क्रिया से कार्य विरुद्ध हो—

परसत दरसत सुखद करि, शीतल हीतल देत।
विलग भये पुनि दुखद ह्वै, प्रिये! दाहि जिय लेत।

नोटः—इसे भी विरोधालंकार का एक विशिष्ट रूप कह सकते हैं।

अप्पय, मम्मट, एवं विश्वनाथादि आचार्यों ने प्रायः विषमालंकार को उक्त प्रकार से ही दिखलाया है। अब हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास और देव जी इसको अपने ग्रंथों में नहीं देते। वस्तुतः यदि देखा जावे तो यह अलंकार विरोधालंकार का ही एक विशिष्ट रूप सा ज्ञात होता है, कदाचित इसी विचार से इन आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार न माना हो।

भिखारीदास, मतिराम, जसवन्तसिंह, लछिराम, गोकुल, रामसिंह, पद्माकर और दूलह ने इस अलंकार के ३ ही रूप माने हैं और वे प्रायः अप्पय दीक्षित के ही मतानुसार चले हैं।

अर्थात्:—१—विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।
२—विरुद्ध कार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमंमतम्।
३—अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थ समुद्यतात्।

इन्हीं तीन रूपों को उक्त महानुभावों ने भी लिया है—हाँ, भूषण जी ने केवल एक ही रूप लिखा है।

"कहाँ बात यह, कहँ वहै, यों जहँ करत बखान।
तहाँ विषम भूषन कहत, भूषन सुकवि सुजान॥

कदाचित आपने भी शेष दो रूपों को, चूंकि वे विरोधमूलक ही हैं, विरोधालंकार के ही अन्तर्गत माना है।

गोकुल कवि ने विषम के ६ रूप दिखलाये हैं:—

१—घटना नहिं समरूप की, कीजे जहाँ निहारि।

डारि मध्य किमि सब्द द्वै...........॥ इसमें किम या इसके पार्यायी वाचक दो शब्द अवश्य रहने चाहिये ।

२—कारन औरै रूप को, कारज औरै रूप ।

३—उद्दिम करतै इष्ट को, होत अनिष्ट जु आय ।

४—होइ अनिष्ट न, समुझि यह, कियो इष्ट व्यापार ।
प्रापति भयो अनिष्ट तहँ...............

५—उद्दिम करते इष्ट को, भयो इष्ट सो सिद्ध ।
बहुरि अनिष्ट भये विषम,...................

६—करत बुरो जहँ और को, अपनोई ह्वै जाय ।

इन उक्त ६ रूपों में से प्रथम ३ रूप तो साधारण ही हैं और प्रायः (भूषण को छोड़ कर) अन्य सभी आचार्यों के द्वारा भी दिये गये हैं, शेष ३ रूप तो, कह सकते हैं, तीसरे रूप के ही भिन्न भिन्न एवं विशेष रूपान्तर मात्र हैं, इन्हें हमने प्रथम ही दिखलाया है ।

दास—१—अनमिल बातन को जहाँ, परत कैसेई संग ।
२—कारन को रँग औरई, कारज और रंग ॥
३—कर्ता को न क्रिया फलै, अनरथ ही भल होइ ।

मतिराम—१—जहाँ न है अनरूप द्वै, तिनकी घटना होय ।
२—जहाँ बरनिये हेतु ते, उपजत काज विरूप ॥
३—इष्ट अर्थ अपनाहि ते, जहँ अनिष्ट ह्वै जाय ।

जसवन्त—१—विषम अलंकृत तीन विधि, अन मिलते को संग ॥
२—कारन को रँग और कछु, कारज और रंग ।
३—और भलो उद्यम कियो, होत बुरो फल आय ॥

इन्हीं के समान लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, पद्माकर और दूलह ने भी लिखा है, कोई भी विशेष परिवर्तन एवं अन्तर उनमें नहीं पाया जाता ।

अधिकालंकार

जहाँ किसी बड़े आधेय के उस आधार का, जो वास्तव में छोटा है, बड़े रूप में वर्णन किया जावे एवं जहाँ किसी बड़े आधार के उस आधेय का जो यथार्थ में लघु ही है, दीर्घ रूप में वर्णन किया जावे वहाँ अधिक अलंकार माना जाता है।

नोटः—जिस वस्तु पर कोई वस्तु आश्रित होती है उसे आधार और जो वस्तु उस आधार पर आश्रय पाती है उसे आधेय कहते हैं। आधार को अधिकरण एवं आश्रय भी कहते हैं और इसी प्रकार आधेय को अधिकरणीय एवं आश्रित भी मानते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ किसी आधेय के समान रूप वाले किसी आधार का अथवा किसी आधार के समान रूप वाले किसी आधेय का वर्णन किया जाता है वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें कोई चातुर्य नहीं रहता। जिस प्रकार आधेय एवं आधार के छोटे आधार एवं आधेयों को बड़ा दिखलाया जाता है उसी प्रकार बड़े आधेय एवं आधार के वस्तुतः बड़े आधार एवं आधेय को छोटे रूप में भी दिखलाया जा सकता है और ऐसी दशा में हम इस अलंकार का विलोम रूप—न्यूनालंकार मान सकते हैं।

न्यूनालकार—जहाँ किसी बड़े आधेय एवं आधार के वस्तुतः बड़े आधार एवं आधेय का छोटे रूप में वर्णन किया जावे वहाँ न्यूनालंकार मानना चाहिये। यह अधिक अलंकार का विलोम रूप है और विरोधमूलक भी है।

अधिकालंकार के दो मुख्य रूप माने गये हैं।

१—जहाँ आधेय की अपेक्षा आधार यथार्थ में छोटा हो किन्तु उसका वर्णन बड़े रूप में किया गया हो और यह केवल उसकी उत्कृष्टता को ही प्रकाशित करने के लिये हो।

भुवन चतुर्दश रहत हैं, जा हरि-मूरति माँहि।
निज छोटे उर में धरति, अरी राधिके ताहि॥

नोटः—आधेय एवं आधार की बड़ाई (दीर्घता) तथा उनके आधार एवं आधेयों की छोटाई (लघुता) स्पष्ट शब्दों में (दीर्घ एवं लघु तथा इनके पर्यायी वाची शब्दों में) कह दी गई हो और तब उसका भाव दिखलाया गया हो। ऐसी दशा में हम स्पष्ट वाचकाधिक कह सकते हैं। यथाः—

ब्रह्माण्ड निकाया, निर्मित्ति माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उदर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

ऐसे उत्कर्ष को आश्चर्य एवं अद्भुतता के भाव के साथ बहुधा ब्रह्म के ही ऊपर घटित किया जाता है।

१—व्यंग्याधिक—जहाँ अधिक के इस प्रथम रूप के साथ में व्यंग्य तथा वक्रोक्ति की भी पुट रहे।

कह 'रसाल' कवि धन्य है, कृपिण और धनवान।
जाके छोटे चित्त में, धन को गर्व महान॥ —र० मं०

२—श्लिष्टाधिक—जहां श्लेष के साथ अधिक की भी पुट हो।

राखि न सकत शरीर पै, जो सुमनहु को भार।
लिये जात बहु सुमन हू, सोइ सुन्दर सुकुमार॥

—र० मं०

३—द्वितीय रूप—जहाँ आधार की अपेक्षा आधेय का, जो वास्तव में छोटा ही है, उत्कर्ष प्रकाशनार्थ बड़े रूप में वर्णन हो।

अति उदार श्रीमान हैं, धन्य धन्य हैं नित्त।
रंचक हु मद धरत नहिं, जिनको विशद सुचित्त॥
जा हरि के तन में बड़े, बड़े लोक दरसात।
राधा जी को प्रेम-सुख, तामें नाहिं समात॥

—र० मं०

नोटः—इसके भी प्रथम रूप की भाँति व्यंग्यात्मक एवं श्लेषात्मक रूप हो सकते हैं। ध्यान रहे कि जहाँ आधेय एवं आधार की वास्तविक न्यूनाधिकता दिखलाई जाती है वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता वरन् जहाँ यह न्यूनाधिकता केवल कवि की प्रतिभापूर्ण कल्पना के ही द्वारा दिखलाई जाती है वहीं यह अलंकार माना जाता है। इसमें अद्भुत रस की पुट सर्वदैव कुछ न कुछ रहती है। कविवर दंडी ने इस अलंकार को स्वतन्त्र स्थान न देकर अतिशयोक्ति के ही अन्तर्गत माना है। यदि देखा जावे तो यह अतिशयोक्ति का एक विशिष्ट रूप ही सा ठहराता है, किन्तु आचार्य मम्मट, अप्पय और विश्वनाथ आदि ने इसे स्वतन्त्र स्थान ही दिया है और लिखा है:—

१—अधिकापृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् ॥ १ ॥
पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ॥ २ ॥

—अप्पय

२—महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रियाणौस्यातां तनुत्वेऽप्यधिकन्तु तत् ॥

—मम्मट

३—आश्रयाश्रियिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

—साहित्यदर्पणे

हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव ने इस अलंकार को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया और न यह ही दिखलाया है कि यह अतिशयोक्ति या अन्य किसी अलंकार का विशेष रूप है, वरन् इसे इन्होंने छोड़ ही दिया है। शेष सभी आचार्यों ने इसे अप्पयादि के ही मतानुसार लिखा है, जिसे हम दिखला ही चुके हैं।

१—अतिशयोक्त्याधिक—जहाँ अतिशयोक्ति के साथ अधिक हो।

२—अत्युक्त्याधिक—जहाँ अत्युक्ति के साथ अधिक हो।

अधिक के रूप

१—आधेय के छोटे आधार को बड़ा दिखाना
२—आधार के छोटे आधेय को बड़ा दिखाना

साम

३—आधर के बराबर ही आधेय को दिखाना।
क—छोटे आधार का छोटा आधेय
ख—बड़े आधार का बड़ा आधेय
ग—छोटे आधेय के छोटे आधार को बड़ा दिखाना
घ—छोटे आधार के छोटे आधेय को बड़ा दिखाना

अल्प—

१—छोटे आधेय के बड़े आधार को छोटा दिखाना
२—छोटे आधार के बड़े आधेय को छोटा दिखाना
३—बड़े आधेय के बड़े आधार को छोटा दिखाना
४—बड़े आधार के बड़े आधेय को छोटा दिखाना

अन्योन्य

दो वस्तुओं की पारस्परिक कारणता का सम्बन्ध जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा प्रगट किया गया हो।

सोहत है कवि सों नृपति, नृप हू सों कविराज।
दोउ परस्पर करत हैं, गुन-गौरव को काज॥

र० मं०

नोटः—कहना चाहिये कि इसका सम्बन्ध एक प्रकार से भाषा के व्याकरण से है और यह वाक्य-सौंकोच्य का एक रूप है अर्थात् दो वाक्यों को एक ही क्रिया के द्वारा इसमें संयुक्त किया जाता है और दो क्रियायें पृथक पृथक नहीं रखनी पड़ती। यहाँ यह

ध्यान रखना चाहिये कि दोनों वाक्य तथा उनके कर्ता आपस में चमत्कार-चातुर्य से सम्बन्ध रखते हुये ही रक्खे जावें, और क्रिया ऐसी हो जो दोनो पक्षों में समान रूप से चारितार्थ होती हो, तथा दोनों वाक्यों में जातीय एकता हो। जहाँ दो वाक्यों के कर्ता एक दूसरे का एक सा उपकारादि करते हैं वहाँ भी यही अलंकार माना जाता है।

छोंदीं अँगुरिन पथिक जल, पीवत नजर उठाय।
पनिहारिहु प्यावन लगी, पतरीधार बनाय॥

—का० क०

ध्यान रखना चाहिये कि वाक्यों में किसी प्रकार पूर्वापर विरोध न आने पावे, तथा वे ऐसे न हों कि एक के लिये एक प्रकार की और दूसरे के लिये दूसरे प्रकार की क्रिया लानी पड़े, अर्थात् उनकी क्रिया सब प्रकार (लिंग, वचनादि के भी साथ) दोनों में चरितार्थ होवे। अब जिस प्रकार परस्पर उपकारादि में भी इसकी सत्ता मानी गई है उसी प्रकार परस्पर अपकारादि में भी (यदि वे एक ही प्रकार के हैं और एक ही क्रिया के या समान क्रियाओं के द्वारा संगुम्फित किये जा सकते हैं) इसकी सत्ता माननी चाहिये।

मानिनि राधा को मिले, जात गुमानी श्याम।
करि कटाच्छ दोऊ दिये, वेधि दोऊ हिय धाम॥

—र० मं०

अप्पय जी ने इसके लक्षण में पारस्परिक उपकार के भाव को ही प्रधान माना है—"अन्योन्यं नाम यत्रस्यादुपकारः परस्परम्।" किन्तु मम्मट और विश्वनाथ ने एक क्रिया से ही दो वस्तुओं के, एक कारणता के साथ, सम्बन्ध दिखलाने पर ही विशेषता रक्खी है—"क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनो जनिनेऽन्योन्यम्। —मम्मट

"अन्योन्यमुभयोरेक क्रियायाः कारणं मिथः।"

सा० द०

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव ने इसे कोई भी स्थान नहीं दिया, मतिराम जी ने भी यही किया है और इस अलंकार को छोड़ दिया है। दास जी ने लिखा हैः—

"होत परस्पर जुगुल सों, सो अन्योन्य सुछंद।"

भूषण जी ने भी उपकार के भाव को प्रधानता दी है और लिखा हैः—

'अन्योन्या उपकार जहँ, यह बरनन ठहराय।
ताहि अन्योन्या कहत हैं, अलंकार कविराय॥'

जसवन्तसिंह जी ने भी ऐसा ही किया है :—

'अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार।'

किन्तु लछिराम जी ने पारस्परिक सुखदत्व के भाव को प्रधान कहा है।

' जहँ उनते उनको सुखद, उनते उन सुख रूप।"

गोकुल ने पारस्परिक उपकार के स्थान पर पारस्परिक हित को रक्खा हैः —

"जहाँ परस्परहित तहाँ, अन्योन्यालंकार।

गोविन्द कवि ने इसके दो रूप यों दिये हैंः—

१—जो जाको सो ताहि कौ, करतु जहाँ उपकार।
२—जो जामें सो ताहि में, यह बरनन जहँ होइ॥

रामसिंह और दूलह ने भी उपकार के भाव को ही प्रधानता दी है। पद्माकर जी ने इसके २ रूप दिये हैं :—

१—सो अन्योन्य जु परस्पर, करै जु मिलि उपकार।
२—अन्योन्यहु अपकार जहँ, अन्योन्या अवलोक॥

नोटः—यह रूप हम भी ऊपर सूचित कर चुके हैं।

३—रहै जु दुहु दुहु मैं तहाँ, सो अन्योन्य विलास॥

इससे ज्ञात होता है कि हमारे इधर के दो आचार्यों ने इस अलंकार का कुछ विकास किया है, क्योंकि उन्होंने इसके और ऐसे रूप भी दिखलाये हैं, जिन्हें संस्कृत के आचार्यों ने कदाचित स्वतंत्र रूप से पृथक नहीं दिये।

अल्प

जहाँ किसी छोटे आधेय के उस आधार का भी, जो वास्तव में बड़ा है, छोटे रूप में वर्णन किया जावे, वहाँ अल्पालंकार माना जाता है।

कह 'रसाल' गोपाल बिनु, बाल भई यौं छीन।
कर अंगुरी की मूंदरी, ढीली बाँहन खीन॥

नोटः—यह अलंकार, यदि विचार पूर्वक देखा जावे, अधिक के प्रथम रूप का विलोम मात्र है। अधिकालंकार वहाँ होता है:— १—जहाँ किसी आधेय की अपेक्षा उसका आधार छोटा होता है किन्तु वह कवि-प्रतिभाजन्य कल्पना के द्वारा बड़ा दिखलाया जाता है। २—अथवा जहाँ आधार की अपेक्षा आधेय यथार्थ में छोटा होता है, किन्तु फिर भी वह कवि-प्रतिभाजन्य कल्पना के द्वारा बड़ा दिखलाया जाता है। इस रूप को तो छोड़िये और लीजिये प्रथम रूप को, और साथ ही तुलना के लिये उठाइये अल्प को। अल्प में आधेय की, जो छोटा ही होता है, अपेक्षा, जो आधार बड़ा है वह भी छोटा ही दिखलाया जाता है।

अब स्पष्ट है कि यह अधिकालंकार के प्रथम रूप का विलोम ही है। हमने अधिक के विलोम रूप को न्यूनालंकार की संज्ञा दी

है और उसको दो मुख्य रूपों में दिखलाया है प्रथम रूप तो यही है जिसे आचार्यों ने अल्प की संज्ञा दी है, और दूसरा रूप अधिकालंकार के द्वितीय रूप का बिलकुल विलोम ही है, अर्थात् जहाँ आधार की अपेक्षा, जो आधेय बड़ा है वह भी छोटा ही दिखलाया जाये।

यहाँ यह रूप आचार्यों के द्वारा छोड़ दिया गया है, किन्तु हम इसे और अल्प को साथ साथ लेकर यदि न्यूनालंकार के दो रूपों के समान रख लें तो कोई भी हानि न होगी।

संस्कृत के अन्य आचार्यों जैसे मम्मट और विश्वनाथ ने अल्प को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया, वरन् अधिक के ही अन्तर्गत माना है, किन्तु यह ठीक नहीं', क्योंकि यह अधिक के प्रथम रूप का ठीक विलोम है, और इसीसे इसे पृथक स्थान मिलना चाहिये। कदाचित यही विचार कर जयदेव एवं अप्पय ने इसे स्वतंत्र स्थान दिया है।

"अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद् यदाधारस्य सूक्ष्मता।"

कुव०—८४

हिन्दी के आचार्यों में से केशव दास, भूषण, गोकुल और देव जी इसे नहीं देते। शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे इसी प्रकार दिया है जिस प्रकार हमने ऊपर दिखलाया है, क्योंकि प्रायः सभी चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के ही मतानुयायी हैं।

इसे अन्य मुख्य एवं इसके सहयोगी अलंकारों के साथ रख कर ये रूप और बनाये जा सकते हैं और इन सब को संकीर्ण की संज्ञा दी जा सकती है।

१—अतिशयोक्त्यल्प—अतिशयोक्ति के साथ जहाँ अल्प हो।

२—अत्युक्त्यल्प—जहाँ अत्युक्ति के साथ अल्प हो।

तुम बिन बाल बिहाल ह्वै, भई महा कृश गात।
बेसर मोती-छेद सों निकसि गात सब जात॥

नोटः—कह सकते हैं कि अधिक के समान अल्प का भी आधार अतिशय ही है, और अतिशय की कुछ न कुछ पुट इसमें सर्वत्र ही अवश्य रहती है।

३—उपमाल्प—जहाँ उपमा के साथ अल्प हो।

बेसर-मोती बाहु में, वलय सदृश फबि जात।

४—उत्प्रेक्षाल्प—जहाँ उत्प्रेक्षा के साथ अल्प हो।

बेसर-मोती बाहु परि, मनौ बलय बनि जात।

५—सूच्याल्प—जहाँ अल्प का भाव सूच्य रूप में ही हो।

अँगुरी की मुँदरी बड़ी ढील बाहु मैं होति।

नोटः—कवि मुरारी दान ने जहाँ रम्यता के लिये अतिशय अल्पता कही जाती है वहाँ भी इसे माना है।

विशेषालंकार

जहाँ, जो आधार किसी आधेय के लिये प्रसिद्ध है, उस आधार के बिना ही उसके आधेय की शोभा के साथ अबाध स्थिति हो, वहाँ विशेषालंकार माना जाता है।

वन्दनीय किहि के नहीं, वे कविन्द मतिमान।
स्वरग गयेहू काव्य रस, जिनको जगत जहान॥

—का० क०

इसके दो रूप और माने गये हैं :—

द्वितीय रूप—जहाँ किसी वस्तु की, उसके एक ही स्वभाव के साथ, एक ही समय में, अनेक स्थानों पर आवृत्ति हो, वहाँ भी विशेषालंकार माना जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि वस्तु तो एक ही या वही रहे, उसके गुण, कर्म, स्वभाव, रूप और रंग आदि भी एक ही रहें, उनमें किसी प्रकार का अन्तर या परिवर्तन

न हो, साथ ही समय भी एक ही हो, किन्तु उस वस्तु की स्थिति अनेक स्थानों में दिखलाई जावे। ध्यान देना चाहिये कि पर्यायोक्ति नामी अलंकार में भी एक ही वस्तु अनेक आश्रय या स्थान पर दिखलाई जाती है, किन्तु ऐसा उसमें एक ही समय में नहीं होता, वरन् समयान्तर या परिवर्तन से होता रहता है और उसके स्थान एवं आश्रय (आधार) क्रमशः एक के पश्चात् दूसरा यों चलते रहते हैं। यही इन दोनों में अन्तर है।

कवि वचनन, सुमुखिन दृगन, जनक-सुता हिय मांहि।
प्रविशे श्रीरघुवंश मनि, तोरत ही धनु तांहि॥

—का० क०

तृतीय रूप—जहाँ किसी एक कार्य के करते हुये किसी दूसरे अशक्य कार्य को होता हुआ दिखलाया जावे।

सीतहिं दीन्ह सुहाग-सुख, मद भूपन को मोरि।
निज जन सुख दै, जीति लै, लई राम धनु तोरि॥

नोटः—जहाँ एक कार्य (मुख्य) के करते हुए कोई दूसरा कार्य भी उसी के साथ हो जावे, वहाँ तो साधारण विशेषालंकार किन्तु जहाँ एक मुख्य कार्य के करते हुये उसके साथ कई कार्य भी सिद्ध किये जावें, वहाँ विशेष-माला जाननी चाहिये। यथा—उक्त उदाहरण में।

ध्यान रखना चाहिये कि प्रयत्न एवं साधन एक ही कार्य के लिये हों और उनसे वह कार्य (जिसके लिये वे प्रयत्न एवं साधन किये गये हैं) तो हो ही जाये, उसके साथ ही उन्हीं प्रयासों एवं साधनों से अन्य कार्य भी हो जावें, अर्थात् मुख्य कार्य और होने वाले अन्य कार्यों के प्रयास एवं साधन एक ही हों। यह इसमें एक आवश्यक बात है।

इसके अन्य भेद यों भी हो सकते हैं:—

जहाँ किसी कार्य के कारण अन्य कार्यों का संहार हो जावे और मुख्य कार्य तो (जिसे किया गया है तथा जिसके लिये प्रयत्नादि किये किये गये हैं) हो जावे, किन्तु उसके कारण अन्य कार्य बिगड़ जावें—या नाश ही हो जावे।

इसके दो रूप हो सकते हैं:—

१—इष्ट कार्य की जहाँ सिद्धि हो और उसके प्रयत्न से अन्य अनिष्ट कार्यों का नाश हो। यथाः—

राम राम रसना रट्यो, मिल्यो सु रामानन्द।
सकल पाप अरु ताप त्रय, नाश भये दुख द्वन्द॥

२—जहाँ एक अनिष्ट कार्य हो जावे और उसके साथ उसी के कारण और भी दूसरे अनिष्ट कार्य हो जावें। यथा:—

मोंहि आजु विधवा कियो, राम! बालि कहँ मारि।
अधिक कहौं का संग ही, दिये सबै सुख दारि॥

३—जहाँ किसी कार्य के साथ कुछ अन्य इष्ट कार्य तथा कुछ अन्य अनिष्ट कार्य भी हों।

४—जहाँ मुख्य कार्य तो न हो किन्तु अन्य कार्य (इष्ट एवं अनिष्ट) हो जावें।

नोटः—जहाँ कार्यों का संहार हो जावे वहाँ हम सांघातिक विशेष यदि मान लें तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ऐसे रूप का नाम मुख्य रूप से पृथक् ही होना उचित है।

इन्हीं उक्त मुख्य तीन रूपों को मम्मट, अप्पय एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों ने प्रधान माना है और अपने अपने ग्रन्थों में दिया है। हमारे हिन्दी के आचार्यों में से देव जी को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने इसे अलंकार मान कर स्वतन्त्र स्थान दिया है।

केशवदास ने इसका केवल एक ही रूप दिया है :—

साधन कारण विकल जहँ, होय साध्य की सिद्ध।
केशवदास बखानिये, सो विशेष परसिद्ध॥

यह लक्षण हमारे साधारण लक्षण से कुछ वैलक्षण्य रखता है। भिखारीदास ने इसे यों देकर इसके ३ रूप यों दिये हैं :—

अनाधार, आधेय अरु, एकहिं ते बहु सिद्धि।
एकै सब थल बरनिये, त्रिविधि विशेष न वृद्धि॥

इसमें भी अपनी विशेषता स्वतन्त्र ही है। मतिराम जी ने इसके ३ रूप दिये हैं और अप्पय जी का अनुसरण किया है :—

१—जहँ आधेय बखानिये, बिन प्रसिद्ध आधार।
२—जहँ अनेक थल में कछू, बात बखानत एक॥
३—करत कछू आरम्भ ते, जहँ असक्य कछु और।

भूषण ने इसका एक ही रूप दिया है :—

बरनत हैं आधेय को, जहँ बिनही आधार।
ताहि विशेष बखानहीं, भूषण कवि सरदार॥

जसवन्तसिंह ने ३ रूप इसके यों दिये हैं:—

१—तीन प्रकार विशेष है, अनाधार, आधार।
२—थोरो कछु आरम्भ जब, अधिक सिद्धि को देय॥

नोटः—यहाँ यह विशेषता एवं विलक्षणता है कि कार्य का थोड़ा ही आरम्भ हो या किसी छोटे कार्य का (अल्प) आरम्भ किया गया हो और उससे किसी अधिक एवं बड़े फल की प्राप्ति हो, या तनिक प्रयास से ही बड़ा लाभ हो।

३—वस्तु नेक को कीजिये, बरनन ठौर अनेक।

लछिराम ने भी इसके केवल वे ही ३ भेद दिये हैं जिन्हें जसवन्त सिंह ने दिया है।

१—बिन अधार आधेय जहँ, प्रथम विशेष सुरूप।

२—थोरे ही में सिद्धि जहँ, मिलै अधिक सुखदानि॥

नोटः—यहाँ यह स्पष्ट नहीं कि कार्य का थोड़ा होना (अल्प होना) चाहिये या प्रयत्न को न्यून रूप में होना चाहिये।

३—वस्तु एक ही को जहाँ, बहुविधि बरनन साज।

नोटः—यहाँ यही ज्ञात होता है कि जहाँ किसी एक वस्तु (कार्य) का अनेक प्रकार से वर्णन किया जावे वहाँ तृतीय रूप होता है।

गोविन्द कवि ने इसके ४ रूप यों दिये हैंः—

१—बरनत हैं आधेय जहँ, बिन प्रसिद्ध आधार।

२—कहुँ प्रसिद्ध आधार को बिनहू किये बखान॥

नोटः—जहाँ प्रसिद्ध आधार का वर्णन ही न किया गया हो।

३—एक वस्तु बहु ठौर मैं, बरनन कीजे और।

४—अनहूबे लायक जहाँ, होइ करत कछु काज॥

नोटः—जहाँ किसी कार्य के करते हुये कोई अनहोनी बात हो जावे। रामसिंह, दूलह और पद्माकर जी ने राजा जसवन्तसिंह के ही समान इसके वे ही उक्त ३ रूप दिये हैं जिन्हें राजा साहब ने अप्पय के चन्द्रालोक से लिया है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ कारणों के रहने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं होती, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार माना जाता है। देखो विशेषोक्ति अलंकार—

अन्य रूप

१—जहाँ एक ही कार्य के कुछ इष्ट फल और कुछ अनिष्ट फल हों।

भंज्यो शिव-धनु राम जब, लह्यो सीय, सुख, मान।
और सबै नीको भयो, टूट्यो धनुष महान॥

प्रतिविम्ब-विशेषः—जहाँ प्रतिविम्ब के आधार पर विशेष की सत्ता हो।

मनिमय खंभन में सजै, रामचन्द्र-सिय साथ।

परिवर्तन या रूपान्तर पूर्णः—

अन्यरूप—

१—जहाँ जिस कार्य के लिये प्रयत्नादि किये गये हैं न तो वही कार्य हो और न अन्यकार्य भी हो, प्रयत्न निष्फल ही रहे।

२—जहाँ मुख्य कार्य तो अपने प्रयत्नादि के बल से हो जावे किन्तु अन्य कार्य न हो। (विशेषोक्ति देखो)

३—जहाँ मुख्य कार्य के प्रयत्नों से वह कार्य हो जावे और कुछ ही विशेषता प्रयत्नादि में हो जाने या आ जाने (कर देने) से अन्य कार्य भी हो जावें।

४—जहाँ मुख्य कार्य, जिसके लिये ही विशेषतया प्रयत्नादि किये गये हैं, हो जावे और उसके ही हो जाने के कारण से अन्य कार्य भी, जिनका वह कारण है, हो जावें, अर्थात् मुख्य कार्य की सिद्धि भी अपने प्रयत्नों एवं साधनों के साथ एक कारण या साधन के रूप में हो कर अन्य कार्यों को सिद्ध करे।

५—जहाँ किसी कार्य के हो जाने से उसके सहयोगी एवं सहचर (सम्बन्धी) कई कार्य या फल सिद्ध हों—

राम राम के भजन सों, भजे सवै अघवृंद।
शुद्ध बुद्धि, मन विमल भो, सुपद मिल्यो आनंद॥

६—जहाँ एक कार्य के करने से उसके अनेक या कई फल प्राप्त हों।

सत्कविता के करन सों, रीझैं शारद मात।
कीरति, सुख, सम्मान, धन, मिलि 'रसाल' सब जात॥

विशेषक (वैसरूप्य)

अप्पय जी ने इसे उन्मीलित नामी अलंकार के साथ लिखा है और इसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया:—

"भेद वैशिष्टययोः स्फूर्तावुन्मीलित विशेषकौ ॥

इसे सामान्य अलंकार का प्रतिद्वंद्वी ही जानना चाहिये, जहाँ सामान्य अलंकार में कुछ विशेषता दिखलाई जाये, वहाँ विशेषक अलंकार मानना चाहिये। कह सकते हैं और जैसा कहा भी गया है कि यह अलंकार सामान्यालंकार का एक विशिष्ट भेद ही है, क्योंकि जब सामान्यालंकार में (आकार के विचार से) किसी विशेषता के कारण दोनों वस्तुओं में (जिनमें सब प्रकार सादृश्य ही है) भेद की प्रतीति हो जावे, वहाँ विशेषक (विशेषता का करने या दिखाने वाला) अलंकार माना गया है।

मम्मट और विश्वनाथादि ने इसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया काव्य प्रकाश में इसे सामान्य ही के अन्तर्गत माना है।

भाषा के आचार्यों में से केशव, और देव ने इसे स्वतंत्र अलंकार न मान कर अपने ग्रंथों में नहीं दिया। शेष सभी आचार्यों ने कुवलयानंद एवं चन्द्रालोक के अधार पर इसे एक पृथक अलंकार माना है।

भिखारीदास ने भी इसे सामान्य का एक विशेष रूप ही कहा है, जैसे मीलित के विशेष भेद को उन्मीलित माना है।

"जहँ मीलित सामान्य ते, भेद कछू ठहराइ।
तहँ उन्मिलित, विशेष कहि, बरनत सुकवि सुभाइ ॥

ठीक इसी प्रकार मतिराम जी ने भी लिखा है। भूषण जी ने इसे यों लिखा है:—

"भिन्न रूप सादृश्य में, लहिये कछू विशेष।
ताहि विशेषक कहत हैं, भूषन सुमति उलेख ॥

जसवन्तसिंह ने लिखा है:—यह विशेषक विशेष सुनि, फुरै जु समता मांझ। लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर ने भी इसे सामान्य का एक विशेष रूप मान कर सामान्य में कुछ विशेषता का प्रगट करने वाला कहा है।

गोकुल कवि ने इसके स्थान पर वैसख्यालंकार दिया है।

"मीलित में जहँ एक के, बढ़ि गुन, धर्म लखाय।
सो वैसख्य मिले सलिल, ज्यों मिश्री मधुराय॥

दास जी ने इसे एक स्थान पर विशेष और उन्मीलित का मिश्रित रूप कहा है।

"है विशेष उन्मिलित मिलि, यों हूं जान्यो जाय॥"

व्याघात

जहाँ किसी व्यक्ति के द्वारा जिस उपाय (साधन या प्रयत्न) से कोई कार्य सिद्ध किया गया हो उसी उपाय से किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उस कार्य का विरोधी कार्य किया जाता है या उस कार्य को अन्यथा किया जाता है, वहाँ व्याघात नामी अलंकार माना जाता है।

नोटः—जहाँ कोई व्यक्ति किसी कारण से किसी कार्य को रोकता है या नहीं करता, उसी कारण को लेकर कोई दूसरा व्यक्ति जब उसे उसी कार्य के करने को बाध्य सा करता है या उस कार्य को अवश्यं करणीय कह कर कराता है, वहाँ भी व्याघात माना जाता है। ऐसी दशा में प्रायः तर्क एवं चातुरी (वाक्-चातुरी या वाक्.परिवर्तन-क्षमता) से बहुत काम लिया जाता है और एक प्रकार से इसका रूप प्रायः वैसा ही होता है जैसा तर्क-शास्त्र के Dialama और उसके Rebutal का।

कह सकते हैं कि इसका कुछ कुछ सम्बन्ध न्याय शास्त्र के वस्तुतोव्याघात से भी है। काव्यप्रकाशकार ने इसे व्याघात का ही रूप माना है, किन्तु अलंकारसर्वस्वकार ने इसे व्याघात का दूसरा भेद कहा है।

बचनन की रचनान सों, दुरजन दहत सरीर।
सुजन सुबैनन सों तथा, हरत हिये की पीर ॥ १ ॥
जो जानत अबला हमैं, तौ न हमैं तजि जाहु ॥ २ ॥

हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास और देव ने इसे अपने ग्रंथों में नहीं दिया। भिखारीदास ने इसके दो रूप यों दिये हैं—

१—प्र० व्या०—जाहि तथाकारी गनै, करै अन्यथा सोउ।

अर्थात् जहाँ जो यथावत कार्य करने वाला है वही अन्यथा कार्य करने वाला हो जावे।

२—द्वि० व्या०—काहू सुद्ध, विरुद्ध सों, है व्याघातै दोउ ॥

अर्थात् जहाँ किसी शुद्ध कार्य का विरुद्ध रूप में वर्णन हो। मतिराम जी ने भी दो भेद दिये हैं:—

१—'जो जैसो करतार, सो विरुद्धकारी जहाँ।'

जहाँ कोई कर्ता अपने कार्य का विरोधी कार्य करता हो।

२—'जहाँ क्रिया की सुकरता, बरनत काज विरोध।'

भूषण जी ने इसको केवल एक ही रूप में रक्खा है:—

"और काज करता जहाँ, करै और ही काज।"

जहाँ किसी कार्य का करने वाला, उस कार्य को छोड़ कर कोई दूसरा ही कार्य (चाहे वह प्रथम कार्य का विरोधी हो या न हो) करे।

भूषण जी के शिवराज भूषण के सम्पादक श्री "मिश्रबंधुओं ने इसकी टिप्पणी में लिखा है कि" यह लक्षण अशुद्ध प्रतीत होता है, (क्योंकि) 'हितकारी वस्तु को अहितकारी वर्णन करने में

व्याघात अलंकार होता है" जैसा दूलह कवि का मत है। किन्तु हमारा तो यहाँ यही कहना है कि यह अशुद्ध क्यों ठहराया जावे, वरन् इसे यों क्यों न लिया जावे कि भूषण के मतानुसार व्याघात का यही लक्षण मुख्य है, भूषण ऐसी ही दशा में (जहाँ किसी कार्य का करने वाला उस कार्य से कोई भिन्न कार्य करे) व्याघात अलंकार मानते हैं (ऐसा मानते हुये हम इस रूप को व्याघात का एक विशेष रूप ही क्यों न मान लें) इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि न केवल भूषण ने ही इसका ऐसा लक्षण दिया है, वरन् दास, जसवन्त सिंह तथा लछिराम आदि ने भी ऐसा ही लक्षण व्याघात के प्रथम भेद का दिया है। मिश्र वंधुओं ने केवल दूलह के ही आधार पर न जाने क्यों इसे अशुद्ध कह दिया है उन्होंने न जाने क्यों यह भी नहीं देखा कि भूषण ने ऐसा लिखा ही क्यों, और किसके आधार पर लिखा है।

जसवन्तसिंह ने इसके दो भेद यों दिये हैं:—

१—व्याघात जो सो और ते, कीजै कारज और।

२—बहुरि विरोधी तें जबै, काज ल्याइए ठौर॥

टीकाकार यहाँ लिखते हैं कि 'व्याघात दो प्रकार का होता है, १—जब किसी से (जिससे कोई ज्ञात कार्य होता है) विपरीत कार्य का होना दिखलाया जावे २—जब किसी तर्क को उलट कर उसके विरुद्ध पक्ष की क्रिया का समर्थन किया जाय।" यहाँ दूसरा भेद आपने कदाचित जसवन्त सिंह के आधार पर नहीं दिया, यदि दिया है तो आपने न जाने कैसे ऐसा तात्पर्य उक्त दोहे के दूसरे चरण से निकाल लिया है। हाँ यह ठीक है कि आपके कथनानुसार जहाँ तर्क को उलटा कर उसके विरोधी पक्ष की क्रिया का समर्थन होता है वहाँ भी व्याघात (कदाचित वस्तुतोव्याघात ?) माना जा सकता है। इसे हमने भी दिखलाया है।

लछिराम ने २ भेद यों दिये हैं:—

१—करै काज जहँ अन्यथा, होय तथाकारीस।

२—जहँ विरुद्ध ते सिद्धता, कारज की पहिचानि॥

गोकुल जी ने कदाचित इसके ३ भेद माने हैं और उन्हें यों दिया है।

१—अन्यथाकारी है, तथा, कारी सो व्याघात।

२—तथाकारिहू अन्यथा, कारी जहँ ह्वै जात॥

यह प्रथम रूप का विलोम ही है।

३—सो कारज निर्वैद्ध जहँ, अपने है अवदात।
कार्ज विरोधी होइ सो, यहौ कहौ व्याघात॥

गोविन्द जी ने इसको दो भेदों में यों माना है, १—विशुद्ध २—अन्यथा।

१—विशुद्ध—कारन के निज काज ते, प्रगट जु काज विरुद्ध।
सो तौ कवि जन के मते, है व्याघात विशुद्ध॥

२—सो व्याघात, समुझि करै, और और को हेतु।
लखि अनुकूल विरुद्ध को, हेतु और करि लेत॥

इस रूप से यह ज्ञात होता है कि जहाँ किसी कार्य के हेतु को किसी अन्यकार्य का हेतु बना कर या समझ कर तथा विरोधी कार्य को अनुकूल देख कर जहाँ हेतु को बदल दिया जावे और फिर कार्य किया जावे, वहाँ भी द्वितीय व्याघात होता है। पद्माकर जी ने भी इसी प्रकार लिखा है:—

१—सुव्याघात करता जु जस, सुविरुधकारी होइ।

अर्थात् जो कर्ता जैसा कार्य करता है वैसा न कर उसके विपरीत करे।

२—हेतु कौनहू ते जु कछु, कोऊ थपै जु बात।
और जु ताते जहँ विरुध, साधै तहँ व्याघात॥

रामसिंह और दूलह ने प्रायः एक ही प्रकार से इसे लिखा है—

१—हित को अहित बरनिये जहाँ।

२—द्वितीय विरोधी क्रिया बखानै॥

—रामसिंह

१—हितकारी वस्तु सों अहित बरनै व्याघात,………

२—कारज विरोधी क्रिया उचित कै थापियै सो,……

—दूलह कवि

अब यदि विचार पूर्वक और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जावे तो ज्ञात होता है कि प्रायः सभी उक्त आचार्यों ने अप्पय एवं विश्वनाथ जी का ही अनुकरण किया है। अप्पय जी ने इसके दो भेद यों दिये हैः—

१—स्याद्व्याघातोऽन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत्।

२—सौकर्येण निवद्धापि क्रिया कार्य-विरोधिनी॥

गोकुल जी ने इन पंक्तियों का अनुवाद ही किया है।

विश्वनाथ जी ने इन्हें यों दिया है :—

१—व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा॥

२—सौकार्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि।

आपके इन भेदों को हम ऊपर स्पष्ट रूप से दिखा ही चुके हैं।

मम्मट जी ने एक ही भेद इस अलंकर का माना हैः—

"यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।

तथैव यद्विधीयेत; सव्याघात इतिस्मृतः॥

अर्थात जो कार्य किसी के द्वारा किसी प्रकार किया गया है वही किसी अन्य के द्वारा अन्यथा रूप में किया जावे वहाँ व्याघात अलंकार होता है।

तृतीय व्याघात—जब एक ही व्यक्ति एक ही उपाय या कारण से एक कार्य कर के पुनः उसे अन्यथा करे या उसका कोई विरोधी कार्य करे। एक ही समय में:—

जेहि जीवन सों देत है, जीवन्ह जीवन दान।
तासों अर्क जवास के, पावस नासै प्रान॥

—र० मं०

भिन्न २ समय में—दै शसि सीतल कौमुदी, सुख सँयोग में देत।
ताही सों पुनि देत दुख, हरि वियोग में हेत॥

चतुर्थ व्याघातः—जहाँ एक ही व्यक्ति (या भिन्न भिन्न व्यक्ति एक ही उपाय से) एक ही या ऐसे दो कार्य करता है कि एक तो एक या कुछ व्यक्तियों के लिये अच्छा होता है और दूसरा कार्य प्रथम को अन्यथा सा करता या उसका विरोधी सा होता हुआ दूसरों को बुरा होता है।

पावस स्वाती वारि दै, नासै चातक-प्यास।
पै भुजंग-हित करत है, विष को विषम विकास॥

पंचम व्याघातः—(व्याघात विशेष) जहाँ पर जिस कारण या प्रयत्नोपाय से एक व्यक्ति ने कोई कार्य किया है, उस कारण में कुछ थोड़ी ही विशेषता (सदर्थ या असदर्थ) कर के वही व्यक्ति या कोई अन्य व्यक्ति उस कार्य का विरोधी (विपरीत फलप्रद) कार्य करता या उसी कार्य को अन्यथा करता है।

वचनन की रचनान सों, दुरजन दाहत देह।
वचन सुरचना सों तथा, सुजन देत सुख नेह॥

संकीर्ण

श्लिष्ट व्याघात :—जहाँ श्लेष की भी पुट रहे और उसी की सहायता से कार्य को अन्यथा किया जावे।

उदाहरण (दृष्टान्त) व्याघात—जहाँ व्याघात के साथ दृष्टान्त या उदाहरण का भी भाव रहे।

ज्यों बैनन सों दहत है, दुरजन चित्त सरीर।
त्यों सुबैन सों हरत है, सुजन हिये की पीर॥

अन्योक्तिगर्भाः—जहाँ अन्योक्ति के साथ व्याघात हो।

एकावली

जहाँ पूर्व में कही हुई बात (वस्तु) के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु या बात विशेषण-भाव के रूप में रक्खी जावे। वहाँ एकावली अलंकार होता है।

सुमति वही, निज हित लखै, हित वह जित उपकार।
उपकृति वह जहँ साधुता, साधुन हरि आधार॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें एक पद अपने पूर्व पद का विशेषण ही होता है और इस प्रकार उस पूर्व पद को पुष्ट तथा विशेष बलवान बनाता है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि यह एक प्रकार से विशेष्य-विशेषण-माला ही है। ध्यान रहे कि साधारण विशेष्य-विशेषणों के संगुंफन से यह अलंकार कदापि न होगा, उसमें चातुर्य-चमत्कार तथा किसी भाव को परिपुष्ट करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिये, प्रत्येक विशेषण ऐसा हो जो अभीष्ट भाव को बल एवं विशेषता ही देता हो तथा वहाँ प्रसंगानुकूल हो पूर्णतया चरितार्थ एवं सार्थक होता हो। यदि ऐसा न होगा तो अलंकारिता नष्ट हो जावेगी।

अब हम इसे दो रूपों में यों बाँट सकते हैं:—

१—सद्विशेषण—जहाँ पूर्ववर्ती विशेष्य पदों के विशेषण अच्छे अर्थ वाले पद हों। यथा उक्त उदाहरण में।

२—असद्विशेषण—जहाँ पूर्ववर्ती विशेष्यों के उत्तरवर्ती विशेषण अच्छे अर्थ वाले न होकर बुरे अर्थ वाले हों।

नोटः—साथ ही यह भी देखना चाहिये कि इसके दो भेद जैसे विशेषणों के आधार पर किये जा सकते हैं, वैसे ही विशेष्यों के भी आधार पर दो भेद और फिर दोनों के आधार पर अन्य भेद हो सकते हैं।

१—विशेष्य एवं विशेषण दोनों सुन्दर
२—विशेष्य सुन्दर तथा विशेषण बुरे
३—विशेष्य बुरा किन्तु विशेषण सुन्दर
४—विशेष्य विशेषण दोनों बुरे

विशेष्य एवं विशेषणों में से दोनों को या एक एक को श्लिष्ट करके इसको श्लिष्टैकावली भी कर सकते हैं।

सो घनश्याम जो देय रस, रस वह जो सुख देय।
सुख वह जाते देह मन, निज अभीष्ट लहि लेय॥

नोटः—ध्यान रहे कि यहाँ दो दो वाक्यों का जोड़ा होकर एक वाक्य-श्रृंखला सी बन जाती है। अतः इसे वाक्यमाला या श्रृंखला भी कह सकते हैं। यदि विशेष्य-विशेषण भाव या सम्बन्ध न रख कर हम इसमें पदों के स्पष्टार्थ या भाव सूचक पर्यायी शब्द देते जावें, तो भी एक विचित्र प्रकार की माला बनेगी। उसे भी हम एकावली का एक विशिष्ट रूप या पर्यायीमाला कह सकते हैं।

मधु, वसन्त, ऋतुराज वह, कुसुमाकर ऋतुराज।

इसी प्रकार जहाँ एक अनेकार्थ वाची शब्द के भिन्न अर्थों के सूचक पद दिये जावें वहाँ भी हम एकावली का एक दूसरा विशिष्ट रूप या भिन्नार्थ पद-माला कह सकते हैं।

मधु वसन्त, मधु चैत है, मधु मदिरा, मकरन्द।

इन उक्त दोनों रूपों को हम कोष-सम्बन्धी या अर्थ-सम्बन्धी रूप या भेद मान सकते हैं।

द्वितीय रूप—जहाँ विशेषण-भाव के साथ ही साथ निषेध का भी भाव दिया जावे।

सोहत सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधुन साधित, दीह दया न दिखै जिन माहीं॥
सो न दया जु न धर्म धरै, धर धर्म न सो जहँ दान वृथाही।
दान न सो जहँ साँच न 'केशव' साँच न सो जु बसै छल माहीं॥

उक्त रीत्यानुसार ही मम्मट एवं विश्वनाथ जी ने इस अलंकार को लिखा है।

स्थाप्यतेऽपोह्यतेवापि यथापूर्वं परस्परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

—मम्मट

तथा च—पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदैकावली द्विधा॥

—सा० सा०

अप्पय जी ने इसे इस प्रकार लिखा है:—

गृहीत मुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावली मता।

अर्थात् जहाँ गृहीत (ग्रहण किये हुये) तथा मुक्त (छोड़े हुये पदों की रीत्यानुसार (क्रमानुसार) एक अर्थ-श्रेणी हो, वहाँ एकावली अलंकार मानना चाहिये।

हमारे हिन्दी के आचार्यों, जैसे केशव और देव ने इसे नहीं दिया। दास ने लिखा है कि—

किये जँजीरा जोर पद, एकावली प्रामान।

मतिराम जी ने अप्पय के मतानुसार इसे यों दिया है:—

एक अर्थ लै छाँड़िये, और अर्थ लै ताहि ।
अर्थ-पाँति इमि कहत हैं, एकावली सराहि ॥

भूषण ने भी ऐसा ही कहा है :—

प्रथम बरनि जहँ छाँड़िये, जहाँ अरथ की पाँति ।

जसवन्तसिंह ने अप्पय के श्लोक का अनुवाद करते हुये यों लिखा है :—

गहत मुक्त पद रीति जब, एकावलि तब मानु ।

टीकाकार ने टिप्पणी दी है कि "जिससे पूर्व कथित के प्रति उत्तरोत्तर कथित का विशेषण-भाव से निषेध किया जावे।" और इस प्रकार आपने मूल में दिये हुए रूप के साथ यह एक दूसरा रूप भी दे दिया है, यद्यपि मूल-पाठ में यह रूप नहीं दिया गया।

लछिराम जी ने इसकी परिभाषा देते हुये ("जबहिं जँजीरा जोर पद, ग्रहित मुक्त के साज।") एक नया अलंकार "मुक्त प्रकासी" नाम से दिया है और इसका लक्षण यों दिया है :—

मुक्त प्रकाशी अलंकार

"एकावलि के बीच में, प्रश्नोत्तर परकास ।
अलंकार बरनन करैं, मुक्तप्रकासी भास ॥

अर्थात् जब एकावली के बीच या साथ में प्रश्नोत्तर भी व्यक्त किया जाता है तब मुक्तप्रकाशी नाम का अलंकार माना जाता है। यह रूप या भेद एक नवीन रूप ही है और हमारे मिश्रालंकारों के अन्दर आता है। इसमें दो अर्थालंकार एक ही साथ पूर्ण रूप से मिला दिये गये हैं। इस प्रकार के मिश्रालंकारों का प्रारम्भ ऐसे

आचार्यों के द्वारा किया तो गया परन्तु उनका विकास आगे नहीं हो सका।

गोकुल, गोविन्द, रामसिंह और पद्माकर ने प्रायः एक सी ही परिभाषायें दी हैं और पूर्व पदों को छोड़ कर उत्तर पदों को लेना तथा अर्थों की एक माला बनाना ही इसका मूल तत्व है, ऐसा माना है।

कहो बहुरि छोड्यो परै, अरथ अवलि जेहि ठौर।

—दूलह, कर्ण०

दूलह कवि ने भी एकावली का यही लक्षण देकर कहा है कि एकावली के साथ दीपकालंकार के मिला देने से मालादीपक नामी अलंकार (जिसे हम दीपक के साथ दिखला चुके हैं) बन जाता है।

"गहि पद छोड़ै ताकी श्रेनी एकावली......

.........यामें दीपक मिलाये मालादीपक ह्वै बाजै री॥

—कंठा० १८

नोटः—ध्यान रहे कि कारण माला में केवल कार्य और कारण की माला रहती है, किन्तु यहाँ सभी प्रकार की बातों या वस्तुओं की माला रहती है। कारण माला को हम इसका एक विशिष्ट रूप कह सकते हैं।

कारणमाला या गुंफ

जहाँ पूर्ववर्ती भाव (अर्थ) उत्तरवर्ती भाव (अर्थ) का हेतु या कारण बनाया जावे और इसी प्रकार एक शृंखला सी बना दी जावे।

विद्या ते होवै विनय, विनय पात्रता देय।

देत पात्रता धान्य, धन, धन सुख, धर्महिं देय॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसी के समान ही मालादीपक नामी अलंकार में भी पूर्वोत्तर पदों का सम्बन्ध रहता है, तथा उनसे एक माला सी बनती है, किन्तु उसमें उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं को पूर्ववर्ती वस्तुयें उत्कर्ष प्रदान करती हैं, किन्तु यहाँ उत्तरवर्ती वस्तुओं को पूर्ववर्ती वस्तुयें उत्पन्न करने वाली सी होती हैं। अर्थात् मालादीपक में पूर्वोत्तर कथित वस्तुओं की माला में उत्पादनता का भाव प्रधान रहता है, यही दोनों में मुख्य अन्तर है।

१—इसके साथ भी प्रश्नोत्तर नामी अलंकार को मिला सकते हैं।

"विद्या ते उपजत कहा, विनय, विनय का देय।" इत्यादि—

२—इसके साथ विनोक्ति को भी रख सकते हैं:—

विद्या के बिन विनय नहिं, ता बिन नर न सुपात्र।
बिन सुपात्रता धन नहीं, ता बिन धर्म न अत्र॥

नोटः—ध्यान देने से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार यहाँ पूर्ववर्ती वस्तु उत्तरवर्ती वस्तु को उत्पादक या उसका कारण होती है, उसी प्रकार उत्तरवर्ती वस्तु पूर्ववर्ती वस्तु से उत्पन्न या संभूत होकर उसके कार्य रूप में होती है। अतः कह सकते हैं कि यहाँ कार्यमाला भी है। इस विचार से इसे यदि कार्य-कारण-माला भी कहें तो भी अनुचित न होगा। हाँ यदि यह कहें कि यहाँ कारण प्रथम और प्रधानता के साथ दिया गया है इसीसे इसे कारण-माला को संज्ञा दी गई है तो भी ठीक है, ऐसी दशा में हम कार्यों को पूर्व में रख तथा उन्हें प्रधानता देकर कार्य-माला के नाम से एक अलंकार और रख सकते हैं।

कार्य-मालाः—जहाँ पूर्ववर्ती वस्तु अपने उत्तरवर्ती वस्तु का कार्य या फल हो, अर्थात् उससे उत्पन्न हुई हो, और इस प्रकार एक माला सी भी बनाई गई हो, वहाँ कार्यमाला जानना चाहिये।

कुमति नीच के संग सों, विपति कुमति ते होय।

कारणमाला का दूसरा नाम गुंफ भी है क्योंकि यहाँ कारणों का एक शृंखला में संगुंफन सा किया जाता है।

कुछ लोगों का मत है कि इसमें कारणों एवं कार्यों को किसी विशेष क्रम से रखने की कोई व्यवस्था न होनी चाहिये। यह अलंकार दोनों दशाओं में माना जा सकता है, अर्थात् जब कारण अपने कार्य से पूर्व हो या जब कार्य अपने कारण से पूर्व हो। दोनों ही दशाओं में कारणमाला अलंकार मानना होगा, किन्तु यदि हम क्रम को प्राधान्य दें तो हमें इसके दो भेद करने पड़ेंगे, और एक को तो कारण-माला और दूसरे को कार्य-माला ही कहना उचित होगा, जैसा हम प्रथम दिखला चुके हैं। अप्पय, मम्मट और विश्वनाथ आदि संस्कृत के आचार्यों ने उक्त लक्षण ही को प्रधानता दी है और क्रम को ही आवश्यक सा माना है, क्योंकि वे उक्त क्रम के अनुसार ही कारणों एवं कार्यों को रखते हुए इसकी परिभाषायें देते हैं।

"परं परं प्रति यदा पूर्व पूर्वस्य हेतुता।"
तदा कारण-माला स्यात्.........सा० द०
गुम्फः कारणमाला स्यात् यथाप्राक् प्रांत कारणैः। कुव०
यथोत्तरे चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता॥
तदा कारणमालास्यात्.....................का० प्र०

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव, और देव को छोड़ कर शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे इसी प्रकार ही दिया है।

दास जी लिखते हैं:—

कारन तें कारज-जनम, कारन-माला चारु।

भूषण ने लिखा है :—पूरब पूरब हेतु कै, उत्तर उत्तर हेतु।
या विधि धारा बरनिये, गुम्फ कहावत नेतु॥

जसवन्तसिंह भी इसी प्रकार लिखते हैं:—
कहिये गुम्फ परम्परा, कारन माला होत।

अर्थात् इस अलंकार का मूलतत्व यही है कि जहाँ किसी कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य फिर किसी अन्य कार्य का कारण हो जावे और इसी प्रकार एक क्रम के साथ कार्यों एवं कारणों की एक शृंखला सी बनाई जावे।

गोविन्द जी ने, इसमें क्रम को विशेषता न देकर इसके दोनों प्रकार के क्रमों से गुम्फित किये जाने पर (चाहे प्रथम कारण दिये जावें या प्रथम कार्य दिये जावें) इसकी सत्ता मानी है :—

१—आगे आगे को जहाँ, पूरब पूरब हेतु।
२—विपरीतहु ते मानि कवि, कारन माला हेतु॥

पद्माकर ने भी इसी प्रकार इसके दोनों क्रम दिये हैं :—

१—"हुब जु हेतु तै काज सों, अन्य काज को हेतु।
२—प्रथम काज पुनि हेतु सों, काज और को जन्म॥"

नोटः—मतिराम ने इसे हेतु के नाम से यों लिखा है :—

१—पूरब पूरब हेतु जहँ, उत्तर उत्तर काज।
२—उत्तर उत्तर हेतु जहँ, पूरब पूरब काज॥

ये दोनों भेद अप्पय जी के ही आधार पर आधारित हैं।

यथासंख्य (क्रम)

जहाँ किसी एक क्रम से कहे हुए पदों, भावों एवं अर्थों का उसी क्रम के साथ अन्वय होकर साहचर्य एवं सहयोग-सम्बन्ध हो, वहाँ यथासंख्य अलंकार माना जाता है। इसे क्रम भी कहते हैं।

इसके दो मुख्य भेद माने गये हैं :—

१—शाब्द:—जहाँ शब्दों का समास न होकर एक विशिष्ट क्रम से अन्वय-सम्बन्ध दिया गया हो।

तरुनाई-गुन लजत चख, हरिमुख हित ललचाँय।
राधा वारिज नैन युग, यों वारिज विकसाँय॥

२—आर्थ:—जहाँ पदों का समास के साथ क्रमशः अन्वय-संबंध हो।

चख-शर-कृत अद्भुत जतन, बधिक बैद निज हथ्थ।
उर उराज भुज अधर रस, सेंक पिंड पट पथ्थ॥

—का० क०

मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय आदि ने इसी प्रकार इस अलंकार का रूप माना है—अप्पय और मम्मट जी की परिभाषायें तो अक्षरशः मिलती हैं—

"यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः"। का० प्र० ३०८
"यथा संख्य क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः"॥ कुव० ६४

यहाँ तात्पर्य तो एक है ही (अर्थात् क्रमिकाओं या क्रमशः कहे हुये भावों या अर्थों का—जहाँ एक क्रम से अन्वय हो) पंक्तियाँ एवं पदावलियाँ भी एक ही हैं, ऐसा जान पड़ता है कि अप्पय जी ने मम्मट की नक़ल ही की है। विश्वनाथ जी ने इसे यों दिया है :—

"यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्"। स० द०

अस्तु, लक्षण प्रायः सबों ने एक ही से दिये हैं।

हमारे केशवदास जी ने इसके दो नाम दिये हैं:—

१—क्रमालंकारः—आदि अन्त भरि वर्णिये, सो क्रम केशवदास।

२—गणनालंकारः—अरु गणना सों कहत हैं,

जिनकी बुद्धि प्रकास॥

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि आपका यह अलंकार (क्रम एवं गणना) उक्त यथासंख्य से सब प्रकार पृथक ही है, यह आपकी परिभाषा से ही स्पष्ट है। इसलिये हम इसे एक स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं।

भिखारीदास ने इसके दो लक्षण दिये हैं:—

१—वस्तु अनुक्रम है जहाँ, यथा संख्य तेहि नाम।

२—पहिले कहे जु शब्द गनि, पुनि क्रम ते ता रीति।

कहि कै और निबाहिये, यथासंख्य करि प्रीति॥

इससे ज्ञात होता है कि आपका तात्पर्य इसके उक्त दो भेद (शाब्द और आर्थ जिन्हें हम ऊपर दिखा चुके हैं) देने से ही हैं।

मतिराम जी ने इसको 'संख्या' भी कहा है और इसका लक्षण एक बहुत साधारण रूप में दिया है:—साथ ही इसे क्रम भी कहा है। किसी किसी ने इसे 'संख्यान' की संज्ञा दी है।

"यथासंख्य क्रमसों कहै, क्रम ही बहुरि बखान॥"

गुलाब कवि ने इसे यों लिखा है:—

'क्रम से कहै पदार्थ को, क्रम से कथन जु होय।'

इससे यही ज्ञात होता है कि इसके दो रूप यों हैं:—

१—पदार्थों (वस्तु) या पदों का एक क्रम से रखना।

२—उनके सम्बन्धी भावों या अर्थों को भी क्रम से रखना।

भूषण ने भी ऐसा ही सूचित किया है कि क्रम से पदों को रख कर क्रम ही से उनके अर्थों को दे कर एक में सम्बद्ध करने को यथाक्रम कहते हैं :—

'क्रम सों कहि तिनको अरथ, क्रम सों बहुरि मिलाय ।
यथासंख्य ताकी कहैं, भूषण जे कविराय ॥'

जसवन्तसिंह ने भी लिखा है :—

यथासंख्य वर्नन विषे, वस्तु अनुक्रम संग ।

इसी प्रकार लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर भी, जो प्रायः अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद ही करके लिखते हैं अपने अपने ग्रन्थों में इसके लक्षण देते हैं ।

गोकुल कवि ने इसको क्रमिका की भी संज्ञा दी है :—

जथासंख्य अन्वय जहाँ, क्रम सों लैयै जानि ।
तहँ क्रमिकालंकार है, बरनत सुकवि बखानि ॥

देव जी ने इसे अपने ग्रन्थ में नहीं दिया, वे इसे अलंकार नहीं मानते हैं और वास्तव में इसमें कोई विशेष चमत्कार एवं चातुर्य भी नहीं है। यदि क्रम न होगा तो व्यतिक्रम दोष हो जावेगा और वाक्य व्याकरण से भी अशुद्ध माना जावे। कहना चाहिये कि इसका सम्बन्ध पूर्णतया व्याकरण से ही है। यदि इसे हम पद-व्यवस्था-क्रम कहें और अलंकारों से पृथक रक्खें तो भी अनुचित न होगा।

शब्दक्रमविशेष—जहाँ शब्द (संज्ञायें) ऐसे क्रम से हों कि उनके उस प्रकार रखने से किसी विशेष (अभीष्ट) अर्थ की उत्पत्ति हो जावे और यों देखने में केवल शब्दों की एक साधारण लड़ी सी जान पड़े ।

वर्ण्यविषयक्रमः—जहाँ उन विषयों का, जो वर्णनीय हैं और जिनका वर्णन कवि कर रहा है, एक यौक्तिक क्रम से वर्णन किया जावे, और विषय क्रमानुसार दिये जावें।

वर्णनक्रमः—जहाँ विषयों का वर्णन यथाक्रम हों।

अन्वयक्रमः—जहाँ पदों को यथाक्रम रक्खा गया हो, और उसी क्रम से अन्वय करने की आवश्यकता हो।

शब्द या पद क्रमः—जहाँ पद एक विशेष क्रम से रक्खे गये हों, इसके दो रूप होंगेः—१ स्पष्ट, जहाँ क्रम, स्पष्ट हो और उसके अनुसार अन्वय खोजने में कष्ट न हो।

२—गुप्तः—जहाँ पद किसी ऐसे विशेष क्रम से रक्खे गये हों कि वह क्रम साधारणतया न ज्ञात हो, वरन् खोजने पर उसका पता चले और तब यथाक्रम अन्वय होकर युक्ति संगत हो।

यह भाव-गोपन में बहुत काम देता है और कवि लोग इसके द्वारा कुतूहल एवं चमत्कार प्रगट करते हैं।

प्रश्नोत्तर क्रमः—जहाँ प्रश्नोत्तर एक क्रम से रक्खे गये हों। इसके दो रूप हैंः—१ स्पष्ट २ संगुप्त।

अलंकार क्रमः—जहाँ मालोपमा आदि माला सम्बन्धी अलंकार एक विशिष्ट क्रम के साथ रक्खे गये हों।

वर्णक्रमः—जहाँ कुछ विशेष (आभीष्टार्थ सूचक) वर्ण किसी विशेष क्रम के अनुसार रक्खे गये हों। इसके भेद हैं। १—स्पष्ट २—सांगोपित।

भावार्थ क्रमः—जहाँ परस्पर सम्बन्ध रखने वाले भाव या अर्थ एक उचित एवं यथार्थ क्रम के अनुसार दिये गये हों।

व्याकरणात्मक क्रमः—जहाँ व्याकरण के अनुसार संज्ञा, क्रिया एवं विशेषणादि एक विशिष्ट क्रम से रक्खे गये हों।

सार (उदार)

जहाँ वर्णित (वर्णनीय) वस्तुओं के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जावे, अथवा जहाँ पूर्ववर्ती वस्तु से उत्तरवर्ती वस्तु का उत्कर्ष अधिक दिखाया गया हो और उससे फिर उसके उत्तरवर्ती वस्तु का उत्कर्ष अधिक कहा गया हो और इस प्रकार एक श्रृंखला सी बना दी गई हो, वहाँ सार अलंकार माना जाता है।

जीवन जग को सार है, ताको संपति सार।
संपत्ति को उपकार पुनि, सार कहत संसार॥

—र० मं०

नोटः—इसे किसी किसी आचार्य ने, जैसे अलंकार सर्वस्वकार ने, उदार के नाम से भी लिखा है, इसमें और माला दीपक में यह अन्तर है कि मालादीपक में तो पूर्ववर्ती वस्तु अपनी उत्तरवर्ती वस्तु की उपकारक होती है तथा प्रायः उन सब वस्तुओं का अन्वय एवं सम्बन्ध एक ही क्रिया के द्वारा स्थापित किया जाता है, किन्तु इसमें उत्तरवर्ती वस्तुयें अपनी पूर्ववर्ती वस्तुओं से अधिक उत्कर्ष प्रदर्शित करती जाती हैं और इस प्रकार एक श्रृंखला-क्रम से उत्कर्ष में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, वह प्रायः भिन्न भिन्न क्रियाओं (या एक ही क्रिया की आवृत्ति) से प्रगट की जाती है।

एकावली में पूर्ववर्ती वस्तु के साथ उत्तरवर्ती वस्तु विशेष रूप में सम्बद्ध की जाती है, और कभी कभी उसमें निषेध का भी भाव रहता है किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता, यही इन दोनों में भेद हैं।

इस अलंकार के द्वारा, रूप, गुण, धर्म और सार (तत्व) आदि का उत्कर्ष प्रगट किया जाता है, इसलिये, इसके उत्कर्षाधारादि के भेदों की भिन्नता से इसके भी भिन्न भिन्न रूप हो जाते हैं। रस गंगाधर में पंडित राज ने इसके मुख्य दो भेद माने हैं:—

१—अनेकविषयक—जिसमें उत्कर्ष के विषय कई एक हों। यथा उक्त उदाहरण में।

२—एक विषयकः—जिसमें उत्कर्ष का विषय एक ही हो। इस रूप में एक ही वस्तु की अवस्था एवं दशा आदि के भेद से ही उत्कर्ष के प्रदर्शन की प्रधानता रहती हैः—

बालकपन में भजि हरिहिं, लीन तात सों मान।
यौवन में पुनि राज्य सुख, ध्रुव पद लह्यो निदान॥

अब यदि हम साहित्य में इसके उदाहरणों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इसके भेद इस प्रकार भी किये जा सकते हैंः—

१—उत्कर्षात्मकः—जहाँ किसी वस्तु या किन्हीं वस्तुओं के गुण धर्म, रूपादि का उत्कर्ष उत्तरोत्तर कहा गया हो।

इसके दो भेद होंगेः—

क—एक वस्तु विषयक

ख—अनेक वस्तु विषयक

फिर गुणादि के आधार पर दो भेद और होंगेः—

अ—सद्गुणोत्कर्ष और ब—असद्गुणोत्कर्ष।

२—अपकर्षात्मक—जिसमें वस्तु या वस्तुओं के उत्तरोत्तर अपकर्ष का वर्णन हो। इसके भी प्रथम भेद की भाँति ४ रूप हो सकते हैं, अर्थात्—१—एक विषयक २—अनेक विषयक तथा १—साधारणापकर्ष २—निन्द्यापकर्ष।

अब वस्तु या वस्तुओं की अवस्था, दशा, (आयु) गुण, सार, रूपादि के भेद से अनेक रूप इसके हो जावेंगे।

अप्पय, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों ने प्रायः इसे एक ही रूप में लिखा हैः—

१—उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः— का० प्र०
२—उत्तरोत्तमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। —सा० द०
३—उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते। —कु०

हमारे हिन्दी के आचार्यों में इस अलंकार के नाम पर मतभेद है—कुछ लोग तो इसे स्वतंत्र स्थान देते हैं किन्तु कुछ लोग इसे मालादीपक का ही दूसरा नाम मानते हैं और इस प्रकार मालादीपक और इस में कुछ भेद न मान कर दोनों को एक ही चीज़ के दो नाम मानते हैं।

केशव, भिखारीदास और देव ने इस अलंकार को अपने ग्रंथों में नहीं दिया। मतिराम और भूषण ने अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद ही कर दिया है:—

उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। —मतिराम
उत्तर उत्तर उतकरष सार कहत हैं सोय॥ —भूषण

देखिये इसीसे दोनों के पद एक ही हैं, केवल अंतिम शब्द पृथक हैं। जसवन्तसिंह ने इसका लक्षण विलक्षण ही दिया है:—

"एक एक ते सरस जब, अलंकार यह सार।"

अर्थात् जब वस्तुयें उत्तरोत्तर अधिक सरस (रसीली) कही जावें तब सार होता है। यहाँ सरस पद अपनी विचित्रता रखता है। आपके ग्रंथ की टिप्पणी में टीकाकार या संपादक ने लिखा है कि "जब कई वस्तुओं का, क्रमशः गुणों को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुये, वर्णन किया जावे" तब सार अलंकार होता है," न जाने कहाँ से आपने ऐसा अर्थ उक्त पद से निकाला है "उक्त पद में इस अर्थ के लिये कोई भी शब्द नहीं, 'सरस' शब्द उत्तरोत्तर गुणोत्कर्ष का अर्थ कदापि नहीं देता। ज्ञात होता है कि आपने यह लक्षण कुवलयानन्द के आधार पर दिया है और गुण शब्द को उत्कर्ष के साथ अपनी

ओर से ही लगा दिया है। यह परिभाषा शुद्ध नहीं क्योंकि केवल वस्तुओं (वस्तु) के उत्तरोत्तर उत्कर्ष (अपकर्ष भी) को, चाहे वह गुण का हो या अन्य किसी प्रकार का भी हो, लक्षण में प्रधानता दी गई है। यहां उक्त परिभाषा संकीर्ण हो गई है।

लछिराम जी ने लिखा है "एक एक ते सहज जहँ, उन्नत गुण उपमान।" अर्थात् जहाँ उपमान के सहज या स्वाभाविक गुण एक से एक या उत्तरोत्तर उन्नत होते दिखाये जावें—यह परिभाषा भी संकीर्ण है और उपमान के गुणोत्कर्ष को ही प्राधान्य देती है। इसके अनुसार यह अलंकार उपमालंकार का ही एक विशिष्ट भेद ठहरता है।

गोकुल कवि ने "अर्थन को उतकर्ष जहँ, उत्तर उत्तर होत।" ऐसा लक्षण देकर कदाचित भावों की उत्कर्षता को ही प्रधानता दी है। गोविन्द ने अप्पय जी के मत का ही अनुसरण किया है और ऐसा ही दूलह कवि ने भी किया है। रामसिंह ने अपने अलंकार दर्पण में इसकी परिभाषा वही दी है जो जसवन्तसिंह ने भाषा भूषण में।

पद्माकर ने लिखा है:—

"गुन ही सों, कै दोष सों, कै दुहुँ सों जिहि थान।
एक एक ते अधिक भनि, त्रिविध सार सो जान॥

अर्थात् जहाँ वस्तुओं के दोषों या गुणों या दोनों का उत्कर्ष उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक कहा जावे, वहाँ सार मानना चाहिये, इसके तीन भेद हैं:—१—गुणोत्कर्ष २—दोषोत्कर्ष ३—द्वयोत्कर्ष।

अन्य रूप

१—प्रथम रूपः—जहाँ किसी एक ही पदार्थ के उत्तरोत्तर उत्कर्ष (या अपकर्ष) का वर्णन हो।

नोटः—जहाँ अपकर्ष का वर्णन होगा वहाँ हम सार का विलोम रूप कह सकते हैं।

बढ़त बढ़त इक इक कला, प्रतिदिन अमल अमन्द।
बदन सरिस तव राधिके, पूरो होवै चन्द॥

विलोम

प्रथम बढ़त, पुनि घटत नित, रहै न इक दिन चन्द।
ओछे जन की प्रीति त्यों, विनसत ह्वै नित मन्द।

२—द्वितीय रूपः—पूर्ववर्ती वस्तुओं (कई वस्तुओं) से जहाँ उत्तरवर्ती वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष कहा जावे।

यदि अपकर्ष कहा जावेगा तो हम इसे विलोम रूप कह सकेंगे।

इसके साथ श्लेष एवं रूपकादि अन्य अलंकार रख कर इसको बल दे सकते हैं। ऐसी दशा में कई मिश्रालंकार बन जावेंगे।

१—सोपमासार—यथा उक्त उदाहरण में। उपमानोत्कर्ष एवं उपमेयोत्कर्ष से इनके दो रूप हो जावेंगे।

२—सोदाहरण—जहाँ उदाहरण के साथ सार हो।

३—सद्दृष्टान्त—जहाँ सार के साथ दृष्टान्त की भी पुट हो।

नोटः—'श्री रसाल' जी ने इस प्रकार के मिश्रालंकारों का केवल यहाँ संकेत मात्र कराया है। विस्तार-भय से इनका पूर्ण विवेचन नहीं दिया जा सका।

—संपादक—"सरस"

विकल्प

जहाँ दो समान बल वाली वस्तुओं की, एक ही स्थान और समय में एक ही साथ विरोध पूर्वक, स्थिति का वर्णन किया जावे वहाँ विकल्प अलंकार माना जाता है। ऐसी दशा में अर्थात् दो तुल्य बल वाली वस्तुओं की एक ही स्थान एवं समय में विरोध-मयी स्थिति होने पर यह आवश्यक जान पड़ता है कि उन दो वस्तुओं में से एक ही की स्थिति हो सकती है और चित्त में यह विकल्प भाव उठता है कि इन दो में से यह या वह वस्तु ही रह सकती हैं।

दिसि दिसि कूजति कोकिला, फूल्यो रुचिर रसाल।
दूर करैगो विरह-दुख, कै गोपाल कै काल॥

नोटः—ध्यान रहे कि इसमें केवल वैकल्पिक भाव ही न होना चाहिये वरन् उसके साथ ही इसमें सादृश्य या औपम्य के आधार पर चातुर्य-चमत्कार भी होना आवश्यक है, बिना इसके अलं-कारिता ही न रह सकैगी।

नीत-निपुन निन्दा करैं, चाहै कहैं सराहि।
रहै कि जावै धन चहै, जीवन रहै कि जाहि॥
बुरो होय कै होय भल, न्याय-पंथ को त्यागि।
कह 'रसाल' सज्जन तऊ, जात न कबहूँ भागि॥

कहना चाहिये कि इस अलंकार के आधार दो हैं, १—वस्तुओं तुल्य बल और २—विरोध पूर्वक भाव के साथ सादृश्य चमत्कार।

इसके वैकल्पिक भाव के सूचक प्रायः निम्न शब्द ही हुआ करते हैं—कै, कि, चहै, चाहे, बरु, अथवा, एवं इनके पर्यायी वाचक अन्य शब्द। इन्हें हम इस अलंकार के वाचक शब्द कह सकते हैं।

मम्मट जी ने इसे अलंकार ही नहीं माना, और अपने ग्रन्थ में इसे स्थान भी नहीं दिया। अप्पय जी ने उक्त लक्षण को ही प्रधान माना है "विरोधेतुल्यबलयोविकल्पालंकृतिर्मता"। विश्वनाथ जी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि इसमें चातुर्य होना चाहिये।

"विकल्पस्तुल्यबलयोविरोधश्चातुरीयुतः"

हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास और देव ने इसे अपने ग्रन्थों में अलंकारों के साथ उस प्रकार नहीं रक्खा, जिस प्रकार मम्मट जी ने।

भिखारीदास जी लिखते हैं "है विकल्प यह कै वहै, यह निश्चय जहँ राजु।" ठीक इसी प्रकार जसवन्तसिंह ने भी लिखा है, "है विकल्प यह कै वहै, इहि विधि सों विरतंत।" भूषण ने इसके साथ कार्य करने के भाव को भी सम्मिलित कर दिया है, और लिखा है।

"कै वह कै यह कीजिये, यह कहनावति होय।"

यहाँ "कहनावति" पद संदिग्ध है, सम्भवतः यह पद केवल कथन करने के ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, यदि यह लोकोक्ति के स्थान पर रक्खा गया है तो लक्षण में विलक्षणता आ जाती।

लछिराम जी ने भी जसवन्तसिंह एवं भिखारीदास के समान लिखा है "या प्रकार को बैन जहँ, कै यह, कै वह होय"। इसी प्रकार गोविन्द जी ने भी लिखा है—

"कै तौ वह, कै यह जहाँ, यह विकल्प दिखराइ"

गोकुल कवि ने अप्पय जी के आधार पर लिखा है—

'तुलबल बीच विरोध जहँ, लखौ बरनिये जानि।
नित्य नियम जहँ होत नहिं, तहँ विकल्प अनुमानि॥'

यहाँ तृतीय पद 'नित्य नियम जहँ नहिं,' यह विरोध के भाव को सूचित करता हुआ सा जान पड़ता है। रामसिंह और पद्माकर जी एक ही समान अप्पय के आधार पर लिखते हैं:—

दोइ तुल्य में होय विरुद्ध...........

द्वै सम बल युत कौ विरुध जहँ सुविकल्प बखान।

दूलह ने कहा है—" दोऊ यातै एक संग करिबो कठिन तहाँ,
यहै कै तो वहै है विकल्प इमि हाल को।"

यह लक्षण कुछ स्पष्ट है, यद्यपि पूर्णतया प्राचीन आचार्यों के आधार पर नहीं है।

पर्याय

जहाँ एक ही वस्तु क्रम से कई स्थानों में स्थित हुई या की जाती हुई दिखलाई जावे।

ध्यान रखना चाहिये कि आधेय तो एक ही रहे किन्तु समयान्तर से वह यथाक्रम अनेक आधारों पर स्थित होता हुआ दिखलाया जावे, अथवा एक ही कार्य समय-भेद से क्रमपूर्वक (एक के पश्चात् दूसरे में) भिन्न भिन्न या कई स्थानों में किया जाता हुआ कहा जावे, वहाँ पर्यायालंकार माना जाता है। विशेषालंकार से इसमें यही भिन्नता है कि विशेषालंकार में एक ही समय में एक वस्तु (कार्य) कई स्थानों में होती है किन्तु इसमें एक ही समय में न होकर एक वस्तु कई स्थानों में भिन्न भिन्न समयों पर होती है, अर्थात् इसमें समयान्तर का प्राधान्य रहता है और उसमें समयान्तर का अभाव रहता है।

इसके दो मुख्य रूप माने गये हैं:—

१—स्वतः सिद्ध अनेकाधारः—जहाँ किसी आधेय के समयान्तर से अनेक आधार हों और वे स्वतः सिद्ध हों।

अयि पियूष ! काहे बसत, इमि तुम एते ऐन ।
सागर, ससि, अधरान अरु, सुजनन के वर बैन ॥
—र० मं०

२—अन्य सिद्धाधारः—जहाँ किसी आधेय के समयान्तर से अनेक आधार अन्य किसी के द्वारा सिद्ध हों ।

ग्रीषम मैं भुवि मैं रह्यो, अगिन कोन मैं सीत ।
बस्यो वियोगिन के हिये, मधु मैं ताप प्रतीत ॥

नोटः—जिस प्रकार आधेय की अनेक आधारों पर समयान्तर से स्थिति दिखलाई जाती है उसी प्रकार एक कार्य का होना भी अनेक स्थानों में समयान्तर से दिखलाया जाता है। ऐसी दशा में भी पर्यायालंकार मानना चाहिये।

आजु इहाँ, तौ काल्ह उत, परसों उतै उदोत ।
घर घर फरिबो फूलिबो, कह 'रसाल' कवि होत ॥

इस उक्त उदाहरण में लक्षणा से भी (ध्वनि से) सहायता ली गई है, अतः इसे हम व्यंग्यपर्याय भी कह सकते हैं।

अप्पय जी ने विकास-पर्याय भी दिखलाया है किन्तु उसे आचार्यों ने संदिग्ध सा माना है। पंडितराज का मत है कि जब आधेय की स्थिति एक आधार से हट कर दूसरे आधार में हो जावे तभी पर्याय मानना चाहिये, यदि आधेय प्रथम एक आधार में रहे और फिर उससे हट कर किसी अन्य आधार में भी कुछ समयोपरान्त स्थित हो जावे और प्रथम आधार में भी उसकी सत्ता (आँशिक रूप में या यों हीं) रहे तब पर्याय न होगा क्योंकि एक ही समय में उस आधेय की सत्ता कई स्थानों में हो गई जो नियम के विपरीत है। किन्तु कुछ समयान्तर के पश्चात् ऐसा होता है, ऐसा विचार करने से पर्याय कहा भी जा सकता है।

द्वितीय रूपः—जहाँ कई वस्तुएँ (या कार्य) क्रम से समयान्तर के साथ एक ही स्थान में हों, अर्थात् कई आधेयों की स्थिति या सत्ता जहाँ समयान्तर के साथ क्रम से एक ही आधार में हों।

प्रथम सुधामय होत हैं, बंचक जन के बैन।
तेई पुनि ह्वै जात हैं, विषमय ह्वै दुखदैन॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें भी समयान्तर का होना आवश्यक है, यदि एक ही समय में कई वस्तुयें एक ही स्थान में कही जावेंगी तो समुच्चयालंकार का द्वितीय रूप हो जावेगा। उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यहाँ आधार स्वतः सिद्ध है। अब प्रथम रूप की भाँति इसका दूसरा रूप अन्य सिद्ध भी यों होता है :—

शीस फूल तहँ, मुकुट जहँ, चाेली कवच के थान।
अर्जुन कौं यौं देखि कै, को नहिं करै गलान॥

ध्यान रहे कि यहाँ एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु नहीं रक्खी गई, क्योंकि ऐसा कर देने से यह अलंकार परिवृत्त नामी अलंकार में रूपान्तरित हो जावेगा, क्योंकि परिवृत्त में एक वस्तु को देकर उसके परिवर्तन या विनिमय में दूसरी ली जाती है।

अप्पय और विश्वनाथ जी ने स्पष्ट रूप से इसके दाे मुख्य रूप (जो ऊपर दिये गये हैं) दिखाते हुये लिखा है :—

१—पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेक संश्रयः।
२—एकस्मिन्यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः॥

—कुवला०

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते व चेत्तदा पर्याय ईष्यते॥

—स० द०

मम्मट जी ने लिखा हैः—

"एकक्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः अन्यस्ततोन्यथा।"

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव ने इसे नहीं लिखा, शेष सभी आचार्य प्रायः अप्पय जी के ही मत का अवलम्बन करते हैं। भिखारीदास जी लिखते हैंः—

"तजि तजि आसय करन ते, है पर्जाय विलास।
घटती बढ़ती देखि कै, कहि संकोच विकास॥"

आपने इसके दो रूप १—संकोच २—विकास लिखे हैं।

मतिराम जी ने अप्पय के समान लिखा हैः—

"कै अनेक है एक में, कै अनेक में एक।
रहत जहाँ पर्याय सो, है पर्याय विवेक॥"

बस शेष सभी मुख्य आचार्यों ने, अप्पय और मतिराम के ही समान, इसको उक्त दो रूपों के साथ उक्त रीति पर लिखा है और कुछ भी अन्तर नहीं दिया।

हेत्वात्मकः—जहाँ पर्याय के साथ उसके पुष्ट करने के लिये हेतु भी दिये जावें। इसके दो भेद होंगे —

१—एक हेतुः—जहाँ एक ही हेतु सब स्थानों में लागू हो जावे।

२—अनेक हेतुः—जहाँ भिन्न भिन्न स्थानों में वस्तु-स्थिति के लिये भिन्न भिन्न हेतु दिये जावें।

निषेधात्मकः—जहाँ एक आधेय का (जिन स्थानों में वस्तुतः उसके भिन्न समयों में आधार हैं) उसके अन्य स्थानों में आधारों के होने का निषेध करके एक ही स्थान में उसका आधार दिखलाया जावे। तथा जहाँ किसी आधेय की सत्ता के उसके प्रसिद्ध आधेयों में होने का सर्वथा निषेध किया जावे।

प्रश्नोत्तरात्मक या प्रश्नात्मकः—जहाँ प्रश्न एवं प्रश्नोत्तर के साथ पर्याय रक्खा गया हो। एक आधेय की सत्ता का अनेक आधारों में होने के प्रश्नों का जहाँ एक ही उत्तर हो, या जहाँ भिन्न भिन्न उत्तर हों। चाहे वे उत्तर स्पष्ट हों या सूच्य हों (गुप्त हों)।

विधि या आज्ञात्मकः—जहां किसी व्यक्ति या वस्तु की सत्ता किसी को आज्ञा के कारण अनेक स्थानों पर हो :—

सौपम्य (सदृष्तान्तादि):—जहाँ पर्याय के साथ उपमा, दृष्टान्त या उदाहरण भी दिये गये हों।

१—जहाँ आधार एक ही पदार्थ के अंग के रूप में होवे और एक ही पदार्थ या देश में हों।

बसत श्याम, मम नैन में, हिम मैं हू दिन रैन ॥

२—जहाँ आधार कई पदार्थों या देशों में होकर भिन्न भिन्न हों।

श्लिष्टः—जहां पर्याय में श्लेष की भी पुट हो।

अन्योक्तिः—जहाँ अन्योक्ति के साथ पर्याय हो :—

या तरु वा तरु वा लता, विहरत फिरत विहंग।
कुन कुन मैं त्यों मधुप तुम, रमत कलिन के संग ॥

व्यंग्यपर्यायः—आजु हमारे काल्हि तव, परसों वाके होत।
कह 'रसाल' सब के घरै, होवै भाग उदोत ॥

परिवृत्त

जहां पदार्थों का आपस में विनिमय हो, अर्थात् एक वस्तु देकर उसके बदले में कोई दूसरी वस्तु ले ली जावे, वहां परिवृत्त अलंकार माना जाता है। इसके मुख्यतया दो भेद होते हैं :—

१—सम—जहां वस्तु-विनिमय साम्य-भाव के साथ हो।

इसके फिर २ रूप हो जाते हैं:—

क—श्रेष्ठात्मकः—जहाँ किसी उत्तम या श्रेष्ठ पदार्थ के बदले में उत्तम या श्रेष्ठ वस्तु ली जावे, और दोनों पदार्थ उत्तम होते हुए भिन्न भिन्न हों।

रसिक मधुप, संगीत के, सिखै रसीले राग।
पुनि विकसित कलिकान सों, लेवै प्रेम पराग॥

—र० मं०

ख—न्यूनात्मकः—जहाँ कोई न्यून गुण वाला पदार्थ देकर न्यून गुण वाला ही अन्य पदार्थ बदले में लिया जावे।

अस्थिमालमय देहिं तनु, मुंडमाल मय लेहिं।
हे हर तव सेवा किये, कहा लाभ नर पैहिं॥

२—विषमात्मकः—जहाँ परिवृत्ति सम्बन्धी विनिमय वैषम्य के साथ रहे। इसके भी श्रेष्ठ (उत्तम) एवं न्यून दो भेद है।

क—श्रेष्ठात्मकः—जहाँ उत्तम गुण वाले पदार्थों के बदले में तुच्छ या न्यून गुण वाले पदार्थ लिये जावें।

कासों कहिये आपनो, यह अयान यदुराय।
मन मानिक दीन्हों तुमहिं, लीन्हीं विरह बलाय॥

ख—न्यूनात्मकः—जहाँ निकृष्ट गुणादि वाली वस्तु देकर उत्तम गुणादि की वस्तु ली जावे।

राधे! तेरी चतुरता, को न सराहे देत।
दै कै कठिन कटाक्ष तू, हिय हीरा लइ लेत।

नोटः—उक्त दोनों भेदों से यह स्पष्ट है, इन रूपों में लेने देने वालों का छल, चातुर्य, एवं मूर्खता आदि भी सूचित एवं ध्वनित होती है। इस अलंकार में यह आवश्यक है कि विनिमय एवं आदान प्रदान का व्यवहार सदैव सब प्रकार कवि-प्रतिभा-जन्य

कल्पना के ही आधार पर रहता है, वह प्रायः वास्तविक नहीं ही होता। जहाँ वास्तविक आदान प्रदान का प्रदर्शन बिना किसी प्रकार के चातुर्य चमत्कार के दिखलाया जाता है वहाँ इस अलंकार की सत्ता नहीं मानी जाती।

अप्पय और विश्वनाथ जी ने इसे उक्त प्रकार ही दिया है और लिखा है :—

१—" परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।" —अप्पय

२—" परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्॥" —सा० द०

यहाँ अप्पय जी ने सम विनिमय का भाव नहीं दिया, किन्तु विश्वनाथ जी ने सूक्ष्म रूप से १—सम २—न्यून और ३—अधिक तीनों प्रकार का विनिमय सूचित किया है। मम्मट जी ने लिखा है:—

" परिवृतिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः।"

यहाँ जान पड़ता है कि जहाँ समासम अर्थों का विनिमय हो वहाँ ही परिवृत्त अलंकार होता है।

अब हमारे हिन्दी के प्रायः सभी मुख्य आचार्यों ने भी इस अलंकार को लिखा है। केशवदास ने इसकी परिभाषा एक विलक्षण ही दी है :—

" जहाँ करत कछु औरई, उपजि परत कछु और।
तासों परिवृत जानियहु, केशव कवि-शिर-मौर॥"

—क० प्रि०

इससे स्पष्ट है कि केशव के मतानुसार यह वहाँ होता है जहाँ किया तो कुछ जावे किन्तु उससे फल कुछ और ही प्राप्त हो या हो कुछ और ही जावे। यहाँ विनिमय का कुछ भी भाव नहीं, वरन् कारण-कार्य या कार्य एवं फल (अथवा कार्यान्तर) का भाव ही प्रधान है।

भिखारीदासादि अन्य आचार्यों ने इसके लक्षणों में विनिमय या बदले के भाव ही को प्रधानता दी है। दास जी इसकी दो परिभाषायें यों लिखते हैं:—

१—"कछु कछु को बदलो जहाँ, सो परिवृत करि दीठ।"
२—"कछु लीबो, दीबो अधिक, ताके बदले जान॥"

मतिराम जी ने भी इसी प्रकार लिखा है:—

"घाटि बाढ़ि द्वै बात को, जहाँ पलटिबो होय।"

यह परिभाषा भी कुछ विलक्षण ही है, क्योंकि यहाँ अच्छी एवं बुरी बातों का बदल जाना ही प्रधान रक्खा गया है।

भूषण ने लिखा है कि—

"एक बात को दै जहाँ, आन बात को लेत।"

यहाँ बातों का ही विनिमय या बदला दिखलाया गया है, और वस्तु-विनिमय (पदार्थ-विनिमय) नहीं, अर्थात् यहाँ वाक् विनिमय को ही प्राधान्य दिया गया है।

जसवन्तसिंह ने परिमाण सम्बन्धी विनिमय को प्रधानता दी है न कि गुणादि सम्बन्धी विनिमय को, जैसा दास एवं मतिरामादि ने किया है।

ठाकुर साहब लिखते हैं:—

"परिवृत्ती लीजै अधिक, थोरोई कछु देइ।"

अर्थात् जहाँ दिया तो कुछ थोड़ा ही जावे, किन्तु उसके बदले में लिया कुछ अधिक जावे, वहाँ परिवृत्ति मानना चाहिये। ठीक इसी प्रकार गोकुल, रामसिंह, तथा दूलह और एक अंश में (केवल प्रथम भेद में) पद्माकर ने भी लिखा है, इस सबों ने परिमाणात्मक विनिमय को ही प्रधानता दी है। लछिराम जी ने इन्हीं लोगों के समान लिखा है और वित्त-विनिमय का भाव भी दिखलाया है:—

"जहँ थोरो दै वित्त बहु, हरै सुमति के साज।"

यहाँ हरै शब्द भी अपना अर्थ-वैचित्र्य रखता है, साथ ही 'सुमति के साज' पद में भी बल दिया गया है। गोविन्द जी ने भी अधिक और न्यून (परिमाण) सम्बन्धी भाव को विशेषता दी है, किन्तु इससे अधिक गुण एवं न्यून गुण का भी बोध हो सकता है अतः कह सकते हैं कि आपने संदिग्ध रूप से दोनों भावों (परिमाण-विनिमय एवं गुणात्मक विनिमय) को लिया है। पद्माकर ने परिमाणात्मक विनिमय को प्रधान मानते हुये दो रूप दिये हैं :—

१—"दै थोरो, लिय अधिक जहँ, तहँ परिवृत्त उचार।
२—दै बहु, थोरो लेत जहँ, परिवृत कहिये ताहि॥"

हाँ देव जी ने इसकी परिभाषा केशव के समान ही विलक्षण सी दी है :—

"जहाँ वस्तु बरननि पदनि, फिरि आवति है अर्थ।
ताही सों परिवृत्त कहि, बरनत सुमति समर्थ॥"

अर्थात् परिवृत्ति अलंकार वहाँ होता है, जहाँ वस्तु-वर्णन में पदों से अर्थ लौट (फिरि) आता है, अर्थात् अर्थान्तर एवं अर्थावृत्ति होती है। यह लक्षण वस्तुतः विलक्षण ही है।

अन्य रूप

१—गुणात्मकः—जहाँ गुणों के आधार पर वस्तुओं के विनिमय में तुलना हो। यथा उक्त उदाहरणों में।

२—तौल (परिमाणात्मक)—जहाँ तौल एवं परिमाण के आधार पर विनिमय हो।

"मन लेत है। देत छटाँक लला"

शिलष्टः—जहाँ पदार्थ ऐसे पद हों जिनका श्लेष से अर्थान्तर हो जावे—यथा उक्त उदाहरण में

निषेधात्मकः—जहाँ विनिमय के भाव में निषेध भी हो।

१—पूर्णः—जहाँ विनिमय करने ही से निषेध हो।

२—संकीर्णः—जहाँ विनिमय का भाव तो हो किन्तु कुछ निषेध भी हो। यथा—मन लेते हौ देत छटांक नहीं॥

परिमाणात्मकः—१—सम—जहां दोनों पदार्थ तौल या परिमाण में सम हों।

विषमः—जहाँ दोनों में से एक, दूसरे से न्यून और दूसरा अधिक हो।

कैतवात्मकः—जहाँ छल या चालाकी से एक न्यून या साधारण पदार्थ देकर उसके बदले में अच्छा एवं अधिक परिमाण का पदार्थ ले लिया जावे। यों ही उद्देश्यान्तर से इसके अन्य कई रूप हो सकते हैं।

हेत्वात्मकः—जहाँ विनिमय का हेतु भी दिया गया हो।

संकीर्ण परिवृत्तः—जहाँ परिवृत्त के साथ अन्य अलंकार भी सहायक या पोषक रूप में आवें।

१—सोपमाः—जहाँ विनिमय के पदार्थ परस्पर उपमानोपमेय हों या परिवृत्त उपमा से पुष्ट हो।

२—सरूपकः—जिन पदार्थों का विनिमय हो उनको रूपक के द्वारा समान दिखलाया जावे।

३—सोदाहरणः—जहाँ उदाहरण देकर परिवृत्त की पुष्टि हो।

४—सदृष्टान्तः— " दृष्टान्त " " "

५—अन्योक्तिगर्भाः—जहाँ अन्योक्ति के साथ परिवृत्त हो।

६—विरोधात्मकः—जहाँ ऐसे दो पदार्थों का विनिमय दिखलाया जावे जिनमें गुण, धर्म एवं क्रियादि का विरोध हो।

समुच्चय

जहाँ किसी कार्य के करने के लिये एक साधक (कर्ता) के होने पर भी कई साधक रक्खे जावें वहाँ समुच्चयालंकार जानना चाहिये ।

समुच्चय शब्द का अर्थ है समूह, अतः किन्हीं पदार्थों के समूह में समुच्चय हो सकता है किन्तु यहाँ पर इसे साधक-समूह के ही अर्थ में रूढि सा मान लिया गया है।

समाधि नामी अलंकार में कार्य करने की पूर्ण क्षमता एवं योग्यता रखने वाला एक ही सुयोग्य साधक रहता है, उसके साथ दूसरे साधक अकस्मात ही आकर सहायक मात्र हो जाते हैं और इस प्रकार उसकी स्थिति काकतालीयन्याय के ही आधार पर मानी जाती है। किन्तु इस अलंकार में यद्यपि एक सुयोग्य साधक या कर्ता, जो कार्य करने की पूर्ण योग्यता एवं क्षमता रखता है, सब प्रकार कार्य करता हुआ उपस्थित रहता है तौ भी अन्य साधक एवं कर्ता कार्य-क्षमता एवं अहम्मन्यता (आत्म-योग्यता) के प्रकाशनार्थ गौरव एवं अहंकार के साथ (कि मैं भी यह कार्य कर सकता हूँ और करता हूँ) उसी कार्य को करने लगते हैं, ये साधक प्रथम साधक के सहयोगी, सहकारी एवं सहायकों के रूपों में नहीं रहते। यही इन दोनों अलंकारों में भेद है।

इस अलंकार के मुख्यतया ३ रूप माने गये हैं:—

प्रथम समुच्चय

१—सद्योगात्मकः—जहाँ उत्तम (श्रेष्ठ) साधकों का योग हो।

हरि पद उतपति प्रथम है, विधि, हर को सतसंग।
सुजस बढ़ै तब कस न नित, पतित उधारिनि गंग॥

—र० मं०

२—असद्योगात्मकः—जहाँ असत्साधकों का समूह रक्खा गया हो।

वान कृशानु मनोज के, मधु प्रतापहू संग।
मलयानिल लागै लपट, दहै वियोगी-अंग॥

—र० मं०

३—सत्सद्योगात्मकः—जहाँ सत् और असद् दोनों प्रकार के साधकों का योग हुआ हो।

ये तीनों रूप प्रथम भेद ही के हैं। समुच्चय का दूसरा भेद यों किया गया है।

द्वितीय समु०ः—जहाँ पर कई एक गुण, या कई एक क्रियायें अथवा कई गुण और कई क्रियायें साथ ही साथ एक ही समय एवं स्थान में एकत्रित की गई हों, वहाँ भी समुच्चय माना जाता है। इसके भी ३ मुख्य रूप यों होते हैं।

१—गुणात्मकः—जहाँ कई गुण एकत्रित किये गये हों:—

पावस के आवत भये, स्याम-मलिन नभ थान।
हरे भये पथिकान तन, पीत कपोल तियान॥

क्रिया समुच्चयः—जहाँ कई क्रियाओं या भावों को एकत्रित रक्खा जाये, वे एक ही साथ एक ही काल एवं स्थान में होती या होने वाली हों।

उर उमगति, सकुचति कछू, लजति, नचावति नैन।
मुरि मुरि मुख मुसकाति मृदु, कहत सैन सों बैन॥

—र० मं०

नोटः—काव्यकल्पद्रुम में इस रूप का जो उदाहरण दिया गया है वह इसका तो नहीं किन्तु दशा-समुच्चय (जहाँ किसी की अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिकादि दशायें या अवस्थायें दिखलाई जावें) का उदाहरण अवश्य कहा जा सकता है।

दशा समुच्चयः—यह एक प्रकार से गुण-समुच्चय के ही अन्तर्गत आता है क्योंकि दशायें भी अपने समय में शरीर एवं मन के गुणों के ही रूपों में होती हैं। अतः जहाँ शारीरिक एवं मानसिक आदि दशाओं को एक ही काल (समय) एवं स्थान में एकत्रित दिखलाया जावे वहाँ दशा-समुच्चय होता है।

तब ही ते 'देव' देख्यो, देवता सी हँसति सी,
खीझति सी, रीझति सी, रूसति, रिसानी सी॥

नोटः—यहाँ यह भी देख लेना चाहिये कि इस उदाहरण में सी शब्द के प्रयोग से उपमा की भी पुट आ जाती है, अतः यह उपमा मूलक रूप भी कहा जा सकता है।

गुणक्रिया समु०ः—जहाँ कई गुण एवं क्रियायें एक ही साथ दी गई हों।

सित-पंकज-दल-छविमयी, भरे कोप तो नैन।
शत्रु-दलन पर परत हैं, और कलुष दुख दैन॥

इस अलंकार के विषय में जो कुछ यहाँ मूल रूप में कहा गया है वह संस्कृत के अप्पय, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों के ही मतानुसार कहा गया है। हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से केशव और देव को छोड़ कर, शेष सभी आचार्य इसे अपने अपने ग्रंथों में लिखते हैं। भिखारी दास ने लिखा है :—

"एकै करता सिद्धि को, औरौ होहिं सहाइ।
बहुत होहिं इकबार कै, द्वै अनमिल इक भाइ॥
ऐसी भाँतिन जानिये, समुच्चयालंकार।
मुख्य एक लच्छन यहै, बहुत भये इकबार॥

अब स्पष्ट है कि दास जी ने अन्य साधकों (कर्ताओं) को सहायक माना है और एक ही को मुख्य माना है, फिर बहुत से कर्ताओं को या दो भिन्न भिन्न कर्ताओं को एक ही साथ देने से

भी इस अलंकार की सत्ता मानी है, मुख्यतया प्रथम रूप को ही प्रधान माना है, साथ ही बहुत से भावों के संगुंफन से भी समुच्चयालंकार माना है, यह आपने अप्पय और मम्मट के मतानुसार ही लिखा है।

१—बहूनाम युगपद्भावभाजां गुंफः समुच्चयः।

२—अहम् प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयोऽपि सः॥ —कुवल०

तत्सिद्धि हेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्।

समुच्चयोऽसौ………… —का० प्र०

मतिराम जी ने इसका मुख्य रूप ही दिया है:—

१—"बहुत भये इकबारगी, तिनको गुम्फ जु होय।

टीकाकार ने यहाँ "अलंकार चंद्रिका" नामी ग्रंथ से उद्धृत कर के लिखा है:—

"गुंफस्तु गुंफने वाहोरलंकारे च कीर्त्यते। गुंफौ निवंधः—

२—"बहस करत बहु हेतु जहँ, एक काज की सिद्धि।"

भूषण ने भी इसके दो रूप देते हुये लिखा है:—

१—"एक बार ही जहँ भयो, बहु काजन को बंध।

२—"वस्तु अनेकन को जहाँ, बरनत एकहि ठौर॥

यहीं पर सम्पादक महोदय श्री मिश्रबंधु अपनी टिप्पणी में लिखते हैं "अन्य कवि इसका लक्षण यों देते हैं—'द्वितीय समुच्चय में एक काज को कई कारण पुष्ट करते हैं"—किन्तु जहाँ तक हम जानते हैं ऐसा नहीं है, हाँ यह बात अवश्य है कि एक कार्य के लिये अनेक साधक या कर्ता जहाँ दिखाये जाते हैं वहाँ समुच्चय होता है, साधक से तात्पर्य कारणों का नहीं है। ठीक इसी प्रकार भाषा-भूषण के टीकाकार ने भी लिखा है, वे भी भ्रम में पड़े से जान पड़ते हैं, क्योंकि जिसके अर्थ के आधार पर वे ऐसा कहते हैं उस पंक्ति का यह अर्थ नहीं है।

साथ ही हमारी समझ में कोई भी हिन्दी या संस्कृत आचार्य ऐसा नहीं कहता न, जाने मिश्र बंधुओं ने किस प्रकार ऐसा लिखा है।

कुछ अन्य लोगों ने भी कदाचित भ्रमवश ऐसा ही लिखा है, किन्तु बात ऐसी नहीं है, यह अवश्य है कि कहीं कहीं एक कार्य के एक पूर्ण हेतु के होते हुये भी जहाँ अन्य कई हेतु भी एकत्रित किये जाते हैं, वहाँ इसका एक रूप माना गया है, किन्तु यहाँ यह आवश्यक नहीं कि वे सब हेतु कार्य को पुष्ट ही करें।

जसवन्तसिंह ने इसके लक्षण यों दिये हैं:—

१—दोइ समुच्चय, भाव बहु, कहुँ इक उपजे संग।
२—एक काज चाहै करयौ, है अनेक इक अंग॥

द्वितीय पंक्ति का अर्थ करने में टीकाकार जी को भ्रम हो गया सा जान पड़ता है, जैसा हमने अभी कहा है, यहाँ 'है अनेक इक अंग' का अर्थ है—अनेक (साधक या कर्ता) जहाँ एक साथ मिल कर या एकत्रित हो कर एक कार्य करें, न कि अनेक कारण जहाँ एक कार्य को पुष्ट करें। ऐसा ही भ्रम दास जी के टीकाकार को भी हुआ जान पड़ता है।

लछिराम ने भी लिखा है:—

१—जहँ उपजै इक संग ही, एक छन भाव-समूह।
२—जहँ अनेक मिलि कै करैं, काज एक परबीन॥

गोकुल जी ने प्रथम रूप तो लछिराम के समान दिया है किन्तु दूसरा रूप यों लिखा है :—

"अहम् शब्द को कीजिये, जहाँ प्रथम ही रूप।"

यहाँ अहम् शब्द से तात्पर्य कदाचित यही है कि जहाँ कई कर्ता एक साथ अहंमन्यता या अहंकार के साथ एक ही कार्य करें।

गोविन्द जी ने दूसरा रूप तो लछिराम के ही समान दिया है, परन्तु प्रथम यों लिखा है :—

"जहँ अनेक इकबार ही, वस्तु बखानी जाँहि।"

अर्थात जहाँ एक ही बार या समय (स्थान) में कई वस्तुयें कही जावें।

दूलह कवि ने अपने दोनों रूप कछु वैलक्षण्य से दिये हैं:—

१—"एकै भाव को भजत जहाँ बहुतेरे गुंफ..........

२—प्रथम हौं कहैं सब एकै संग अन्वै गहि..........

यहाँ भी 'हौं' पद से अहम्मन्यता का भाव सूचित किया गया है।

पद्माकर जी ने भी प्रथम रूप तो दूलह ही के समान लिखा है और दूसरा रूप मतिराम जी के ही समान लिखा है:—

"बहु मिलि बहस करैं जु इक, काज समुच्चय जान ॥"

इस प्रकार जान पड़ता है कि हमारे हिन्दी के आचार्यों ने भी इसमें अपने मत स्वतंत्र रूप से प्रकाशित किये हैं।

अन्य रूप

१—गुण-समुच्चयः—एक ही पदार्थ के कई गुणों का समुच्चय—

दुर्गुणात्मकः—विरहिन दाहक, मलिनमन, कोक, कमल रिपु रंक।
विष बासनि को बंधु पुनि, ऐसो नीच मयंक ॥

सद्गुणात्मकः—मर्यादा-पालक सदा, सरस, धीर, गंभीर।
अति उदार धनि सिंधु तुम, जीवनदाता बीर ॥

श्लिष्टः—सरस सदय है हृदय अति, जीवनप्रद सुख-धाम। द्वारा
नचै मोर मन लखि तुम्हैं, उपकारी घनश्या

३—जहाँ कई गुण एवं भाव सूचक क्रियायें एक ही समय में एक ही साथ एक ही स्थान में भी दिखाये जावें वहाँ हम समुच्चय का एक विशिष्ट रूप मान सकते हैं।

४—कार्य-समुच्चयः—जहाँ एक ही कर्त्ता के द्वारा किये जाने वाले कई कार्यों का समूह हो, चाहे वे सब कार्य एक ही समय, एवं स्थान में हों, या भिन्न भिन्न समयों एवं स्थानों में हों। इस प्रकार इसके कई रूप हो सकते हैं।

५—हेतु-समुच्चयः—जहाँ किसी कार्य के कई कारणों का समूह दिया हो।

६—साधन-समुच्चयः—जहाँ किसी कार्य की सिद्धि के लिये कई साधनों (उपायों) का समूह दिखाया गया हो।

७—फल-समुच्चयः—जहाँ किसी कार्य के कई फलों का समूह दिया हो।

८—कर्ता-समुच्चयः—ऊपर दिया ही गया है।

नोटः—यदि हम इस समुच्चय शब्द को साधारण एवं मूल अर्थ के व्यापक रूप में लें, तो किसी प्रकार के समूह या समुदाय के बनाने पर यह अलंकार आ जावेगा, हाँ समूह के बनाने तथा दिखलाने में कवि-प्रतिभा-जन्य चातुर्य और चमत्कार अवश्य ही होना चाहिये। किसी किसी ने इसे उपमा के साथ रख कर "समुच्चयोपमा" नामी भेद दिखलाया है:—"जहाँ उपमेय और उपमान की समता कई एक धर्मों के कारण की जाये।

" चम्पक-कलिका सी अहै, रूप, रंग अरु बास। "

दूसरा इसे अन्य अलंकारों के साथ रखकर हम इसके कई संकीर्ण [illegible] सकते हैं—जो मिश्रालंकारों की कक्षा में आ जावेंगे। [illegible] ने विस्तार-भय से केवल संकेत ही किया है।

यहाँ

—सम्पादक

एक साथ

परिसंख्या

जहाँ सप्रश्न या अप्रश्न रूप में किसी वस्तु के विषय में जो कुछ कहा जावे उसी से उस वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु के मना करने या वर्जन करने के लिये भी कुछ भाव झलकता रहे, वहाँ परिसंख्या नामी अलंकार माना जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि इसमें जो कुछ भी किसी वस्तु के विषय में कहा जाता है उसमें शास्त्रादि के प्रमाणों से पुष्टता भी होनी चाहिये, अर्थात् उसे शास्त्रादि में प्रसिद्ध तथा उनके आधार पर ही आधारित होना चाहिये, और फिर प्रयोजन या तात्पर्यान्तर के बिना ही (आर्थात् बिना किसी अन्य प्रकार के प्रयोजन के ही) उस बात से किसी अन्य वस्तु के जो पूर्व वस्तु के समान ही हो, निषेधार्थ का भी भाव प्रगट होना चाहिये।

अब ऐसी दशा में प्रश्न के साथ भी ऐसा किया जा सकता है और बिना प्रश्न के भी। इसके मुख्यतया दो भेद होते हैं:—

१—प्रश्नात्मकः—जहाँ प्रथम प्रश्न किया गया हो और फिर उसके उत्तर के ही द्वारा निषेध का भाव दिखलाया जावे।

अब इसके भी दो भिन्न रूप होते हैं:—

अ—व्यंग्यवर्ज्यः—जहाँ वर्जन एवं निषेध का आधार व्यंग्य हो या निषेध का भाव स्पष्ट रूप से प्रगट न हो कर व्यंग्य (सूच्य) ही रहे।

> सेव्य कहा ? सुरसरित तट, कहा ध्येय ? हरिपाद।
> करन उचित कह, धर्म नित, चित तजि सकल विषाद॥

ब—वाच्यवर्ज्यः—जहाँ निषेध का भाव शब्दों के द्वारा स्पष्ट हो।

> उत्तम भूषन कौन ? यश, नहिं कनकालंकार।
> सखा कौन जग ? धर्म है, नहिं नर आदिक यार॥

२—प्रश्नरहितः—जहाँ बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जावे, और उससे निषेध का भाव प्रगट हो। इसके भी प्रथम रूप की भाँति दो भेद हैं:—

अ—व्यंग्यनिषेधः—जहाँ निषेध का भाव शब्दों के द्वारा स्पष्ट न होकर सूच्य ही रहता है।

तुलसी या जग आइकै, करि लीजै द्वै काम।
दीबे कौ टुकड़ो भलो, लीबे को हरि नाम॥

ब—वाच्यनिषेधः—जहाँ निषेध का भाव शब्दों के ही द्वारा स्पष्ट हो।

जीवन कौ है सार यह, प्रेम विष्णु-पद-माँहि।
कह 'रसाल' विषयादि में, रागी ह्वैबो नाहिं॥

३—श्लेषात्मकः—जहाँ श्लिष्ट पदों के ही साथ परिसंख्या का भाव कहा गया हो।

दंड यतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
सब के मन बस सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

—रामायण

इसी प्रकार इसे पुनरुक्तवदाभासात्मक, एवं यमकात्मक भी कर सकते हैं:—

बैदन के गृह रहत खल, खल, समाज मैं नाहिं।
रंज मिलै शतरंज मैं, ताप प्रतापहि माहिं॥

मम्मट जी के मतानुसार परिसंख्या का लक्षण एवं रूप उक्तानुसार ही है।

"किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥ —का० प्र०

विश्वनाथ जी के मतानुसार इसके शाब्दी एवं आर्थी दो भेद होते हैं, इन्हीं को ऊपर व्यंग्यात्मक एवं वाच्यात्मक कहा गया है:—

"प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥ —परिसंख्या

अप्पय जी ने इस सम्बन्ध में यों लिखा है:—

"परिसंख्या निषिद्धैकमेकस्मिन्वस्तु यन्त्रणम् ॥" —कुवलया०

साधारणतया मम्मट एवं विश्वनाथ के ही मत मान्य हुये हैं। हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव एवं देव को छोड़ कर शेष सभी मुख्याचार्य इसे अपने अपने ग्रंथों में देते हैं।

दास जी ने इसके लक्षण यों लिखे हैं:—

१—"इहै एक नहिं, और कहि, परिसंख्या निरसंक।"
२— नहीं बोलि पुनि दीजिये, क्यों हू कही लखाय ॥
कहि विशेष बरजन करै, संग्रह दोष बराइ।
पूछ्यो, अनपूछ्यो जहाँ, अर्थ-समर्थन आनि ॥
परिसंख्या भूषन वही, यह तजि और न आनि।

मतिराम जी ने लिखा है:—

"और ठौर ते मेटि कछु, बात एक ही ठौर।

भूषण ने भी यों ही कहा है—

अनत बरजि कछु वस्तु जहँ, बरनत एकहि ठौर।

यही मत जसवन्त सिंह का भी है—

परिसंख्या इक थल बरजि, दूजे थल ठहराइ।

अन्य सभी मुख्याचार्यों जैसे लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर—का भी यही विचार है, हमारी समझ में प्रायः सभी उक्त आचार्यों ने अप्पय जी के ही आधार पर इसके लक्षण लिखे हैं।

गोकुल कवि ने वस्तु के धर्म, गुण और जाति के भी स्पष्ट स्थापन का भाव दिखलाया है:—

करि निषेध थल एक तें, राखै औरै ठौर।
वस्तु, धर्म, गुन, जाति जहँ, परिसंख्या तेहि ठौर॥

नोटः—इस प्रकार इसे वहाँ भी माना है जहाँ किसी वस्तु धर्म, गुण, एवं जाति आदि के अन्य सब स्थानों में (जो उसके उपयुक्त माने जाते एवं हैं भी) निषेध के साथ वर्जित करके किसी एक विशेष स्थान पर चमत्कार के साथ स्थापित किया जाता है। परिसंख्या पद का यहाँ पर अर्थ है:—अपने स्थान से हटाई जाकर अन्य स्थान में रक्खी हुई वस्तुओं की गणना।

—सम्पादक

समाधि

जहाँ कोई कार्य किसी अन्य कर्ता (उस कर्ता के अतिरिक्त जो वास्तव में उस कार्य के कर रहा है) या किसी अन्य साधन (कारण) के अकस्मात ही प्राप्त हो जाने एवं सहायता पहुँचाने से सरलता पूर्वक हो जावे, वहाँ समाधि अलंकार माना जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि कार्य की सिद्धि प्रधान या मुख्य कर्ता एवं कारण से ही होती है, अन्य कर्ता एवं साधन जो अकस्मात् ही प्राप्त हो जाते हैं, उसके सहायक मात्र ही होते हैं। हम इसके और समुच्चय के भेद को समुच्चयालंकार में ही स्पष्ट कर चुके हैं। इसके मुख्य दो रूप यों हो सकते हैं:—

१—कर्तागम—जहाँ अकस्मात् ही किसी कर्तान्तर की प्राप्ति हो।

२—कारणागम—जहाँ अकस्मात् ही किसी अन्य कारण या साधन की प्राप्ति हो।

१—राधे जू को मान, हरन लगे हरि विनय करि।
मारि मदन त्यों बान, सिद्ध कियो हरि-काज सब ॥
२—मान करन राधा लगी, लखि गोपाल गुमान।
श्लेषात्मकः—जहाँ श्लेष की भी पुट इसमें दी गई हो ॥
राधा बैठी मान करि, सखी दूर करिबे लगी।
चलि आये घनश्याम तब, राधा लखि हँसिबे लगी ॥

इसी प्रकार इसे लाटात्मक, पुनरुक्तवदाभासात्मक या यमकात्मक भी कर सकते हैं।

मान मिटावन हित लगे, रस सींचन घनश्याम।
लागे त्यों चहुँधा उनइ, रस सींचन घनश्याम ॥

उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके दो रूप और होते या हो सकते हैंः—

१—व्यंग्यात्मक—जहाँ कार्य-सिद्धि का भाव व्यंग्य या सूच्य ही रहे, वह शब्दों से स्पष्ट न कहा गया हो।

२—वाच्यात्मकः—जहाँ कार्य-सिद्धि का भाव शब्दों के द्वारा ही व्यक्त या स्पष्ट किया गया हो। यथा उदा० नं १ में

नोटः—कविवर दंडी ने इस अलंकार को समाहित की संज्ञा दी है, किन्तु अन्य आचार्यों ने—अप्पयादि ने—समाहित को एक स्वतंत्र अलंकार माना है।

मम्मट, विश्वनाथ एवं अप्पयादि ने इसका केवल एक ही रूप माना है, और लिखा है कि जहाँ कारणान्तर के द्वारा कार्य की सिद्धि में सरलता आ जाये वहाँ समाधि होता है।

१—"समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तर योगतः" —मम्मट
२—'समाधिः सुकरे कार्ये दैवास्त्वन्तरागमात्.' —सा० द०
३—"समाधि-कार्य-सौकर्यं कारणान्तर संनिधेः।"
—चंद्रा० कुव०

कर्तान्तर से कार्य-सौकार्य को इन महाशयों ने नहीं दिखलाया। न इन महानाचार्यों ने इसको श्लिष्टादि के साथ ही रक्खा है। हिन्दी काव्याचार्य केशव और महाकवि देव ने इसे अलंकार ही नहीं माना और अपने ग्रंथों में भी नहीं दिया।

भिखारीदास ने इसका लक्षण यों लिखा है:—

"क्यों हूँ कारज को जतन, निपट सुगम ह्वै जाइ।
तासों कहत समाधि लखि, काकताल को न्याय॥

आपने इसे काकताल-न्याय के आधार पर आधारित माना है (काकतालन्यायः—एक फल खूब पक कर गिरने ही वाला था कि उस पर एक कौवा आकर बैठ गया और वह तत्क्षण ही गिर गया—) किन्तु इसे काकताल न्याय पर आधारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें कारणान्तर से कार्य-सिद्धि में संदेह रहता है और यह नहीं कहा जा सकता कि किस कारण को प्रधानता है। यहाँ ऐसा नहीं होता, यहाँ एक कारण या कर्त्ता प्रधान और अन्य सब कर्त्ता या साधन अप्रधान एवं सहायक रूप के ही रहते हैं। अतः हमारी समझ में कारणान्तर को प्रधान कारण का सहायक ही मानना ठीक है और यही बात काक-ताल न्याय के साथ भी लागू होती है। फिर दास ने कार्य के यत्न में सुकरता का आ जाना भी कहा है, चाहे वह किसी प्रकार भी आ जाये।

मतिराम जी ने अप्पय ही के मतानुसार लिखा है:—

"और हेतु के मिलन ते, सुकरु होत जहँ काज।"

ठीक इसी प्रकार भूषण और जसवन्तसिंह ने भी लिखा है:— दास ने इसका जो लक्षण दूसरे स्थान पर दिया है वह ठीक इसी प्रकार है और अक्षरशः जसवन्तसिंह के लक्षण से मिल जाता है:—

१—"सो समाधि कारज सुगम, और हेतु मिलि होत।

—दास

२—सो समाधि कारज सुगम, और हेतु मिलि होत ॥"

—भा० भू०

बस ठीक इसी लक्षण को अन्य मुख्य आचार्यों, जैसे लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर ने भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने इस अलंकार में मम्मट एवं अप्पय के ही मतों का अनुसरण किया है। हमारी धारणा तो यही है कि प्रायः सभी हिन्दी के आचार्यों ने अप्पय की दी हुई परिभाषा का ही अनुवाद कर दिया है।

नोटः—समाधि का अर्थ है शक्ति-सम्पन्न करना।

प्रत्यनीक

जहाँ किसी शत्रु के जीतने में असमर्थ होने के कारण उसकी या उसके पक्ष की किसी वस्तु का तिरस्कार सा किया जावे, वहाँ प्रत्यनीक नामी अलंकार होता है।

इस अलंकार का सम्बन्ध प्रधानतया वीर, रौद्र आदि तीव्र रसों से जान पड़ता है, किन्तु कवियों ने शृंगार के साथ भी इसका सामंजस्य किया है, ऐसी अवस्था में शत्रु आदि से तात्पर्य केवल विरोधी या विपक्षी से ही लिया गया है। ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ सच्ची शत्रुता या सच्चे शत्रु का प्रसंग होगा, वहाँ यह अलंकार अधिक रोचक न होगा जब तक कि कवि-प्रतिभोत्पन्न काल्पनिक (कल्पित) शत्रुता के आधार पर भाव के परिपोषणार्थ चातुर्य-चमत्कार न रहेगा।

इस अलंकार के दो मुख्य रूप यों हो जाते हैंः—

१—साक्षात् (वास्तविक) तदीयता—जहाँ किसी प्रबल शत्रु के ऊपर विजय न प्राप्त कर सकने के कारण उससे वास्तव में सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों को तिरस्कृत किया जाता हैः—

मारि मारि द्रुगवान, जीत्यो कामहिं स्याम तुम।
ताते वह दुख मान, तव राधा को देत दुख ॥ —र० मं०

२—परंपरया तदीयता—जहाँ प्रबल शत्रु के सम्बन्धी पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य (दूसरे) दूरवर्ती पदार्थों को तिरस्कृत किया जावे।

निज पद-गति सों करति तू, गज गुमान को चूर।
पद सम पंकज दलन को, दलन करत वह क्रूर ॥ —र० मं०

अब यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो ज्ञात हो जावेगा कि इस अलंकार के भीतर हेतूत्प्रेक्षा का भी भाव रहता है, केवल वाचक शब्द नहीं रहता, साथ ही उत्प्रेक्षा का भाव पूर्ण रूप से स्पष्ट भी नहीं रहता है, वरन् वह सूच्य एवं व्यंग्य सा होता हुआ गुप्त ही रहता है। कह सकते हैं कि इसका बहुत बड़ा सम्बन्ध व्यंग्य या वाचक-गुप्ता हेतूत्प्रेक्षा से ही है, इसी विचार से पंडित राज जगन्नाथ जी ने इसे हेतूत्प्रेक्षा के ही अन्तर्गत माना है और इसे उसी का एक विशिष्ट रूप या भेद कहा है। अन्य आचार्यों के मत से यह एक स्वतंत्र अलंकार ठहरता है। अब इन दोनों में भेद यह है या यों कहिये कि इसमें हेतूप्रेक्षा से यह विशेषता है कि इसमें शत्रु-सम्बन्धी वस्तुओं के तिरस्कार का ही भाव प्रधान रहता है, और उत्प्रेक्षा वाचक शब्द एवं उसका भाव लुप्तप्राय रहते हैं, और तिरस्कार का भाव शत्रु से प्रतिकार या बदला लेने के भाव से पुष्ट रहता है। यह विश्वनाथ जी ने स्पष्ट रूप से दिखलाया है:—

"प्रत्यनीकमशक्तेन, प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्ष साधकाः।"

साथ ही इस प्रतीकार को ही शत्रु अपना उत्कर्षसाधक मानता है, यह भाव भी ध्वनित होता रहता है। ऐसा ही मम्मट जी का भी मत है।

"प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥"

अप्पय जी ने ऐसा न दे कर केवल शत्रु के पक्षवालों पर ही (न कि शत्रु पर) पराक्रम दिखाने को प्रधानता दी है।

"प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।"

अब हमारे हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से केशव, देव और जसवन्तसिंह जी को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने इसे लिखा है।

भिखारीदास जी लिखते हैं:—

"शत्रु-मित्र के पक्ष तें, किये बैर औ हेतु।"

इससे आपका मत कुछ बहुत स्पष्ट नहीं होता। आपने इसके दो रूप यों दिये हैं :—१—शत्रु पक्षीय (जहाँ शत्रु के पक्ष वालों से बैर किया जावे), २—मित्र पक्षीय*—जहाँ शत्रु के मित्र से मित्रता करके शत्रु को हानि पहुँचाई जावे। मतिराम जी ने अप्पय जी के ही मतानुसार इसका लक्षण यों दिया है :—

"प्रबल शत्रु के पक्ष पर, जहँ विक्रम उल्लास।"

इसी प्रकार भूषण जी भी लिखते हैं:—

"जहँ जोरावर सत्रु के, पक्षी पै कर जोर॥"

लछिराम जी ने यह कहा है कि प्रबल शत्रु से हार कर उसको हानि पहुँचाने का जहाँ उपाय किया जावे वहाँ प्रत्यनीक होता है:—

"प्रबल शत्रु सों हारि कै, ता हित हानि उपाय।"

अब यहाँ यह स्पष्ट नहीं कि शत्रु से हार कर उसकी हानि का उपाय किस प्रकार किया जावे। साथ ही अन्य आचार्यों ने शत्रु से हारने के भाव को प्रधान नहीं रक्खा, वरन् यही कहा है कि शत्रु को प्रबल देख उससे जीतने में अशक्त होने पर उसके पक्ष का

---

* जहाँ अपने मित्र के पक्ष वालों से मित्रता की जावे।

तिरस्कार करना ही यहाँ ठीक है न कि हानि पहुँचाना। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर लछिराम जी का लक्षण कुछ भिन्न और संकीर्ण सा लगता है।

गोकुल जी ने मतिराम एवं अप्पय जी ही के समान लिखा है। गोविन्द जी कहते हैं कि प्रवल शत्रु से कुछ बल न चलने पर जब उसके मित्र से (जो कुछ हीन है) युद्ध किया जावे तब यह अलंकार होता है:—

"रिपु ते नाहिन बल चलै, ता साथी ते जूझ।"

इस प्रकार यह एक विशेष भेद मात्र ठहरता हुआ कुछ भिन्न सा प्रतीत होता है। रामसिंह ने भी ठीक इसी प्रकार लिखा है और दूलह ने भी यही भाव रक्खा है, हाँ उन्होंने शत्रु के पक्ष पर केवल कोप करने पर ही बल दिया है—

"प्रत्यनीक प्रवल-विपक्ष-पक्ष पै प्रकोप।"

पद्माकर ने "प्रत्यनीक दुख देत जहँ, सुअरि-पच्छ को कोइ"—कहते हुये शत्रु के पक्ष को दुख देने पर ही बल दिया है।

अब इसके निम्न रूप और भी मुख्यतया हो सकते हैं:—

१—प्रत्यनीक माला:—जहाँ कई शत्रु हों और उनके कई पक्ष वालों का तिरस्कार किया जावे, या एक ही शत्रु के कई पक्ष वालों को तिरस्कृत किया जावे।

२—प्रत्यनीकोत्प्रेक्षा:—जहाँ उत्प्रेक्षा के साथ प्रत्यनीक की पुष्टि की गई हो।

ध्यान रखना चाहिये कि प्रायः उपमान को उपमेय का एवं अप्रस्तुत को प्रस्तुत का शत्रु दिखला कर कवि लोग इस अलंकार का चमत्कार दिखलाया करते हैं, अतः कह सकते हैं कि यह एक उपमात्मक अलंकार है।

कभी कभी शत्रु के नाम वाले अन्य जन (चाहे उनका सम्बन्ध शत्रु या उसके पक्ष से हो या न हो) शत्रु के से रूप, रंग, गुण एवं स्वाभावादि वाले जन का भी तिरस्कार दिखलाया जाता है और इस प्रकार इसका एक विशिष्ट रूप रच दिया जाता है:—

विष्णु वदन सम विधुहिं विचारी। अजहुँ राहु दे पीड़ा भारी।
तेज मन्द रवि ने कियो; बस न चल्यो तेहि संग।
दुहुन नाम एकै समुझि, जारत दीप पतंग॥

कुछ लोगों ने इसके रूप यों माने हैं:—

१—शत्रु पक्षात्मक—जहाँ शत्रु या उसके पक्ष वालों से साथ वैर किया जावे।

२—मित्र पक्षात्मक—जहाँ मित्र या मित्र के पक्ष वालों से प्रेम किया जावे।

३—इनके अतिरिक्त ये रूप और भी हो सकते हैं, इनके उदाहरण भी मिल सकते हैं:—

१—शत्रु को नीचा दिखलाने को उसके पक्ष वालों से मित्रता करके, उनकी सहायता से शत्रु का जहाँ तिरस्कार किया जावे।

२—जो अपने साथ जैसा करे, उसके पक्ष वालों के साथ वैसा ही किया जावे। यदि उसी के साथ वैसा किया जावेगा तो अन्योन्य या परस्पर अलंकार हो जावेगा (जो अपने साथ वैसा करे उसके साथ भी वैसा ही कराना, परस्पर या अन्योन्य का काम है)।

३—भ्रमात्मकः—जहाँ भ्रम एवं संदेह के कारण इसकी उत्पत्ति हो।

४—श्लिष्टाः—जहाँ श्लिष्ट एवं अर्थान्तरप्रद शब्दों के साथ इसकी पुष्टि हो।

५—स्पष्टा—जहाँ प्रत्यनीक का भाव शब्दों से स्पष्ट रहे।

६—व्यंग्य—जहाँ प्रत्यनीक का भाव व्यंग्य एवं सूच्य ही रहे। इसी प्रकार इसके अन्य कई रूप हो सकते हैं।

काव्यलिंग

जहाँ किसी वाक्य या पद के अर्थ (भाव) में ही किसी कार्य का कारण कहा जावे, अर्थात् कारण की झलक वाक्यार्थता एवं पदार्थता में ही दिखलाई जावे। इस प्रकार इसके दो मुख्य भेद या रूप होते हैं:—

१—वाक्यार्थात्मकः—जहाँ किसी कार्य या बात का कारण किसी वाक्य के अर्थ या भाव से ही स्पष्ट होता है, और उसी में वह रक्खा गया हो, तथा उसीसे उस बात की पुष्टि होती हो।

गंगे ! तारति अघिन कौ, देव गर्व करि चूर।
घिन करि जेई अघिन कौ, सुर करि राखत दूर॥ —र० मं०

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय॥ —विहारी

नोटः—यहाँ कह सकते हैं कि इसकी पुष्टि यमक या पुनरुक्त-वदाभास से भी हुई है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इसमें कारण के द्वारा भाव या बात की पुष्टि सर्वथा सूच्य ही न रह कर स्पष्ट एवं व्यक्त ही रहती है।

२—पदार्थतात्मकः—जहाँ किसी एक ही पद के अर्थ में किसी बात का कारण दिया गया हो और उसीसे उसकी सिद्धि या पुष्टि भी हो जाती हो।

जनि कछु और उपाय करु, रहु 'रसाल' निरसंक।
हिय-तम नासन को धरो, राधा-वदन-मयंक॥ —र० मं०

ध्यान रखना चाहिये कि परिकर अलंकार और इसमें अन्तर है। उसमें तो पदार्थ या वाक्यार्थ के द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ या भाव ही वाच्यार्थ को पुष्ट करता है, किन्तु इसमें पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण के भाव को प्राप्त हो जाते हैं, वे ही पूर्व बात के कारण बन कर उसे करते हैं, और अन्य किसी अर्थान्तर या भावान्तर की अपेक्षा नहीं करते।

वास्तव में यह अलंकार एक प्रकार का हेतुप्रदर्शक अलंकार ही है, और इसी लिये दंडी जी ने इसे हेतु नामी अलंकार के ही अन्तर्गत माना है, उनके मत से यह हेतु का ही एक विशिष्ट भेद या रूप है, किन्तु मम्मट, अप्पय, और विश्वनाथादि ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार ही माना है, मम्मट और विश्वनाथ ने एक ही प्रकार से इसे यों दिखलाया है :—

काव्यलिंगं हेतोर्वाक्य पदार्थता:। —का० प्र०
हेतोर्वाक्य पदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते। —सा० द०

अप्पय जी ने केवल यही कहा है कि जहाँ समर्थनीय अर्थ का समर्थन किया जावे वहीं काव्यलिंग अलंकार होता है:—

"समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंग समर्थनम्॥

इसमें हेतु या कारणादि का भाव नहीं, केवल किसी समर्थनीय बात का समर्थन होना चाहिये। साध्य को हेतु के ही द्वारा सिद्ध किया जाता है, अतः कह सकते हैं कि हेतु का भाव इसमें उपस्थित ही है।

केशवदास, मतिराम और देव ने इसे अपने ग्रंथों में नहीं लिखा, शेष सभी मुख्याचार्य इसे देते हैं। भिखारीदास ने इसके लक्षण में कुछ विशेष बातें और भी दे दी हैं:—

जहँ सुभाव के हेतु को, कै प्रमान जो कोइ।
करै समर्थन जुक्ति-बल, काव्यलिंग है सोइ॥

और इस प्रकार इसके दो रूप दिये हैं:—१—स्वभाव पुष्ट २—युक्तिपुष्ट। जहाँ किसी स्वाभाविक हेतु को प्रमाण से पुष्ट किया जावे या उसका समर्थन किसी युक्ति के द्वारा किया जावे। इस परिभाषा के अतिरिक्त आपने इसकी एक परिभाषा और दी है:—

"हेतु समर्थन युक्ति सों, काव्यलिंग को अंग॥"

भूषण जी ने अप्पय का अनुकरण किया है और लिखा है:—

"है दिढाइबे जोग जो, ताको करत दिढाव।"

जसवन्तसिंह ने दास के ही समान इसे यों दिया है:—

"काव्यलिंग जब जुक्ति सों, अर्थ-समर्थन होइ॥"

ठीक इसी प्रकार लछिराम ने भी लिखा है, और ऐसा जान पड़ता है मानो आपने उक्त दोहे के पदों को केवल बदल कर ही रख दिया है:—

अर्थ-समर्थन होइ जब, जुक्ति-बलहिं के साज।"

गोकुल जी ने लिखा है:—

"जो समर्थ जेहि काम में, ताको कहिये अर्थ।
जा कारज में कहत तहँ, काव्यलिंग सामर्थ॥

दूलह, गोविन्द और रामसिंह ने तो अक्षरशः अप्पय जी का अनुवाद किया है। पद्माकर ने इसके दो रूप यों दिखलाये हैं:—

१—अर्थ समर्थहिं जोग जो, करै समर्थन तासु।
२—हेतु पदारथ लहि कहूँ, कछु वाक्यारथ, पाय॥
करै समर्थन अर्थ को, काव्यलिंग सो आय।

इस प्रकार आपने अप्पय और मम्मट का ही अनुकरण किया है।

नोटः—काव्य=काव्यार्थ+लिंग=सूचक चिन्ह (लक्षण या हेतु) अतः काव्य में कहे हुए भाव (अर्थ) को सूचित करने वाला जहाँ कोई चिन्ह (कारण) दिया जावे वहाँ काव्यलिंग होता है। कारण दो प्रकार के माने गये हैं, १—उत्पादक—जो कार्य की उत्पत्ति करता है, २—सूचक या ज्ञायक हेतु—जो किसी बात या कार्य की सूचना ही दे, उसे उत्पन्न न करे। अग्नि धूम का उत्पादक और धूम उसका सूचक हेतु है। यहाँ इसी ज्ञायक हेतु की ही प्रधानता रहती है, उत्पादक की नहीं। उत्पादक के आधार पर कार्य-कारण सम्बन्ध हेतु अलंकार में दिखलाया जाता है, अतः कहना चाहिये कि :—

"अर्थ-समर्थन करिय जहँ, ज्ञापक कारन देय।
सुकवि 'रसाल' बखानहीं, काव्यलिंग तहँ लेय॥"

काव्यार्थापत्ति (न्यायमूलक)

जहाँ किसी अर्थ या भाव की सिद्धि (प्राप्ति) किसी एक प्रधान अर्थ की सिद्धि के ही साथ इस लिये प्राप्त हो जावे, चूंकि उससे वह सब प्रकार से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध ही है।

आचार्यों ने इसे "दंड-पूपिका-न्याय" पर ही समाधारित माना है, अतः हम इसे न्यायमूलक अलंकार भी कह सकते हैं।

दंड पूपिका न्याय—एक दंड में मालपुए चिपके थे, अतः उसके खींचने पर मालपुए भी उसके साथ आ गये। इसी सम्बन्ध को सूचित करने के लिये दंड-पूपिका न्याय की सृष्टि हो गई है। यह न्याय यही सूचित करता है कि दो वस्तुयें एक दूसरे से पृथक् होती हुई भी एक दूसरे के साथ अविच्छिन्न (कष्ट से पृथक् हो सकने वाला) सम्बन्ध रखती हैं और इसीसे उनमे साहचर्य-सम्बन्ध

सुदृढ़ रूप से पाया जाता है। इसी के आधार पर जब दो पृथक् पृथक् भाव (स्वतंत्र अर्थ) एक दूसरे के साथ अविश्लेषणीय सम्बन्ध रखते हैं तब वे एक ही साथ चलते रहते हैं। एक भाव की सिद्धि या प्राप्ति दूसरे की भी सिद्धि या प्राप्ति का द्योतक या कारण होती है।

लै निज सुत को नाम, मरत अजामिल सुख लह्यो।
पाइ गयो सुर-धाम, धन्य नाम हरि आपको॥

इसी प्रकार जब एक अर्थ किसी दूसरे अर्थ के साथ साहचर्य-सम्बन्ध सा रखता है तब भी यही अलंकार माना जाता है:—

कामिनि जुगुल उरोज ये, निकसे निज हिय भेद।
औरन हिय भेदन करत, इनहिं कहा चित खेद॥ —का० क०

इस अलंकार में श्लेष की पुट दे देने से यह और भी चमत्कृत हो जाता है:—

मुक्ता श्रुति-सेवी सदा, चूमत कामिनि-गाल।
औरन को तब हाल का, कैसे कहै 'रसाल'॥" —र० मं०

मम्मट ने इसे अलंकार नहीं माना और अपने ग्रंथ में इसे दिया भी नहीं, विश्वनाथ ने इसे उक्त दंड-पूपिकान्याय पर ही आधारित माना है:—

"दंड पूपिकान्यायार्थागमोऽर्थापत्तरिष्यते।"

टीकाकार ने दंड-पूपिका न्याय के लिये लिखा है "नियत समान न्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दंड-पूपिका"। हाँ यहाँ यह देखना चाहिये कि इस अलंकार का नाम आपने अर्थापत्ति ही दिया है।

अप्पय जी ने लिखा है:—"कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्ति-रिष्यते।" कैमुत्तिक न्याय का ही दूसरा नाम दंड-पूपिका-न्याय है,

इससे यही तात्पर्य है कि जहाँ दो बातें या वस्तुयें एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हों, (उन दोनों में ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध हो) कि एक के लिये जो कुछ कहा जाय वह दूसरे पर भी लागू होता हुआ चरितार्थ हो जावे या दोनों का प्रादुर्भाव एक ही कारण या हेतु से हो सके, ऐसी दशा में जब किसी बात या पक्ष (वस्तु) को अधिक बलवान कारणों से प्रतिपादित या सिद्ध करते हुये स्थापित किया जाता है, तब या ऐसी ही अवस्था में कैमुत्तिक या दंडपूपिका न्याय माना जाता है।

अब हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास और देव को छोड़ कर शेष सभी मुख्याचार्यों ने इसे लिखा है। किसी ने तो इसे अर्थापत्ति के ही नाम से लिखा है (मतिराम, भूषण, दूलह) और किसी ने काव्यर्थापत्ति के नाम से लिखा है (जसवन्तसिंह, लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, और पद्माकर)।

भिखारीदास ने इसका लक्षण यों दिया है:—

"यहै भयो तौ यह कहा, एहि विधि जहाँ बखान।
कहत काव्य पद सहित तेहि, अर्थापत्ति सुजान॥"

अर्थात् जहाँ यह कहा गया हो कि जब यह बात हो गई तब इस बात की क्या है, वहाँ यह अलंकार होता है।

मतिराम जी ने भी ऐसा ही लिखा है:—

जो पै यो, तौ यह कहा, इहि विधि जहाँ बखान।
कहत काव्य पद सहित तेहि, अर्थापत्ति सुजान॥

नोट:—पाठक देख सकते हैं कि प्रथम पद को छोड़ (जो भाव में समता ही रखता है, हाँ कुछ हेर फेर शब्दों में अवश्य रखता है) शेष सभी पद इस दोहे के तथा दास के दोहे के एक ही हैं— क्या ? दास ने मतिराम से ही इसे लिया है ?—यह संदिग्ध है। टीकाकार गुलाब कवि ने पुनः इसे यों लिखा है :—

"जहाँ व्यर्थ में अर्थ कौं, और जोग सैं थाप ॥"

अर्थात् जहाँ किसी अर्थ की व्यर्थैव किसी दूसरे ढंग से स्थापना की जावे, वहाँ यह अलंकार माना जाता है—यह लक्षण वैचित्र्य पूर्ण ही है।

जसवन्तसिंह ने इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी, किन्तु जान यही पड़ता है कि आपका भी मत वही है जो मतिराम जी या दास का है।

काव्यार्थापति के सबै, हरि विधि बरनत जात।
मुख जीत्यो वा चन्द्र सों, कहा कमल की बात ॥

भूषण जी ने लिखा हैः—

"वह कीन्हों तो यह कहा, यों कहनावति होय।
अर्थापत्ति बखानहीं, तहाँ सयाने लोय ॥

अर्थात् जहाँ इस प्रकार कहा जावे (या ऐसी कहावत हो ?) कि जब वह कर लिया तब यह क्या है, वहाँ यह अलंकार होता है। यहाँ कार्य के करने का भाव विचित्र रूप से दिया गया है, हाँ भाव तो वही है।

नोटः—भाषा भूषण में एक दूसरी पंक्ति यह भी मिली हैः—

"कवि कैमुत्तिक न्याय को, काव्यार्थापति गात ॥"

यह पंक्ति अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद ही है।

लछिराम जी ने कहा है :—

जीतो यह तौ यह कहा, जहँ या विधि व्यापार ॥"

यहाँ जीत्यो पद अपना बैलक्षण्य रखता हुआ जान पड़ता है, शेष भाव वही है। गोकुल और गोविन्द ने अप्पय जी के श्लोक का ही अनुवाद करके रख दिया है। रामसिंह ने लिखा है "कहा अर्थ की सिद्धि जहाँ है। काव्यार्थापति कहौ तहाँ है ॥" दूलह ने कहा है

"जहाँ कौनौ अरथ है अरथ की सिद्धि काव्य, अर्थापति अलंकार ऐसे निरवहा है।"

पद्माकर जी ने ठीक उसी प्रकार लिखा है जिस प्रकार भूषण जी ने।

"वह जु कियो तो यह कहा, यों काव्यारथपत्ति॥"

नोटः—काव्य में जहाँ न कहा हुआ भाव या अर्थ यों ही आ जावे वहाँ अर्थापत्ति या काव्यार्थापत्ति जानना चाहिये।

—सम्पादक

विकस्वर

जहाँ किसी विशेष बात (अर्थ या भाव) का समर्थन किसी ऐसी सामान्य (साधारण) बात (अर्थ या भाव) से किया जावे कि उस बात की अप्रसिद्धता के कारण उसके द्वारा संतोषपूर्ण समर्थन न हो, और तब संतोषप्रद समर्थन के लिये किसी दूसरी विशेष बात (अर्थ या भाव) को वहाँ ला उपस्थित किया जाये, वहाँ विकस्वर अलंकार माना जाता है। यह दूसरी विशेष बात प्रायः उपमा के द्वारा या अर्थान्तरन्यास की रीति से कही जाती है, यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिये। इस विचार से इसके दो मुख्य भेद हो जाते हैं:—

१—उपमात्मकः—जहाँ उपमा के द्वारा किसी विशेष बात के समर्थनार्थ किसी विशेष बात का स्थापन किया गया हो।

रत्न-जनक हिमवान के, कहियत मिह न कलंक।
छिपत गुणन में दोष इक, ज्यों शशि करन शशंक॥

एवम्—केते भये यादव, सगर-सुत केते भये,
जातहू न जानी ज्यों तरैया परभात की।
चारि चारि दिन को चबाव जिमि कोऊ करौ,
अंत लूटि जैहै जैसे पूतरी बरात की॥

नोटः—जहाँ कई विशेष बातें (या एक ही विशेष बात) कई विशेष बातों से, एक या अनेक उपमाओं के द्वारा समर्थित हों, वहाँ विकस्वर-माला मानना चाहिये। यथा उक्त उदाहरण में।

२—अर्थान्तरन्यासात्मकः—जहाँ विकस्वर में अर्थान्तरन्यास की सहायता ली गई हो।

कागा कटु रव जनि करै, लै रसाल-रस-सार।
ताकी संगति माँहिं तोहिं, पिक जनि है संसार॥
पिक जनि है संसार, बात संगति की ऐसी।
थल-प्रताप ते धन्य होत, जो वस्तु अनैसी॥
कह 'रसाल' नृप-भाल माँहि, लखि कीचड़-दागा।
जानैं मृगमद-विन्दु, लोक, यों उर लखु कागा॥ —र० मं०

नोटः—अप्पय जी ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार माना है, किन्तु अलंकार सर्वस्व के रचयिता उद्भट जी ने इसे अर्थान्तरन्यास के ही अन्तर्गत माना है और पंडितराज जगन्नाथ ने इसके प्रथम भेद को तो उदाहरणालंकार का और द्वितीय रूप को अर्थान्तरन्यास का विशिष्ट भेद कहा है। वस्तुतः यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो बात भी यही जान पड़ती है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी कदाचित इसी विचार से इसे अपने ग्रंथों में स्वतंत्र अलंकार न मान कर नहीं लिखा। अप्पय जी ने इसे यों लिखा है:—

"यस्मिन्विशेष सामान्य विशेषाः सविकस्वरः।"

आपने इसमें रूप रूपान्तर नहीं दिखलाये।

हिन्दी अलंकाराचार्यों में से, केशवदास, भूषण और देव जी ने भी इसे नहीं लिखा, अन्य सभी मुख्य आचार्यों ने इसे प्रायः अप्पय जी के ही मतानुसार लिखा है।

भिखारीदास ने इसे यों लिखा है:—

"कहि विशेष-सामान्य पुनि, कहिये बहुरि विशेष।"

मतिराम ने जो दोहा इसके लक्षण में दिया है उसका प्रथम चरण ठीक यही है और दोनो में कुछ भी अन्तर नहीं। जान पड़ता है कि दास ने मतिराम ही से इसे लेकर लिखा है। जसवन्तसिंह ने भी इसी लक्षण को अपने ग्रंथ में दिया है, हाँ उनकी शब्दावली कुछ दूसरी है :—

"विकस्वर होत विशेष जब, फिरि सामान्य विशेष।"

सम्पादक जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा है "जब विशेष बात का सामान्य तथा पुनः विशेष से समर्थन किया जाय," आपने लिखा है कि भारती-भूषण नामी पुस्तक में इसके दो भेद किये गये हैं, अर्थात् जब अंतिम विशेष बात उपमान के रूप में आवे या न आवे। भाषा-भूषण का उदाहरण प्रथम भेद के ही अन्तर्गत है।

गोविन्द जी ने कुछ स्पष्ट रूप से उपमात्मक विकस्वर की परिभाषा यों दी है :—

"प्रथम विशेष कह्यो कियो, फिर सामान्य बखान।
पुनि विशेष उपमान करि, कह्यो विकस्वर जान॥"

शेष सभी (लछिराम, गोकुल, रामसिंह, दूलह, और पद्माकर) ने इसे ठीक अप्पय जी के ही मतानुसार उन्हीं के श्लोक का अनुवाद सा करते हुये लिखा है।

इसके ये रूप और हो सकते हैं।

१—अन्योक्तिमूलक—जहाँ विकस्वर में अन्योक्ति की भी पुट हो।

२—श्लेषात्मक—जहाँ विकस्वर में श्लेष का भी अंश हो।

नोटः—किसी किसी ने इसे उदाहरण-पुष्ट भी दिखलाया है। इसमें उदाहरण एवं दृष्टान्त की भी पुट दे सकते हैं। इस प्रकार इसके दो और भेद हो जावेंगे।

मिथ्याध्यवसति

जहाँ एक झूठ बात की असत्यता के सिद्ध करने के लिये कोई दूसरी झूठी बात कही जावे। ध्यान रहना चाहिये कि इसकी असत्यता सर्वथा कवि-प्रतिभाजन्य कल्पना के ही द्वारा रची हुई होती है, बस इसमें यही कल्पित असत्यता का चातुर्य चमत्कार का कारण होता है।

शश-सींगन को धनु लिये, गगन-कुसुम धरि माल।
खेलत बंध्या-सुतन सँग, तव अरिगन छितिपाल ! ॥

—का० क०

इस अलंकार के विषय में दो प्रकार के मत हैं, काव्यप्रकाश के टीकाकार ने इसे अतिशयोक्ति के ही अन्तर्गत माना है, और इसको सम्बन्धातिशयोक्ति का एक ऐसा विशिष्ट रूप कहा है जिसमें असम्बन्ध में भी सम्बन्ध दिखलाया जाता है।

उनके मत से इसे एक स्वतंत्र अलंकार न कहना चाहिये। रसगंगाधर में दूसरा मत मिलता है, उसमें पंडितराज जगन्नाथ ने इसे प्रौढोक्ति के एक विशिष्ट भेद के रूप में माना है।

मम्मट और विश्वनाथ ने भी इसे अपने ग्रंथों में नहीं दिया। अप्पय जी ने इसे यों लिखा है:—

"किञ्चिन्मिथ्यात्व सिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तर कल्पनम्।"

बस इसी लक्षण के अनुसार हमारे हिन्दी के मुख्य आचार्यों ने भी इसकी परिभाषायें दी हैं। भिखारीदास ने लिखा है:—

"एक झुठाई सिद्धि को, झूठो बरनै और।"

मतिराम जी ने मानो इसी पंक्ति को अपने ग्रंथ में रख लिया हो, अन्तर केवल एक शब्द में है—वे 'बरनै' के स्थान पर 'बरनत' देते हैं।

"एक झुठाई सिद्धि को, झूठो बरनत और।"

भूषण जी ने भी इसी लक्षण को अपनी परिभाषा में रक्खा है। जसवन्तसिंह जी नेः—"मिथ्याध्यवसिति कहत कछु, मिथ्या कल्पन रीति।" यों लिखा है, किन्तु टीकाकार (संपादक) ने इसका अर्थ यों लिया है :—

"जब एक असम्भव बात का होना दूसरी असम्भव बात पर निर्भर हो" न जाने यहाँ आपने मिथ्याकल्पन पद से असम्भव बात का अर्थ कैसे ले लिया है। यह अवश्य है कि इसमें कभी कभी असम्भवता भी होती या रहती हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मिथ्या बात के प्रतिपादनार्थ जो मिथ्या कल्पना की जावे, वह सदैव असम्भव ही हो, अस्तु।

लछिराम जी ने लिखा है :—

"इक मिथ्या की सिद्धि हित, मिथ्या विविध प्रकार।"

इससे स्पष्ट है कि एक मिथ्या बात की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार की मिथ्या बातें कही जावें, न केवल एक ही मिथ्या बात कही जावे। हम इसे इस अलंकार का एक दूसरा भेद मान सकते हैं और तब इसके दो रूप यों हो जावेंगे :—

१—एक मिथ्या बात की सिद्धि के लिये एक ही मिथ्या बात कहना।

२—एक मिथ्या बात की सिद्धि के लिये अनेक मिथ्या बातों का कहना।

गोकुल कवि ने लिखा है :—"जहँ मिथ्या को सत करै, कहि मिथ्या जन और," और यह दिखलाया है कि इसमें मिथ्या बात को सत्य करने के लिये कोई दूसरी मिथ्या बात किसी दूसरे व्यक्ति से कही जाती है। हमने प्रथम ही दिखला दिया है कि इसमें

मिथ्या बात की मिथ्यता के ही सिद्ध करने के लिये दूसरी मिथ्या बात कही जाती है।

इस विचार से हम गोकुल के इस रूप को एक विशेष रूप कह सकते हैं। गोकुल, रामसिंह, दूलह, और पद्माकर ने केवल इसी बात पर विशेष क्या पूर्ण बल दिया है कि इसमें किसी मिथ्या (झूठ) बात के समर्थनार्थ कोई दूसरी मिथ्या (अनृत) बात कही जाती है। ज्ञात होता है कि इन सब ने अप्पय जी के ही श्लोक का अनुवाद सा किया है।

मिथ्या = झूठ + अधि = (उपसर्ग) पास + असति = रहता है अर्थात् जहाँ एक बात के (झूठ बात के) समीप ही दूसरी झूठी बात भी रहती है।

नोटः—इसके अन्य रूप यों भी हो सकते हैं :—

१—जहाँ अनेक मिथ्या बातों को अनेक मिथ्या बातों से सिद्ध किया जावे।

२—जहाँ अनेक मिथ्या बातों को एक ही मिथ्या बात से सिद्ध किया जावे।

३—जहाँ वक्ता ही अपनी मिथ्या बात को आप ही मिथ्या बात से पुष्ट करे।

४—जहाँ कोई दूसरा व्यक्ति (वक्ता के अतिरिक्त) उस मिथ्या को अपनी मिथ्या बात से पुष्ट करे।

५—जहाँ श्लेष, काकु या व्यंग्य के द्वारा मिथ्या का निश्चय किया जावे।

नोटः—यह अद्भुत रस का पारितोषक है और इसमें अतिशय एवं असम्भव अलंकारों का भी कुछ प्रतिविम्ब सदा रहता है।

इसका विलोम रूप यों हो सकता है और उसे हम एक स्वतन्त्र अलंकार (इसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में) मान सकते हैं:—

सत्याध्यवसति

जहाँ किसी सत्य बात की सत्यता को स्थापित करने के लिये कोई ऐसी सत्य बात कही जावे जिसकी सत्यता सब प्रकार प्रसिद्ध ही हो। इसके अन्य रूप यों भी हो सकते हैं:—

१—जहाँ किसी सत्य बात को मिथ्या करने के लिये कोई मिथ्या बात इस प्रकार कही जावे कि वह सत्य सी लगती हुई पूर्व बात को मिथ्या कर दे।

२—जहाँ किसी मिथ्या बात को सत्य करने के लिये कोई ऐसी सत्य (या मिथ्या) बात कही जावे जिसमें संदेह न हो और जिससे वह सत्य बात मिथ्या सी ही हो जावे।

३—जहाँ किसी मिथ्या बात को (जिसे कोई सत्य सा दिखला रहा है) उसके विरोधी सत्य बात के द्वारा मिथ्या ही सिद्ध किया जावे।

नोटः—श्रीरसाल जी ने "सत्याध्यवसति" की नवीन कल्पना की है, यह उक्त अलंकार का विलोम ही है और एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में माना भी जा सकता है।

—सम्पादक

अर्थान्तरन्यास

जहाँ किसी सामान्य बात का विशेष बात के द्वारा या किसी विशेष बात का किसी सामान्य बात के द्वारा साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास माना जाता है।

नोटः—जब इस प्रकार की संदिग्धावस्था को, कि यह बात यों है या यों नहीं है—अथवा यों ही है—यह निश्चित करते हुये कि यह बात यों ही है—दूर किया जाता है, तभी मानो उस बात का समर्थन किया जा रहा है। इसी के साथ हमें सामान्य और विशेष पदों को भी समझ लेना चाहिये।

सामान्य—वह बात जो साधारणतया सब लोगों से सम्बन्ध रखती है, सामान्य मानी जाती है।

विशेष—जो बात किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु से सम्बन्ध रखती है, वह विशेष मानी जाती है।

अब यह देखना चाहिये कि इन दोनों में से कौन प्रस्तुत है और कौन अप्रस्तुत है। जब सामान्य बात प्रस्तुत होती है तो उसका समर्थन अप्रस्तुत विशेष मे और जब विशेष बात प्रस्तुत होती है तब उसका समर्थन अप्रस्तुत सामान्य से किया जाता है, इन्हीं दोनों में से एक प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रूप में रहती है। इस विचार से इस अलंकार के ४ मुख्य रूप होते हैं :—

१—सामान्य बात का साधर्म्य के द्वारा विशेष से समर्थन
२—सामान्य बात का वैधर्म्य के द्वारा विशेष से समर्थन
३—विशेष बात का साधर्म्य के द्वारा सामान्य से समर्थन
४—विशेष बात का वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से समर्थन

उदाहरणः—१—निज हिय ही के दोष सों, लगै सदोष जहान।
लगत कामलक रोग ते, स्वेतहु पीत समान॥

निषेधात्मकः—जहाँ इसी के साथ निषेध का भी भाव रहेः—

१—बड़े न हूजै गुननि बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥

२—राम बचावत सो बचै, बचै न कोउ बिन नाथ।
नहिं सनाथ घर में बचै, बन मैं बचै अनाथ॥

३—पाप निवारन बान तव, गंग तजी नहिं जाय।
पाप करन मम बान नहिं, जात न कबौं सुभाय॥
४—जो जीवन अपराधमय, गयो कहत कटु बैन।
लखि न पराभव जे भये, धन जन ते सुख पैन॥

श्लेषात्मकः—जहाँ श्लेष की भी पुट इसके साथ लगी हो।
देत सुजीवन सुखद अति, धन्य धन्य घनश्याम।
जीवन दाता लहत है, सुजस सदा अभिराम॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि जहां सामान्य एवं विशेष में से एक ही प्रगट किया जाता है, वहाँ यह अलंकार न होकर अप्रस्तुत प्रशंसा ही माना जाता है। अप्पय जी ने इसे काव्यलिंग से यों पृथक किया है, इसमें तो किसी बात का समर्थन सामान्य-विशेष के सम्बन्ध के साथ साधर्म्य एवं वैधर्म्य से होता है, किन्तु काव्यलिंग में कार्य-कारण के आधार पर ही समर्थन होता है। विश्वनाथ जी का मत है कि काव्यलिंग में निस्पादक-हेतु का प्राधान्य रहता है, किन्तु इसमें समर्थक हेतु का। इसी प्रकार ज्ञापक हेतु का प्राधान्य अनुमानालंकार में होता है। इस अलंकार में सामान्य का विशेष से या विशेष से सामान्य का समर्थन करना ही मुख्य बात है, और यह समर्थन निस्पादक वाक्यार्थ के रूप में होता है।

समर्थन युक्ति-युक्त भी होना चाहिये, यही चमत्कार का हेतु होता है। किसी किसी का मत है कि जहाँ कार्य-कारण भाव के द्वारा समर्थन होता है वहाँ भी अर्थान्तरन्यास कहना चाहिये।

सहसा करिय न काज कछु, विपद्-मूल, अविचार।
बिना बुलाये आव घर, संपति, जहँ सुविचार॥

—का० का०

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि काव्यलिंग में उपदेशात्मक वाक्यसाकांक्ष्य रहता है, किन्तु इसमें निराकांक्षा की ही प्रधानता रहती है। दृष्टान्तालंकार से भी यह अलंकार पूर्णतया पृथक है, इनका अन्तर स्पष्टतः दोनों की परिभाषाओं के देखने से ही ज्ञात हो जाता है।

मम्मट जी के मतानुसार तो इसके उक्त चार ही भेद होते हैं:—

"सामान्यं वा विशेषो वा, तदन्येन समर्थ्यते।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥"

किन्तु विश्वनाथ जी के मतानुसार इसके ८ भेद होते हैं और न केवल सामान्य-विशेष भाव से ही समर्थन किया जाता है वरन् कार्य-कारण भाव से भी समर्थन होता है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है:—

"सामान्यं वा विशेषण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।

अर्थात् उक्त चारों रूपों का जब कार्य-कारण भाव से समर्थन होगा तब प्रत्येक के दो दो रूप होकर सब आठ रूप हो जावेंगे।

अप्पय जी ने इसके भेद-प्रभेद नहीं दिये, केवल एक सूक्ष्म परिभाषा ही यों दी है:—

"उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्य विशेषयोः"

अब हमारे हिन्दी के प्रायः सभी मुख्य आचार्य भी इसे देते हैं:—

केशव ने लिखा है:—

"और जानिये अर्थ जहँ, औरै वस्तु बखानि।
अर्थान्तर को न्यास यह, चारि प्रकारि सु जानि॥"

यह लक्षण विलक्षण ही है और जान पड़ता है कि यह शब्द के ही अर्थ पर आधारित है—द्वितीय पंक्ति इसे स्पष्टतया सूचित भी करती है। आपने इसके चार रूप दिखलाये हैं, किन्तु उनकी परिभाषायें न देकर केवल उदाहरण ही दिये हैं।

भिखारीदास ने काव्य प्रकाश के ही आधार पर इसके लक्षण एवं रूप यों दिये हैं:—

" साधारण कहिये वचन, कछु अवलोकि सुभाय।
ताको पुनि दृढ़ कीजिये, प्रगट विशेषहिं लाय॥
कै विशेष ही दृढ करै, साधारण कहि 'दास'।
साधर्महिं वैधर्म करि, यह अर्थान्तरन्यास॥ "

मतिराम जी ने तो अप्पय जी के ही श्लोक का अनुवाद किया है:—

" कहि विशेष सामान्य पुनि, कहि सामान्य विशेष। "
सो अर्थान्तरन्यास है, बरनत मति उल्लेष॥

भूषण ने, जान पड़ता है, केशव का ही मत माना है:—

आप लिखते हैं:—

" कह्यो अरथ जहँ ही लियो, और अरथ उल्लेख।
सो अर्थान्तरन्यास है, कहि सामान्य विशेष॥ "

हाँ, अंतिम पद में अप्पय के ही मत की सी झलक है।

जसवन्तसिंह ने केवल एक ही रूप दिखलाया है:—

" विशेष से सामान्य दृढ़, तब अर्थान्तर न्यास। "

किन्तु सम्पादक महाशय ने अपनी टिप्पणी में इसके अन्य रूप भी दिखलाये हैं—हमारा यहाँ यही कहना है कि जसवन्तसिंह ने एक ही रूप देकर यही प्रगट किया है कि वे उसी रूप को ठीक और मुख्य मानते हैं, शेष रूपों को वे नहीं मानते। लछिराम जी ने केवल दो ही भेद माने हैं:—

१—कहि प्रथमहिं विशेष पुनि, गुण सामान्य विचारि।
२—पहिले कहि सामान्य को, फेरि विशेष प्रमान ॥

आपने साधर्म्य और वैधर्म्य से होने वाले दो रूपों को नहीं दिया। गोविन्द जी ने भी ऐसा ही लिखा है। रामसिंह ने केवल एक ही रूप (जसवन्तसिंह के समान) यों दिया है :—

"पहिले भाषि विशेष पुनि, कछु कहिये सामान।"

गोकुल ने इसका प्रथम रूप यों दिया है—

"संग बड़ों को पाइ बड़ाई अलप लहै"

दूसरा रूप वही है "कहि विशेष सामान्य बखानै"

ठीक इसी प्रकार दूलह कवि ने भी लिखा है :—

१—"सामान्य विशेष को कथन अर्थान्तर न्यास......
२—गुनवान वस्तु ताके जोगते अलपसोऊ,
लहत बड़ाई कहै द्विविधि घनेरे हैं।"

पद्माकर ने भी इसी भाव के अनुसार लिखा है :—

१—जहँ सामान्य विशेष को, करै समर्थन अर्थ।
द्वै अर्थान्तर न्यास कहि, अर्थहिं उलटि समर्थ ॥
२—अति लघु हू सतसंग ते, लहत उच्च पद बीस।

देव जी ने भी अपनी एक विलक्षण परिभाषा यों दी है :—

"युक्त अरथ दृढ़ करन कों, वाक्य जु कहिये और।

अर्थात् युक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिये जहाँ कोई और वाक्य कहा जावे वहाँ अर्थान्तर न्यास होता है। यद्यपि इसकी सत्ता इसमें अवश्य रहती है परन्तु यह लक्षण बहुत विस्तुत है और दूसरे अलंकारों पर भी चरितार्थ हो सकता है।

उपमात्मकः—जहाँ उपमा के साथ अर्थान्तरन्यास रहता है:—

पाप नसावन बान तव, गंग न ज्यों तजि जाय।
पाप करन त्यों बान मम, जाय न कबौं सुभाय ॥

अर्थान्तरन्यास के अन्य भेद

केशव जी ने इसके भेद यों दिये हैं:—

"युक्त, अयुक्त बखानिये, और अयुक्तायुक्त ।
'केशवदास' विचारिये, चौथो युक्तायुक्त ॥"

अर्थात्:—१—युक्त २—अयुक्त ३—अयुक्त युक्त ४—युक्तायुक्त

१—युक्त—जैसो जहाँ जु बूझिये, तैसो तहाँ तू आनि ।
रूप, शील, गुण युक्त बल, ऐसो युक्त बखानि ॥
२—अयुक्त—जैसो जहाँ न बूझिये, तैसो जहाँ जु होय ।
केशवदास अयुक्त कहि, बरणत है सब कोय ॥
३—युक्तायुक्त—अशुभै शुभ ह्वै जात जहँ, क्यों हूँ केशवदास ।
इहै अयुक्तै युक्त कवि, बरणत बुद्धि विलास ॥
४—युक्तायुक्त—इष्टै बात अनिष्ट जहँ, कैसेहूँ ह्वै जाय ।
सोई युक्तायुक्त कहि, बरणत कवि सुख पाय ॥

भिखारीदास ने ६ रूप दिये हैं:—
१—साधर्म्य से सामान्य की दृढ़ता विशेष से ।
२—माला रूप ।
३—वैधर्म्य से सामान्य की दृढ़ता विशेष से ।
४—मालारूप ।
५—साधर्म्य से विशेष की दृढ़ता सामान्य से ।
६—वैधर्म्य से विशेष की दृढ़ता सामान्य से ।

अन्तिम दो भेदों के माला रूप नहीं दिये, यद्यपि वे हो सकते हैं ।

अन्य आचार्यों के द्वारा इसके रूप हमने प्रथम ही दे दिये हैं ।

नोटः—यहाँ समर्थन कारणवत न होकर उदाहरणवत ही होता है और बिना समर्थन के भी बात पूर्ण ही रहती है, किन्तु काव्यलिंग में समर्थन कारणवत होता है और इसी से बिना उसके एक शंका सी रह जाती है।

ललित

जहाँ कोई प्रस्तुत व्यक्ति (धर्मी) अपनी कथनीय (जिसके कहने की इच्छा या आवश्यकता एवं ज़रूरत हो) बात को न कह कर उस बात के प्रतिविम्ब रूप (छाया—रूप—भावात्मक) का कथन करे, अथवा उस प्रस्तुत धर्मी के कहने योग्य बात (जो बात कहने की हो) न कही जा कर जहाँ उस बात की छाया रूपिणी तत्व वाली बात कही जावे।

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ प्रस्तुत विषय तो एक प्रकार से गौण या प्राकरणिक हो जाता है और उसका प्रतिविम्ब रूप विषय प्रधान हो जाता है। प्रतिविम्ब-रूप अर्थ एक प्रकार से अप्रस्तुत विषय ही सा होता है।

राम-चरन अवलंब बिन, परमारथ की आस।
चाहत वारिद बूँद गहि, 'तुलसी' चढ़न अकास॥

ध्यान रखना चाहिये कि इसमें वाच्यार्थ सर्वदैव प्रस्तुत ही रहता है, हाँ वह प्राकरणिक अवश्य होता है, अप्रस्तुत प्रशंसा की भाँति यहाँ वाच्यार्थ कदापि अप्रस्तुत नहीं होता और न समासोक्ति की भाँति यहाँ प्रस्तुत विषय में अप्रस्तुत की प्रतीति ही होती है वरन् इसमें प्रस्तुत में ही प्रस्तुत का प्रतिविम्ब रहता है। यहाँ तो केवल प्रस्तुत के प्रतिविम्ब रूप का ही पूर्ण प्राधान्य होता है और निदर्शना की भाँति प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों का कथन और

उनमें एक रूपता एवं एकता का आरोपण भी नहीं होता। साथ ही ध्यान रखना चाहिये कि इसमें व्यवहार से व्यवहार का अध्यवसान होता है किन्तु रूपकातिशयोक्ति में पदार्थों का ही अध्यवसान होता है।

इन सब अलंकारों से इसीलिये यह अलंकार स्वतंत्र एवं पृथक कहा गया है। मम्मट और विश्वनाथादि आचार्यों ने इसे अपने ग्रंथों में नहीं दिया, अप्पय जी ने इसे इस प्रकार एक स्वतंत्रालंकार के रूप में ही दिया है:—

"वर्ण्ये स्याद्वर्ण्य वृत्तान्त प्रतिविम्बस्य वर्णनम्॥"

अब हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से केशव, भूषण और देव को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने इसे उक्त प्रकार ही दिया है, इससे ज्ञात होता है कि प्रायः सभी ने अप्पय जी के ही मतानुसार इसे माना है। दास जी ने लिखा है:—

'ललित, कह्यो जो चाहिये, कहिय तासु प्रतिविम्ब।"

जसवन्तसिंह ने भी यों ही दिया है—

"ललित, कह्यो कछु चाहिये, ताही को प्रतिविम्ब।"

मतिराम जी ने कुछ और स्पष्ट करते हुये यों लिखा है:—

"वर्न्य-वाक्य के अर्थ को, जहँ केवल प्रतिविम्ब।
प्रस्तुत में वर्नत, ललित, निर्मल मतिविधु-विम्ब॥

बस इसी लक्षण को अन्य सभी आचार्यों ने भी दिया है, हाँ कुछ शब्दों का हेर फेर अवश्य है, किन्तु लक्षण एवं भाव सर्वथैव यही है।

अब यदि हम विचार करें तो इसके दो रूप हो सकते हैं:—

१—शुद्ध ललितः—जहाँ ललित के साथ अन्य अलंकार न हो।

२—संकीर्ण—जहाँ ललित की पुष्टि अन्य अलंकार से भी की जावे।

इसके अन्य मुख्यरूप यों हो सकते हैं:—

१—सोदाहरणः—उदाहरण के साथ जहाँ ललित हो।
२—सदृष्टान्तः—दृष्टान्त के साथ जहाँ ललित हो।
३—सोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा के साथ जहाँ ललित हो।
४—सलोकोक्तिः—लोकोक्ति के साथ जहाँ ललित हो।
५—सान्योक्ति—अन्योक्ति के साथ जहाँ ललित हो।

विषादन (विषाद)

जहाँ किसी अभीष्ट (वस्तु) की तो प्राप्ति न हो, वरन् उसके विपरीत (विरुद्ध) अर्थ (या वस्तु) का लाभ या प्राप्ति हो।

नोटः—इसमें यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो विरोध का ही तत्व प्रधान सा है, क्योंकि इसमें वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध अर्थ की ही प्राप्ति होती है।

अर्थात् जिस वस्तु के मिलने की इच्छा होती है, वह तो नहीं मिलती, वरन् उसके स्थान पर उसके विपरीत वस्तु की ही प्राप्ति होती हुई कही या दिखलाई जाती है, अर्थात् यहाँ इच्छा के विरुद्ध ही फल मिलता है।

यह भी यहाँ ध्यान में रखना चाहिये कि किसी अभीष्ट अर्थ या फल की इसमें केवल इच्छा ही दिखलाई जाती या रहती है, उस इच्छा की पूर्ति के लिये उपयुक्त साधनों एवं प्रयत्नों के विषय में कुछ भी नहीं कहा जाता किन्तु चूंकि फल अनभीष्ट (इच्छा के विरुद्ध) ही मिलता है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कदाचित साधन एवं प्रयत्न ऐसे ही थे जिनसे इच्छित वस्तु के विरुद्ध वस्तु की ही प्राप्ति हुई है, वे साधन उपयुक्त साधनादि के

विरोधी ही रहे थे, अथवा यह भी हो सकता है कि वे साधनादि सब उपयुक्तोचित ही रहे हों किन्तु किसी अदृष्ट एवं आकस्मिक दैवी कारण से विरुद्ध फल की प्राप्ति हुई हो। विषम अलंकार में तो अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये उद्योगों एवं साधनों का भी प्रदर्शन किया जाता है।

रजनी जैहै, होइहै, प्रात, दिनेश-प्रकाश।
कंज खिले पै छूटि हौं, करि तेहि कियो विनास॥

मम्मट और विश्वनाथ ने तो इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं माना, और इसे कुछ आचार्यों ने विषम के ही अन्तर्गत कहा है, किन्तु अप्पय जी ने इसे स्वतंत्र एवं पृथक अलंकार मान कर उक्त प्रकार से ही लिखा है:—

"इष्यमाण विरुद्धार्थ संप्राप्तिस्तु विषादनम्॥"

हिन्दी में केशव और देव को छोड़ कर प्रायः सभी अन्य मुख्य आचार्यों ने इसे अप्पय जी के ही मतानुसार लिखा है। भिखारीदास, मतिराम, जसवन्तसिंह और लछिराम जी ने इसे विषाद के नाम से लिखा है, शेष सभी आचार्यों ने इसे विषादन ही कहा है। भिखारीदास और जसवन्तसिंह की परिभाषायें अक्षरशः समान हैं (एक ही हैं), कहना न होगा कि किसी एक ने दूसरे से लिया है। दास जी लिखते हैं:—

"सो विषाद, चित-चाह तें, उलटो कछु ह्वै जाइ।"

इसी प्रकार जसवन्तसिंह भी लिखते हैं:—

सो विषाद, चित-चाह ते, उलटो कछु ह्वै जाइ।"

मतिराम जी ने इसे यों दिया है:—

"मन-इच्छित के अर्थ की, प्रापति जहाँ विरुद्ध।

भूषण जी इसे यों लिखते हैं:—

"जहँ चित-चाहे काज ते, उपजत काज विरुद्ध।"

रामसिंह ने इसके लक्षण में यों लिखा है:—

"इच्छित अर्थ जबै नहिं होइ।"

इससे ज्ञात होता है कि कदाचित आपके मतानुसार इच्छित अर्थ (पदार्थ) के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति की आवश्यकता नहीं, केवल इच्छित अर्थ ही को न प्राप्त होना चाहिये, और किसी भी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति हो सकती है, यह आवश्यक नहीं कि अभीष्टार्थ के विरुद्ध फल की ही प्राप्ति हो।

बस यहीं हमें इस अलंकार के सम्बन्ध में एक दूसरी बात मिलती है, नहीं तो अन्य सभी मुख्य आचार्यों, जैसे लछिराम, गोकुल, गोविन्द, दूलह और पद्माकर आदि ने इसका उक्त लक्षण ही दिया है।

इसके कुछ अन्य रूपान्तर यों भी हो सकते हैं :—

१—जहाँ इष्टार्थ के समानार्थ की प्राप्ति हो—

२—जहाँ इष्टार्थ के विषमार्थ की प्राप्ति हो:—

१—जहाँ न्यूनार्थ की प्राप्ति हो—

२—जहाँ अधिक अर्थ की प्राप्ति हो—

अब इस फल-प्राप्ति के हेतु का भी यदि प्रदर्शन कर दिया जावे तो हम उसे हेत्वात्मक विषादन कह सकते हैं:—

३—हेत्वात्मक विषाद:—१—विपरीत प्रयत्नादि से:—

२—विघ्नादि से

३—दैवात्:—

४—सूच्य:—जहाँ हेतु की छिपी हुई सूचना तो हो किन्तु वह स्पष्ट न हो।

५—विशिष्ट:—जहाँ किसी अभिलषणीयार्थ की आशा की पूर्ति अनीप्सित एवं आशा-विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति दिखलाई जावे।

राज देन कहि, दीन वन, मोंहि न सो दुख लेश ।
तुम बिन भरतहिं भूपतहिं, प्रजहिं प्रचंड कलेश ॥

अभीष्टार्थ की इच्छा दो रूप में हो सकती हैः—

१—आत्मोत्पन्नाः—जहाँ किसी पदार्थ की इच्छा आप ही से हो ।

२—हेतूत्पन्नाः—किसी कारण वशात् जहाँ इच्छा उत्पन्न हो ।

फल के भी दो मुख्य भेद हो सकते हैं—

१—व्यक्त्यात्मक—जहाँ फल का प्रभाव उसी व्यक्ति पर पड़े जिसे वह इष्ट हुआ है ।

२—परात्मक—जहाँ फल का प्रभाव अन्य जनों पर पड़े ।

३—द्व्यात्मक—जहाँ दोनों पर फल का प्रभाव पड़े ।

४—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष का भी योग हो ।

५—विषादाभास—जहाँ केवल आभास ही सा दिया गया हो ।

प्रहर्षण

जहाँ किसी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति बिना तदर्थ प्रयत्नादि के करने के ही हो जावे, वहाँ प्रहर्षण माना जाता है ।

नोटः—प्रहर्षण शब्द का अर्थ है :—प्र (उपसर्ग) प्रकर्ष रूप से, बहुत और हर्षण=प्रसन्नता, जहाँ बहुत प्रसन्नता की प्राप्ति हो । वस्तुतः जब बिना कुछ प्रयत्नादि के ही किसी अभीष्टार्थ की प्राप्ति हो जाती है तब महान हर्ष प्राप्त होता है । ध्यान रहे कि यहाँ अभीष्टता या इच्छा के साथ ही इष्टार्थ के लिये पूर्ण उत्कंठा भी होनी चाहिये । एक प्रकार से उत्कंठा का इच्छा के ही अन्दर समावेश है, क्योंकि सब इंद्रियों को सुख देने वाले किसी पदार्थ की प्राप्ति या सिद्धि के लिये तदर्थ पूर्ण संकल्प के साथ की हुई इच्छा

ही उत्कंठा है। इस उत्कंठा के साथ जहाँ किसी पदार्थ की इच्छा बिना किसी प्रयत्न के ही पूर्ण हो वहाँ हर्ष एवं आनन्द प्राप्त ही होता है। अब इसके कई रूप हो सकते हैं, किन्तु मुख्यतया इसके निम्न भेद किये गये हैं:—

१—जहाँ जितनी एवं जैसी उत्कंठा रही हो, वहाँ उतनी ही एवं वैसी ही वस्तु की प्राप्ति हो। यह साम्य भाव है।

"गगन माँहि घनश्याम, सरस सुघर उनये नये।
आये त्यों घनश्याम, जा हित उतकंठा रही॥

२—जहाँ वाँच्छित एवं अभीष्ट वस्तु से अधिक की प्राप्ति हो।

फिरत लोभ कौडीन कौ, छांछ बेंचिबे काम।
गोप-ललिन, पायोकठिन, महा इन्द्र मणि श्याम॥

नोटः—ध्यान रहे कि इस रूप के दो भेद हो सकते हैं:—

१—अप्रयत्नात्मक—जहाँ फल की अधिकता के लिये कुछ विशेष प्रयत्न न किया गया हो।

२—सप्रयत्नात्मकः—जहाँ कुछ थोड़े ही प्रयत्न से इष्टार्थ से अधिक की प्राप्ति हो।

३—जहाँ वाँच्छित फल से कुछ ही न्यून फल की प्राप्ति हो, और वह बिना प्रयत्न के ही हो।

इसमें पूर्ण आन्नद तो नहीं होता, किन्तु कुछ दुःख भी नहीं होता, वरन् कुछ सुखद संतोष सा रहता है, अतः हम इस रूप को भी एक विशेष रूप मान सकते हैं।

३—जहाँ उपाय करते हुए एवं उसकी खोज करते हुए ही (बिना पूर्णोपाय के हुए ही) अभीष्टार्थ की प्राप्ति हो जावे।

पाती लिखी अपने कर सों दई त्यों 'रघुनाथ' बुलाय कै धावन।
और कह्यो मुख पाठ यों वेगि, कृपा करि आइये आवत सावन॥
भाँति अनेकन के सनमान कै, दै बकसीस पठायो बुलावन।

पायो न पौरि लौं जान कहा कहौं, बीचहि आय गये मनभावन ॥

अप्पय जी ने ही विशेष रूप से इसे एक स्वतंत्र अलंकार मान कर उक्त लक्षणों एवं भेदों के साथ इसे पृथक दिया है, किन्तु मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार माना ही नहीं। कुछ आचार्य तो इसे समाधि नामी अलंकार का ही एक विशिष्ट भेद या रूप मानते हैं।

हमारे हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से केशव और देव जी को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी आचार्य इसे अप्पय जी के ही मतानुसार लिखते हैं। भिखारीदास ने लिखा हैः—

१—"जतन घनी करि थापिये, बाँछित यों ही साज।
२—बाँछित थोरो, लाभ बहु, दैव-योग ते आज॥
३—जतन ढूंढते वस्तु को, वस्तुहि आवै हाथ।
त्रिविधि प्रहर्षन कहत हैं, लखि लखि कविता-गाथ॥"

अब देखिये अप्पय जी के भेद और लक्षणः—

१—"उत्कंठितार्थ संसिद्धिः बिना यत्नं प्रहर्षणम्।
२—वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्॥
३—यत्नादुपाय सिद्ध्यर्थात्साक्षाल्लाभः फलस्य च।"

मतिराम जी ने भी ये ही भेद एवं लक्षण दिये हैं, ऐसा जान पड़ता है कि आपने अक्षरशः ही अप्पय जी के श्लोकों का अनुवाद किया हैः—

१—"जहँ उत्कंठित अर्थ की, बिन उपाय ही सिद्धि।
२—जहँ मन-इच्छित अर्थ ते, अधिक सिद्धि मतिराम।
३—जहाँ अर्थ की सिद्धि को, जतनहिं ते फल होय॥"

यहाँ तीसरे भेद में मतिराम ने अपना मत स्वतंत्र दिया है, और आपके विचार से जहाँ केवल यत्न से ही अर्थ-सिद्धि का फल

प्राप्त हो वहाँ तृतीय प्रहर्षण मानना चाहिये, किन्तु हम देख चुके हैं कि जहाँ उपाय के खोजते ही फल प्राप्त हो जावे वहाँ तृतीय रूप माना जाता है, अतः स्पष्ट है कि मतिराम जी ने पूर्णतया अप्पय जी का ही अनुकरण किया है।

भूषण जी ने केवल दूसरा ही रूप दिया है और शेष दो भेदों को सर्वथा छोड़ ही दिया है:—

"जहँ मन-वाँछित अरथ ते, प्रापति कछु अधिकाय।"

जसवन्तसिंह ने भी ३ ही भेद उक्त रूप में दिये हैं:—

१—तीन प्रहर्षन, जतन बिनु, वाँछित फल जो होइ।

२—बाँछित हू ते अधिक फल, श्रम-बिनु लहिये सोइ।

३—साधक जाके जतन कौं, वस्तु चढ़ी कर सोइ॥

लछिराम ने केवल एक साधारण एवं व्यापक परिभाषा ही दे दी है और अन्य भेदों के लक्षण न देकर उनको बस उदाहरणों से समझा ही दिया है।

"जासु जतन को सोध मन, वस्तु मिलै अभिराम।
बरनि प्रहर्षन तीनि विधि, कोविद परमा धाम॥"

शेष सभी आचार्यों ने (गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकरादि ने) बस उक्त तीन रूपों के साथ अप्पय जी के ही मतानुसार इसे लिखा है। किसी ने भी कुछ विशेषता या विचित्रता, जो यहाँ उल्लेखनीय हो, नहीं दिखलाई।

इच्छा और फल-प्राप्ति के समय को देखते हुए इसके निम्न भेद हो सकते हैं:—

१—तात्कालिकः—इधर तो इच्छा या उत्कंठा हुई और उधर वस्तु प्राप्त हो गई।

२—समयान्तरात्मक—जहाँ इच्छा के उपरान्त कुछ समय बीतने पर इष्ट फल की प्राप्ति हो।

क—अल्पात्मक—जहाँ समय अल्प ही लगे।

ख—दीर्घ या विलंबात्मक—जहाँ कुछ देर लगे।

प्रयत्नादि में विचार से ये भेद होंगे।

१—अप्रयत्ना—प्रयत्न के बिना ही फल की प्राप्ति हो।

२—प्रयत्न-विचार—जहाँ प्रयत्न की खोज ही करने में फल की प्राप्ति हो जावे।

३—स्वल्पप्रयत्ना—केवल तनिक प्रयत्न से ही जहाँ इष्टार्थ की प्राप्ति हो।

४—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष की भी पुट हो।

५—प्रहर्षणाभास—जहाँ प्रहर्षण के भाव का आभास ही मात्र हो।

अवज्ञा

जहाँ एक व्यक्ति (वस्तु या पदार्थ) के गुण या दोष से किसी अन्य व्यक्ति (वस्तु आदि) में गुण या दोष का संचार या समावेश न हो, वहाँ अवज्ञालंकार माना जाता है।

कोऊ सुमति न पाव ही, मरे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होय सुगंध॥

इसके दो मुख्य रूप यों होते हैं:—

१—गुणात्मक—जहाँ किसी के गुण से किसी दूसरे में गुण न होवे।

करि वेदान्त-विचार हू, शठहिं विराग न होय।
रंच न मृदु मैनाक भो, निशिदिन जल-निधि सोय॥

२—दोषात्मक—जहाँ किसी के दोष से किसी दूसरे में दोष न आया हो।

चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥

नोटः—ऐसा जान पड़ता है कि यह अलंकार सुसंग या कुसंग अथवा सम्पर्क साहचर्य एवं सहयोग के प्रभाव के आधार पर स्थिर होता हुआ उससे कुछ विशेषता रखता है, 'संगति से गुण या दोष आते जाते हैं, इस सिद्धान्त के विलोम पक्ष को ही यह प्रतिपादित करता है और इसीसे इसमें चमत्कार आता है। इस विचार से इसमें विरोध, विचित्रता एवं आश्चर्यात्मक-वैलक्षण्य ही मुख्य एवं मूल आधार के रूप में होता है। यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यह उल्लास का प्रतिद्वन्द्वी या विलोम रूप ही है।

जहाँ संगति के प्रभाव से गुण या दोष का उदय हो वहाँ स्वभावोक्ति के आधार पर स्वाभाविक एवं लोक-प्रसिद्ध बात का स्थान होता है और यही स्वाभाविकता उसको चमत्कृत एवं अलंकृत करती है।

प्रकृति मिले मिलि जात, जाहिर सकल जहान में।
चंचल चित ह्वै जात, इन चंचल अखियान में ॥

उक्त भेदों के साथ ही साथ निम्न रूपों पर भी विचार करना चाहिये।

१—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष के साथ अवज्ञा रक्खी जावे।

२—अन्योक्तिगर्भाः—जहाँ अन्योक्ति के साथ अवज्ञा हो।

३—औपम्यात्मक—उपमा के साथ जहाँ अवज्ञा हो—

४—उत्प्रेक्षागता—जहाँ उत्प्रेक्षा भी अवज्ञा के साथ हो।

५—विशिष्ट—जहाँ एक ही वस्तु के गुणों का उसी वस्तु के अन्य गुणों (दुर्गुणों) में तथा उसके दोषों का उसी के गुणों में कुछ भी प्रभाव न पड़े।

अनल भाल-तल, गल गरल, लसत सीस कटि व्याल।
हरत न हर-तन-दुति तदपि, नहिं भव-दारुण ज्वाल ॥

नोटः—इसके द्वारा अनेक नीति विषयक कौतुक या कुतूहल किये गये हैं।

मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे नहीं लिखा, किन्तु अप्पय जी ने इसे उल्लेख नामी अलंकार के विपक्षी रूप में यों दिया है।

"ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा"

किन्तु उद्योतकार ने इसे विशेषोक्ति का ही एक विशेष भेद कहा है। हिन्दी के केवल ३ ही आचार्यों ने इसे नहीं लिखा, वे हैं केशवदास, गोकुल और देव जी। शेष प्रायः सभी मुख्य आचार्यों ने इसे स्वतंत्रालंकार के रूप में लिखा है। दास जी ने इसके ४ भेद यों दिये हैंः—

गुणावज्ञा—१—औरै के गुन और को, गुनन अवज्ञा पाइ।
दोषावज्ञा—२—औरहि दोष न और के, दोष अवज्ञा सोइ॥
फलावज्ञा—३—जहाँ दोष ते गुन नहीं, यहौ अवज्ञा दास।
फलावज्ञा—४—जहँ गुन ते दोषौ नहीं, यहौ अवज्ञा वेस॥

मतिराम ने इसे साधारणतया यों ही दिया हैः—

औरै के गुन-दोष ते, औरै कै गुन-दोष।
जहँ न, अवज्ञा तहँ कहत, कविजन बुद्धि अदोष॥

टीकाकार गुलाब कवि अपने वृहद्‌बनिता भूषण में लिखते हैं :—

"प्रिय बिनती अपराध लखि, रीझी खिझी न सोय।
अवज्ञा सुगुन सदोष करि, जहँ गुन-दोष न होय॥"

भूषण ने भी एक व्यापक परिभाषा इसकी यों दे दी है :—

'औरै के गुन-दोष ते, होत न जहँ गुन दोष।

यों ही जसवन्तसिंह भी लिखते हैं, :—

"होत अवज्ञा और के, लगै न गुन अरु दोस ॥"

लछिराम जी ने केवल वे दो रूप ही दिये हैं जिन्हें दास ने गुणावज्ञा एवं दोषावज्ञा के नाम से लिखा है:—

१—जहाँ और के गुनहिं सों, गुन न, अवज्ञा नाम ।
और दोष ते दोष नहिं, लगै द्विविध सुखधाम ॥

शेष सभी आचार्यों ने 'और के गुण-दोष से और में गुण-दोष के न आने को' ही प्रधान लक्षण के रूप में दिया है और इसके अन्य भेद या रूपान्तर नहीं दिये। गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकरादि अप्पय जी के ही श्लोक का अनुवाद कर दिया है।

अवज्ञा के कुछ मुख्य रूप यों होते हैं।

१—गुण से गुण होना

२—गुण से दोष होना

३—गुण का प्रभाव ही न पड़ना

४—गुण या दोष का ही प्राप्त होना—
पियत सदा पय, काढ़ि जल, संतत संत मराल ।

५—दोषों का ही प्राप्त होना:—
पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जोंक ।

६—दोष से गुण होना:—

७—दोष से दोष होना:—

८—संकीर्ण – जहाँ अवज्ञा के साथ उसे पुष्ट करने के लिये दृष्टान्त, उदाहरण एवं श्लेषादि कोई अन्य अलंकार भी रक्खा गया हो।

९—प्रश्नात्मक—जहाँ अस्वीकार उत्तर सूचक प्रश्न के साथ अवज्ञा हो।

१०—अवज्ञाभास—जहाँ अवज्ञा के भाव का आभास मात्र हो।

उल्लास

जहाँ किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण एवं दोष से किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु को गुण या दोष प्राप्त होता हुआ दिखलाया जाता है, वहाँ उल्लासालंकार माना जाता है।

नोटः—यह अलंकार सम्पर्क-प्रभाव का प्रदर्शक ज्ञात होता है और उक्त अवज्ञा नामी अलंकार का विलोम है। अवज्ञा में यह दिखलाया जाता है कि किसी के गुण एवं दोष का अन्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, और सम्पर्क-प्रभाव से गुण या दोष की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु इस अलंकार में ठीक इसका उलटा ही दिखलाया जाता है, और "संगति ते गुण ऊपजै, संगति ते गुन जाय" के सिद्धान्त को प्राधान्य एवं बल दिया जाता है। उल्लास शब्द का यहाँ भाव है 'प्रबल सम्बन्ध"।

यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो इस अलंकार में कुछ अंशों तक में तो अतिशय या अत्युक्ति की और कुछ अंशों में अन्योक्ति की भी मात्रायें रहती हैं, यदपि ये सर्वथा बहुत ही गहराई पर और छिपे हुये ढंग में रहती हैं और साथ ही गौणता भी लिये रहती हैं।

इसके मुख्यतया ४ भेद या रूप माने गये हैं।

१—गुण से गुणोत्पत्तिः—

साँचोई जग कहत है, सत्संगति गुन-खान।
दई मुरलिकहिं माधुरी, हरि के सुधाधरान॥ —र० मं०

२—दोष से दोषोत्पत्तिः—

तनिकहु करत न उर दया, घालत पैने सैन।
वक्र भृकुटि के संग में, वक्र भये हैं नैन॥ —र० मं०

३—गुण से दोषोत्पत्तिः—

राम राम सुगना रटत, पढ़त सिखाये छंद।
या ही गुण के दोष तें, रहत पींजरे-बंद॥ —र० मं०

४—दोष से गुणोत्पत्तिः—

सरसिज लगत सुहावनो, यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हू, लसत कलाधर अंक॥ —श० ना०

नोटः—विश्वनाथ और मम्मट जी ने इसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया, पंडितराज जगन्नाथ ने इसे अपने रसगंगाधर में काव्यलिंग नामी अलंकार का एक विशिष्ट भेद सा दिखलाया है। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार (उद्योतकार) ने इसे विषमालंकार के ही अंतर्गत माना है।

अप्पय जी के मतानुसार यह एक स्वतंत्र अलंकार है और उन्होंने अपने चंद्रालोक में (एवं कुवलयानंदकार ने भी उन्हीं के समान) इसे स्वतंत्र अलंकार मानते हुए यों दिया हैः—

"एकस्य गुण-दोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि"।

अब हिन्दी के मुख्य आचार्यों में से देव, और केशव को छोड़ कर शेष सभी प्रधान आचार्य इसे उक्त अप्पय जी के मतानुसार ही लिखते हैं, जान पड़ता है कि प्रायः सभी ने अप्पय जी के ही श्लोक का अनुवाद सा किया है।

भिखारीदास ने दो स्थानों पर इसकी परिभाषा यों दी हैः—

१—गुन-औगुन कछु और तें, और धरै उल्लास।
२—औरै के गुन-दोष तें, औरै के गुन-दोष॥

दास जी ने उक्त दूसरे दोहे को मानो मतिराम जी से ही ज्यों का त्यों ले लिया है। मतिराम जी ने 'जे पंडित' लिखा है और दास ने 'कवि पंडित' बस इतना ही अन्तर दोनों में है नहीं तो शेष सब पद या शब्द एक ही हैं। दास जी ने इस अलंकार के निम्न भेद दिखाये हैंः—

१—"औरै" के गुन और के, गुन पहिलो उल्लास।

२—"औरै के गुन और के, दोष उलासै होत।

३—उल्लासै जहँ और के, दोष और को दोष।

४—दोष और के और को, गुन उल्लासै लेखि।"

इनके बाद आपने इसका एक संकर रूप भी दिया है :—

"अप्रस्तुत परसंस जहं, अरु अर्थान्तिरन्यास।
तहाँ होत अनचाहेहूँ, विविध भाँति उल्लास॥"

अर्थात् जहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा और अर्थान्तरन्यास का संकर रूप होता है वहाँ आपही से आप अनेक प्रकार से उल्लास के रूप आ जाते हैं, अथवा उन दोनों अलंकारों के मिलाने से उल्लास की भी उत्पत्ति हो जाती है।

भूषण ने भी इसे साधारणतया यों लिखा है:—

"एकहि के गुन-दोष ते, और को गुन-दोष।"

औरै जसवन्तसिंह ने लिखा है—"गुन-औगुन जब एकते औरै लहै उल्लास।"

मतिराम और भूषण ने इसके चार रूप (जिन्हें हम ऊपर दिखला चुके हैं, और जो दास के अनुसार प्रथम चार रूप हैं) दिये हैं, जसवन्तसिंह ने केवल एक ही रूप (गुण से गुणोत्पत्ति) दिया है किन्तु टीकाकार ने शेष रूप दिखला दिये हैं, और इन्हें दो भेदों में यों विभक्त किया है:—

१—सम—क—गुण से गुणोत्पत्ति
ख—दोष से दोषोत्पत्ति

२—विषम—क—गुण से दोषोत्पत्ति
ख—दोष से गुणोत्पत्ति।

लछिराम, गोविन्द, गोकुल, रामसिंह, दूलह और पद्माकर आदि प्रमुख आचार्यों ने भी इसके उक्त चार रूप उसी प्रकार दिखलाये हैं जैसे हमने और भिखारीदास ने दिखलाये हैं।

इसके निम्न रूप और भी यों हो सकते हैं:—

१—श्लिष्ट—जहाँ इसमें श्लेष की भी पुट हो।

२—अन्योक्तिगर्भा—जहाँ अन्योक्ति भी दी गई हो।

३—दृष्टान्तात्मक—जहाँ दृष्टान्त से उल्लास को पुष्ट किया गया हो।

४—उदाहरणात्मक—जहाँ उदाहरण से उल्लास को पुष्ट किया गया हो।

५—माला—जहाँ गुणों एवं दोषों की माला हो।

६—विरुद्धात्मक—जहाँ एक का गुण दूसरे में दोष और दूसरे का दोष किसी अन्य में गुण हो जावे।

"स्वाती को पीयूरस, विषधर में विष होय।

क—एक ही गुण जहाँ भिन्न भिन्न व्यक्तियों में कहीं तो गुण और कहीं दोष हो जावे।

ख—कई वस्तुओं के गुणों या दोषों से किसी एक में गुण एवं दोष आ जावें।

विशिष्ट रूप—जहाँ स्थान, समय एवं पात्र के अनुसार गुण एवं दोष, दोष एवं गुण बन जावें। गुणाः गुणज्ञेषुगुणाः भवन्ति—

रूपान्तर—जहाँ अपने अपने प्राबल्य एवं प्राधान्य से गुण और दोष, दोष एवं गुणों में रूपान्तरित हो जावें।

उल्लासाभास—जहाँ उल्लास का केवल आभास ही हो।

नोटः—उल्लास अलंकार असंगति के प्रथम रूप से कुछ मिलता है, दोनों में भेद यह है कि इसमें स्वभाव एवं गुण-दोष-सम्बन्ध प्रधान रहता है किन्तु उसमें कार्य-कारण-सम्बन्ध ही पर ज़ोर दिया जाता है।—सम्पादक

तिरस्कार

जहाँ किसी गुणयुक्त विषय या वस्तु में किसी विशेष प्रकार के दोष की सत्ता देखकर उसका तिरस्कार किया जाता है, वहाँ, तिरस्कार अलंकार होता है।

नोट :—तिरस्कार शब्द का अर्थ है घृणा के साथ निरादर करना और उसे दूर रखना या उससे दूर रहना। सदोष एवं नीच वस्तु से तो स्वभावतः ही घृणा उत्पन्न होती है और लोग उसका तिस्कार करते ही हैं, किन्तु जब किसी गुणयुक्त वस्तु में भी किसी विशेष दोष की कल्पना की जाती है और वह सत्य होती है तो उस वस्तु से भी घृणा या तिरस्कार होने लगता है। ध्यान रहना चाहिये कि किसी गुणयुक्त पदार्थ में जिस दोष की कल्पना की जावे वह सम्भव और सत्य ही सा जँचता हो, साथ ही वह कवि-प्रतिभोत्पन्न एवं काल्पनिक भी हो, उसमें चमत्कार एवं चातुर्य भी हो, तभी वह काव्य में अलंकार के रूप से रक्खा जा सकता है, अन्यथा नहीं। यह भी एक विशेष विचारणीय बात है कि किसी गुणयुक्त वस्तु को तिरस्कृत करने के लिये उसमें किसी बड़े विशेष दोष की ही सत्ता दिखलाना चाहिये।

रंग भलो, गुनहू भलो, भलो कनक को मान।
मदकारी है दोष यह, कहत 'रसाल' प्रमान॥ र० मं०

इसे पंडितराज जगन्नाथ जी ने अपने रसगंगाधर में अनुज्ञा अलंकार का प्रतिद्वंदी माना है। हमारे हिन्दी के प्रमुख आचार्यों ने इसे नहीं लिखा। इसके मुख्य भेद यों किये जा सकते हैं :—

समादर

जहाँ किसी दोषपूर्ण वस्तु में किसी ऐसे विशेष गुण की सत्ता एवं महत्ता दिखलाई जावे कि उससे उस वस्तु के दोष छिप या

दब जावें और उसके प्रति आदर का भाव जागृत हो उठे, वहीं तिरस्कार का विलोम रूप समादर नाम से एक दूसरा अलंकार माना जा सकता है।

नोटः—इसी का एक माला रूप भी, किसी सदोष वस्तु में कई गुणों को दिखाकर उसका आदर करने से हो सकता है।

२—मालाः—जहाँ किसी अच्छी वस्तु में अनेक दोष दिखला कर उसका तिरस्कार किया गया हो।

कोक-शोकप्रद, पंकज-द्रोही। अवगुण बहुत चन्द्रमा तोही॥

३—अन्योक्ति गर्भाः—अन्योक्ति के साथ जहाँ तिरस्कार अलंकार हो।

रूप रुचिर अरु वर्ण वर, सुन्दर सुखद सुवास।
चम्पा सुमन न सरस मन, आवत मधुप न पास॥

४—श्लिष्ट—जहाँ श्लेष के साथ तिरस्कार अलंकार हो। यथा उक्त उदाहरण में।

५—संकीर्ण—जहाँ तिरस्कार का भाव किसी अन्य अलंकार से पुष्ट हो।

६—अव्यक्त—गुणयुक्त वस्तु में दोष तथा उसके प्रति तिरस्कार का भाव स्पष्ट रूप से शब्दों के द्वारा जहाँ व्यक्त न हों, वरन् वह केवल सूचित ही किया गया हो।

७—सुव्यक्ताः—जहाँ दोष एवं तिरस्कार के भाव शब्दों के द्वारा सर्वथा व्यक्त रहते हैं।

तिरस्काराभास—जहाँ केवल कहने ही के लिये तिरस्कार का आभास सा दिखलाया जावे, वास्तव में तिरस्कार न हो।

अनुज्ञा

जहाँ किसी दोषपूर्ण वस्तु की भी, उसमें किसी विशेष या उत्कृष्ट गुण को जान या अनुमान कर, इच्छा की जाती है वहाँ अनुज्ञा अलंकार होता है।

कहत द्रौपदी हे हरे !, देहु एक बरदान।
रहै रंच दुख, जाहि ते, रहै रावरो ध्यान॥ —र० मं०

अप्पय जी ने तो इसे एक स्वतन्त्र अलंकार माना है, किन्तु अन्य आचार्यों ने इसे विशेष नामी अलंकार का ही एक विशिष्ट रूप कह कर लिखा है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसे अपने ग्रंथों में लिखा ही नहीं। हमारे हिन्दी के प्रधान आचार्यों में से केशव और देव ने ही इसे नहीं लिखा, शेष सभी आचार्यों ने इसे अपने अपने ग्रन्थों में अप्पय की भाँति एक स्वतन्त्र स्थान दिया है। मतिराम जी ने लिखा है :—

"करत दोष की चाह जहँ, ताही में गुन देखि।"

किन्तु इससे तो यही अर्थ निकलता है कि जहाँ किसी दोष की, उसमें किसी गुण को देखते हुए, इच्छा की जावे—न कि किसी सदोष पदार्थ की, उसमें गुणवत्ता देखकर चाह की जावे—जैसा ऊपर कहा गया है, वहाँ अनुज्ञा होता है। मतिराम जी ने अक्षरशः अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद किया है :—

दोषस्याभ्यर्थनाऽनुज्ञा तत्रैव गुण-दर्शनात्"

भिखारीदास ने इसका लक्षण और भी अधिक विचित्र दिया है :—" दोषहु में गुन देखिये, ताहि अनुज्ञा नाम।"—इससे बस यही भाव निकलता है कि जहाँ किसी दोष में ही (न कि दोषयुक्त वस्तु में) गुण की सत्ता देखी जावे, वहाँ यह अलंकार होता है न कि जहाँ किसी दोष की, उसमें गुणवत्ता को देखकर, इच्छा की

जावे। इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि उक्त दोनों में कुछ अन्तर है।

भूषण ने भी मतिराम के ही समान लिखा है :—

" जहाँ सरस गुन देखि कै, करै दोष की हौंस। "

और जसवन्तसिंह ने कुछ कुछ तो भिखारीदास के समान लिखा है, किन्तु कुछ कुछ मौलिक विशेषता भी रक्खी है :—

" होत अनुज्ञा दोष को, जो लीजे गुन मानि। "

यहाँ आपके मतानुसार दोष को ही गुण मान लिया जाता है, इससे भी इच्छा या हौंस आदि का भाव नहीं प्रगट होता।

लछिराम ने लिखा है :—

" दोषहि में गुन लहन की, दोष-कामना धारि। "

गोकुल कवि ने इस अलंकार को लिखा ही नहीं, जैसा केशव और देव ने भी किया है। गोविन्द कवि, दूलह और पद्माकर ने इसके लक्षण मतिराम जी के ही मतानुसार दिये हैं, हाँ रामसिंह ने इसका लक्षण राजा जसवन्तसिंह के ही मतानुसार लिखा है।

नोटः—ध्यान रहे कि किसी दोष में जो गुण देखा जावे वह कवि-प्रतिभोत्पन्न चमत्कार-चातुर्यपूर्ण तथा काल्पनिक ही हो, अन्यथा इसमें अलंकारिता ही न आ सकेगी।

अनुज्ञा के अन्य मुख्य रूप यों भी हो सकते हैं।

माला—जहाँ किसी सदोष वस्तु में कई विशिष्ट गुणों की कल्पना की जावे, अथवा जहाँ कई सदोष पदार्थ अपने एक विशेष उत्कृष्ट गुण के कारण अभीष्ट हों।

श्लेषात्मक—जहाँ अनुज्ञा में श्लेष की भी पुट हो।

अन्योक्तिगर्भा—जहाँ अनुज्ञा के साथ अन्योक्ति भी दी गई हो।

जहाँ किसी उत्तम वस्तु में भी कवि अपनी प्रतिभा से दोष दिखला कर उसमें फिर कोई विशेष गुण दिखलावे और इससे उसके प्रति इच्छा या प्रीति प्रकट करावे—वहाँ भी यही अलंकार मानना चाहिये।

यदि इसी के साथ किसी अन्य अलंकार को रखकर इसकी पुष्टि की जावे तो हम उसे संकीर्ण अनुज्ञा कह सकते हैं।

नोटः—अनुज्ञा का अर्थ है जो अंगीकार करने के लायक न हो उसे भी अंगीकृत करना।

"रामहिं चितै सुरेश सुजाना। गौतम-शाप परम भल माना॥

उक्त उदाहरण में गौतम-शाप को अच्छा मानने का हेतु रूपी गुण स्पष्ट नहीं दिखलाया गया, अतः इसे हम लुप्त गुणानुज्ञा कह सकते हैं, और जहाँ गुणरूपी हेतु स्पष्ट रूप से दिया जाता है उसे हम शुद्धानुज्ञा कहते हैं।

जहाँ सदोष वस्तु में किसी विशिष्ट गुण या बात (हित) को देख कर भी उसे यथार्थ में न अंगीकृत किया जाय, वरन् उसका अनुकरण किया जावे, वहाँ अनुज्ञाभास ही कहना चाहिये।

"कूबर ही पै लगै मन जो तब कम्मर टोरि कै हाँटी बँधावैं।

नोटः—अनुज्ञा का मूल भाव हैः—स्वीकार न करने योग्य वस्तु या बात को भी स्वीकार करना।

—सम्पादक

रत्नावली

जिन बातों, विषयों या वस्तुओं को परम्परा एवं न्याय (तर्क) के आधार पर एक ही साथ एक विशेष क्रम के अनुसार रखना प्रसिद्ध है, उन्हें उसी क्रम से प्रकरणानुसार रखने में रत्नावली अलंकार की सत्ता मानी जाती है।

यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो इस अलंकार का आधार है अर्थों एवं पदों में यथाक्रमता रखना। इस प्रकार इसे हम क्रम-चातुर्य या चमत्कारमूलक अलंकार कह सकते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि यदि इसमें कवि-प्रतिभोत्पन्न कल्पना एवं कला का चातुर्य-चमत्कार न होगा तो यह अलंकारिता से शून्य होकर कुछ भी न रह सकेगा।

श्याम-प्रभा इक थाप, जुग उर जनि तिय के कियो।
चारु पंचसर-छाप, सात कुंभ के कुंभ पर॥ —का० नि०

मम्मट और विश्वनाथ आदि ने इसे अपने ग्रन्थों में नहीं दिया, वे इसे अलंकार ही नहीं मानते, किन्तु अप्पय जी ने इसे यों लिखा है और एक स्वतन्त्र अलंकार माना है:—

"क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावली विदुः।"

अर्थात् प्रकृतार्थों का यथाक्रम न्यास ही रत्नावली का मुख्य लक्षण है।

हमारे आचार्यों में से केशव, देव और भूषण को छोड़कर शेष सभी प्रमुख आचार्य इसे अप्पय जी के ही मतानुसार लिखते हैं। मतिराम ने इसका लक्षण ठीक अप्पय जी के ही अनुसार यों दिया है:—

"प्रस्तुत अर्थनि को जहाँ, क्रम तें थापन होय।"

जसवन्तसिंह ने भी इसी प्रकार इसे लिखा है:—

"रत्नावलि प्रस्तुत अरथ, क्रम तें औरहु नाम।"

भिखारीदास ने इसका लक्षण यों दिया है:—

"क्रमी वस्तु गनि विदित जो, रचि राख्यो करतार।
सो क्रम अपने काव्य में, रत्नावली प्रकार॥"

इससे यह विशेषता झलकती है कि प्रकृति के अनुसार ही वस्तुओं या पदार्थों को काव्य में यथाक्रम रखना (उनका वर्णन करना) इस अलंकार का विशेष गुण है। यहाँ आपने नैसर्गिक वस्तु-क्रम को प्रधान माना है, न कि लोक-प्रसिद्ध वस्तुओं या विषयों (अर्थों या भावादिकों) की यथाक्रम व्यवस्था को, जैसा और आचार्यों का मत है।

शेष सभी प्रमुख आचार्य, जैसे लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर आदि इसे अप्पय जी के ही मतानुसार, उनके श्लोक का अनुवाद ही सा करते हुए, लिखते हैं किसी ने भी अपना कुछ विशेष मत इसके सम्बन्ध में नहीं प्रगट किया।

नोटः—हम इसे दो रूपों में यों भी रख सकते हैं :—

१—वर्ण्य वस्तुओं के स्वाभाविक क्रमानुसार—

२—कथनीय भावों या अर्थों की यथाक्रमता के आधार पर। इनके अतिरिक्त हम इसके ये रूप और रच सकते हैं :—

१—वर्ण्य वस्तुओं के लोक-प्रसिद्ध (लौकिक) क्रम के अनुसार। इस दशा में लोक-प्रसिद्ध (प्रचलित) परंपरागत यथाक्रमता एवं व्यवस्था का ही प्राधान्य रहता है।

२—कथनीय भावों एवं अर्थों के लौकिक कथन-क्रम या व्यवस्था के अनुसार।

इस दशा में जिस प्रकार तर्क एवं न्याय के आधार पर लोक में भावों या अर्थों को परम्परा के अनुसार शिष्ट लोग रखते हैं उसी क्रम या व्यवस्था की प्रधानता रहती है, न कि भावों या अर्थों के उस स्वाभाविक क्रम की, जिस क्रम से वे स्वतः हृदय में उठते हैं।

इसमें तर्क शास्त्र में दिये हुए, एवं लोक प्रसिद्ध (प्रचलित) शिष्ट जनों से निर्मित क्रम या व्यवस्था का ही प्राधान्य अनिवार्य या आवश्यक होता है। यह भी इसमें आवश्यक होता है कि कथित वस्तुओं का स्वाभाविक क्रम अभंग रूप में ही चलता रहे।

लेश

जहाँ किसी वस्तु के एक छोटे से हिस्से में, सम्पूर्ण वस्तु में गुणों के होते हुये भी, दोष और किसी दोषपूर्ण वस्तु के किसी एक छोटे से भाग में गुण की कल्पना की जावे, वहाँ लेश अलंकार माना जाता है।

कहीं कहीं किसी गुण में कुछ दोष और किसी दोष में कुछ गुण की भी कल्पना होने या किसी गुण को दोष और किसी दोष को गुण मान लेने पर भी लेश अलंकार मान लिया जाता है।

चूँकि लेश शब्द का अर्थ है, थोड़ा अंश या भाग, इसलिये प्रथम दी हुई परिभाषा ही विशेष रूप से मानने के योग्य है।

इसके दो मुख्य रूप होते हैं :—

१—दोष में गुण की कल्पना करनाः—

पर घर पालित दीन पिक, कारी तथा कुरूप।
पै 'रसाल' मनमोहनी, रसना मधुर अनूप॥ —र० मं०

२—गुण में दोष की कल्पनाः—

अन्धकार सब दूरि करि, दीपक करहु प्रकाश।
सहज सनेही ह्वै करहु, प्रिय पतंग को नाश॥ —र० मं०

मम्मट और विश्वनाथ ने इस अलंकार को अपने ग्रन्थों में स्थान ही नहीं दिया। वे इसे एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में नहीं

मानते। अप्पय जी ने इसे यों दिया है "लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुण-दोषत्वकल्पनम्" और इसके दो रूप दिखलाये हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे व्याजस्तुति (एवं व्याज निन्दा) से पृथक् करने के लिये लिखा है कि इसमें जिस अर्थ की प्रथम प्रतीति होती है और जो प्रथम कहा या दिखलाया जाकर स्पष्टतया भासित होता है उसके विपरीत अर्थ की प्रधानता कदापि नहीं होती, और कवि के ही प्रथम प्रदर्शित अर्थ या भाव के विरुद्ध अन्य अर्थ या भाव के ही दिखलाने का तात्पर्य होता है, किन्तु इसके विपरीत व्याजस्तुति (एवं व्याजनिन्दा) में प्रथम प्रदर्शित अर्थ या भाव के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति के उत्पन्न कराने का ही तात्पर्य प्रधान रहता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा और इस अलंकार में जो अन्तर है वह दोनों की परिभाषाओं के ही देखने से स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी के सभी मुख्य आचार्यों ने इस अलंकार को दिया है।

केशव ने तो इसका लक्षण विलक्षण ही दिया है :—

"चतुराई के लेस तें, चतुर न समझैं लेस।
वर्णत, कवि-कोविद सबै, ताको 'केशव' लेस॥"

अर्थात् जहाँ किसी भाव या अर्थ को किसी चातुरी के साथ ऐसे ढंग से रक्खा जावे कि चतुर जनों को भी वह बहुत थोड़ा ही समझ पड़े।

अर्थात् जहाँ किसी विशेष भाव के गोपन-चातुर्य के साथ चमत्कार हो, वहाँ यह अलंकार होता है। इसकी ऐसी परिभाषा किसी ने भी नहीं दी।

मतिराम ने अप्पय जी के ही मतानुसार इसके दो रूप दिखलाते हुये, यों लिखा है।

"जहाँ दोष, गुन होत है, जहाँ होत गुन, दोष।
तहाँ लेस यह नाम कहि, बरनत कवि मति-तोष॥"

ठीक इसी प्रकार भूषण और भिखारीदास ने भी लिखा है, और पश्चात् या उत्तरकालीन अन्य सभी आचार्यों, जैसे लछिराम, गोविन्द, रामसिंह, और पद्माकर आदि ने भी ठीक इसी प्रकार इस अलंकार के रूप और लक्षण दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि इन सबों ने इसे अप्पय जी के चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द से ही लिया है।

जसवन्तसिंह ने इसका लक्षण (और इसके दो रूप भी) तो वही दिया है, जिसे अप्पय के मतानुसार अन्य आचार्यों ने लिखा है, किन्तु इसे आपने लेश के स्थान पर "लेख" की ही संज्ञा दी है, कदाचित् ऐसा आपने (या आपके ग्रन्थ के सम्पादक या लेखकों ने) लेष (लेख) के ही आधार पर किया है।

केवल गोकुल कवि ने ही इस अलंकार को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। दूलह जी ने इसके ४ रूप दिखलाये हैं:—

"गुनमाँहि दोष, दोष मैं गुन, गुनै में गुन,
दोष में सुदोष थापै लेश को हुलास है।"

अर्थात्:—१—गुण में दोष-स्थापन २—दोष में गुण-स्थापन।
३—गुण में गुण-स्थापन ४—दोष में दोष-स्थापन।

इस प्रकार आपने दो रूप अर्थात् नं० ३ और नं० ४ नितान्त ही विचित्र और सबसे निराले दिये हैं।

देव जी ने भी इसका लक्षण विलक्षण ही दिया है, हाँ, वह कुछ कुछ केशव के दिये हुये लक्षण से मिलता जुलता सा जान पड़ता है:—

" प्रगट अरथ जहँ लेस करि, कीजै ताहि निगूढ़।
लेस कहत तासों सुकवि, जे बुधि बल आरूढ़॥"

अर्थात् जहाँ प्रगट या स्पष्ट अर्थ या भाव (वाक्यार्थ) को लेश के द्वारा (कदाचित् भाव-संगोपन-चातुर्य के द्वारा) निगूढ़

किया जावे, वहाँ लेशालंकार होता है। इस परिभाषा से भी मूलतः वही भाव झलकता है, जो केशव की परिभाषा से अर्थात् इस अलंकार का आधार भाव-संगोपन-चातुर्य ही है।

भामह ने इसे नहीं लिखा, वे इसे तथा हेतु, सूक्ष्म और वार्ता को भी अलंकार नहीं मानते, क्योंकि इनमें वक्रोक्ति नहीं होती।

दंडी ने इसे लव के नाम से लिखा है।

नोट:—इसके निम्न रूप और किये जा सकते हैं:—

१—शुद्धः—जिसमें और कोई भी अलंकार न हो।

२—संकीर्णः—जिसमें लेश को पुष्ट करने के लिये अन्य अलंकार भी हों—

१—अन्योक्तिगर्भा—जहां अन्योक्ति की भी पुट हो।

सुफलद, सरस पियूष मम, सुन्दर, सुखद, सुवास।
हित कर भले "रसाल" पै, कछु कठिनाई पास॥

२—अप्रस्तुत प्रशंसात्मकः—

रूख रूख के फलन कौ, लेत स्वाद मधु छाक।
बिन इक मधुरी बानि कै, निधरक डोल न काक॥

३—उदाहरणात्मकः—

सगुन देत गुन एक यह, अवगुन युत हे काक।

इसी प्रकार इसके साथ, उपमा, श्लेष और उत्प्रेक्षादि अन्य अलंकारों को भी रखकर इसके कई रूप रचे जा सकते हैं।

४—श्लेषात्मकः—यथाः—

हितकर सुन्दर सरस अति, जीवन-प्रद घनश्याम।
मोरपक्ष नहिं धरत हैा, मोरपक्षधर नाम॥

५—लेशाभास—जहाँ दोष और गुण में गुण और दोष का आभास मात्र ही दिखलाया जावे, वास्तव में वैसा न हो।

६—प्रश्नात्मक—जहाँ लेश को सप्रश्न रक्खा जावे।

मुद्रा

जहाँ प्रस्तुत अर्थ वाले पदों या शब्दों से किसी विशेष सूच्यार्थ (सूचनीय अर्थ) की भी सूचना दी जावे, वहाँ मुद्रालंकार होता है।

नोटः—ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार श्लेषालंकार में शब्दों के दो या अधिक अर्थ होते हैं उसी प्रकार इसमें भी। इस अलंकार में भी द्वयार्थक शब्दों का प्राधान्य रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि श्लेष में शब्दों के दो से भी अधिक अर्थ (कभी कभी) होते हैं और एतदर्थ उसमें अनेकार्थवाची शब्दों का ही संगुफन या संगठन (संयोजन) होता है, किन्तु इस अलंकार में प्रायः ऐसा नहीं होता, वरन् इसमें केवल द्वयार्थक शब्द ही प्रधानता के साथ दिये जाते हैं। साथ ही इसमें यह विशेषता और होती है कि सूच्यार्थ ही को इसमें प्रधानता दी जाती है न कि वाच्यार्थ को, अर्थात् शब्द किसी अर्थ-विशेष की सूचना देने की ही क्षमता या योग्यता रखता है, उसके लिये यह अनिवार्य एवं आवश्यक नहीं कि वह दूसरा अर्थ भी देवे और वह श्लिष्ट ही हो। यदि वह किसी भी प्रकार किसी अर्थ-विशेष की सूचना दे सकता है तो पर्याप्त है।

अप्पय जी ने इसी ही बात पर ज़ोर दिया है और स्पष्टतया लिखा है कि सूच्यार्थ की सूचना ही देना मुद्रा का कार्य है :—

"सूच्यार्थ सूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः"

इसमें पद या शब्द अपना प्रकृतार्थ भी देते रहते हैं और साथ ही किसी विशेष सूच्यार्थ की भी सूचना देते हैं। ऐसा श्लेष में नहीं होता। मम्मट और विश्वनाथ आदि अन्य मुख्य आचार्यों ने इसे अपने ग्रन्थों में एक स्वतन्त्र अलंकार के समान स्थान नहीं दिया, वे लोग इसे लिखते ही नहीं।

केशवदास, भूषण और देव जी को छोड़ कर हिन्दी के प्रायः अन्य सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे बिलकुल अप्पय जी के ही मतानुसार लिखा है, कह सकते हैं कि सबों ने प्रायः अप्पय के श्लोक का अनुवाद ही कर लिया है। हाँ, कुछ आचार्यों ने इसमें कुछ थोड़ी सी विशेषता भी दिखलाई है। भिखारीदास जी लिखते हैं :—

"औरौ अर्थ कवित्त को, सब्दौ छल व्यवहारु।
झलकै नामक नाम गन, मुद्रा कहत सुचारु॥"

इससे ज्ञात होता है कि इसमें शब्द-छल (वाक् छल) का भी व्यवहार किया जाता है, किन्तु जहाँ ऐसा होगा वहाँ वाक् छल-गत मुद्रा कही जानी चाहिये। मतिराम ने इसके लक्षण में सूच्यार्थ की सूचना का भाव स्पष्ट रूप से नहीं दिया।

"प्रकृति अर्थ पर पदनि सों, शुद्ध प्रकाशत अर्थ।
मुद्रा तासों कहत हैं, कवि मतिराम समर्थ॥"

जसवन्तसिंह ने लिखा है—"मुद्रा प्रस्तुत पद विषै, औरै अर्थ प्रकाश।" किन्तु इस प्रकार इसमें और श्लेष में कोई भी भेद नहीं रह जाता। यहाँ आवश्यकता है कि सूच्यार्थ की सूचना का भाव स्पष्ट रूप से और रख दिया जावे।

गोकुल कवि की परिभाषा, जो ठीक अप्पय के श्लोकानुसार है, बहुत स्पष्ट है :—

"सूच्य अर्थ-सूचन जहाँ, प्रकृति अर्थ में होय।"

गोविन्द ने जो लक्षण दिया है वह कुछ बहुत स्पष्ट नहीं है।

"प्रकृति अर्थ में मिलहि पद, औरहु नाम प्रकास।"

दूलह कवि ने "प्रस्तुत पदन मैं, अरथ और खोजि कहै,
मुद्रा लहै लक्षण में लात्तारथ पोहै हैं।

यों लिखकर यह दिखलाया है कि इसका सम्बन्ध लाक्ष्यार्थ (लक्षणा सम्बन्धी अर्थ) से भी है। शेष सभी प्रमुख आचार्यों जैसे लछिराम, रामसिंह, और पद्माकर आदि ने केवल अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद ही कर दिया है।

नोटः—कभी एक वाक्य या वाक्यांश भी किसी विशेष सूच्यार्थ की सूचना देता है, ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि वहाँ वाक्यगत मुद्रा है, इस प्रकार विचार करने से मुद्रा के दो मुख्य रूप हो जावेंगे—

१—शब्दगता—इसे हम ऊपर दे चुके हैं।

२—वाक्यगता—जहाँ कोई वाक्य या वाक्यांश किसी विशिष्ट सूच्यार्थ की सूचना दे।

जहाँ इसका सम्बन्ध लक्षणा से होगा वहाँ लाक्षणिक मुद्रा और जहाँ व्यंग्य या व्यंजना से इसका सामंजस्य होगा वहाँ व्यंग्य मुद्रा कह सकते हैं। जिस प्रकार श्लेषालंकार की पुट अन्य सभी अलंकारों में न्यूनाधिक रूप से दी जाती या दी जा सकती है उसी प्रकार मुद्रालंकार की भी पुट प्रायः अन्य सभी अर्थालंकारों में भी न्यूनाधिक रूप से दी जा सकती है, और इसलिये हम इसे एक व्यापक रूप वाला अलंकार मान सकते हैं।

नोटः—ध्यान रहना चाहिये कि इसमें यही विशेषता है कि प्रस्तुत अर्थ या भाव के साथ ही साथ, (जो सर्वथा प्रधान एवं मुख्य ही रहता है) किसी दूसरे अर्थ या भाव की भी सूचना दी जाती है। कहीं तो यह स्पष्ट और कहीं यह गुप्त ही रहता है। यह सांकेतिक भाव कवि को अभीष्ट और अनभीष्ठ दोनों रूपों में भी हो सकता है।

तद्‌गुण और पूर्वरूप

जहाँ कोई वस्तु अपने गुण को त्याग कर किसी समीपवर्ती उत्कृष्ट एवं विशिष्ट गुण वाली अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण करती हुई दिखलाई जाती है वहाँ तद्गुण अलंकार माना जाता है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ अपने गुण का त्यागना और दूसरे के गुण का ग्रहण करना ही आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं है तो वह तद्गुण का शुद्ध रूप नहीं है। यदि कहीं कोई वस्तु किसी वस्तु से प्रतिबिंबित होकर उसी के समान गुण वाली दीखती या जान पड़ती है तो वहाँ शुद्ध तद्गुण न हो कर उसका एक विशिष्ट रूप ही माना जा सकता है। जैसे श्वेत वर्ण का निर्मल शीशा उसी रंग का दिखाई पड़ता है जिस रंग की कोई वस्तु उसके पास रक्खी होती है और उसका प्रतिबिम्ब उस पर पड़ता होता है। ऐसी दशा में कई बातें हो सकती हैं, या तो वहाँ भ्रम हो सकता है, या यदि सब परिस्थितियाँ ज्ञात हैं तो उत्प्रेक्षा का कुछ भाव हो सकता है, या उपमा की कुछ झलक हो सकती है या बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के आधार पर अन्य अलंकार हो सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि कवियों एवं आचार्यों ने इस अलंकार के लक्षण पर विशेष विचार न करके जहाँ कोई वस्तु अपने निकटवर्ती अन्य किसी वस्तु के गुण को ग्रहण करती सी जान पड़ती है (वस्तुतः वह न तो अपने गुण को ही छोड़ती है, क्योंकि वह गुण स्वाभाविक होकर ज्यों का त्यों ही बना रहता है, और न अपने निकटवर्ती वस्तु के ही गुण को यथार्थ में ग्रहण करती है) वहाँ इस अलंकार को मान लिया है।

गई विशद रँग रूचि रई, भई अरुन छवि नोल।
लै मुकता कर में करति, तू मूँगा को मोल॥

यहाँ एक मुक्ता किसी नायिका के रक्त कमलवत हाथ में रक्खा है और इससे उसमें कर का रंग प्रतिबिंबित हो रहा है जिससे वह रक्त वर्ण का होकर मूंगा सा प्रतीत होता है। यह बात नायक या दर्शक को ज्ञात भी है। यहाँ स्पष्ट है कि मुक्ता ने अपनी स्वाभाविक श्वेतता त्यागी नहीं, वह उसमें उपस्थित है, हाँ उस पर रक्त कर का केवल प्रतिबिंब पड़ रहा है और इसीसे वह रक्त वर्ण का हो कर मूँगे सा ज्ञात होता है, मुक्ता ने रक्त कर की लालिमा को ग्रहण भी नहीं किया, वह वस्तुतः लाल नहीं हो गया, केवल प्रतिबिम्ब के पड़ने के कारण वह लाल मूँगे सा दीखता है, और ऐसा लगता है मानो वह मूंगा ही है। ऐसा होने पर भी कवियों ने यहाँ तद्गुण ही माना है, वस्तुतः इसे हम प्रतिबिंबित तद्गुण कह सकते हैं और ऐसा ही कहना उचित भी जँचता है।

मम्मट जी ने लिखा है:—

"स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्वल गुणस्ययत्।
वस्तु तद्गुणतामेति, भण्यते स तु तद्गुणः॥" —का० प्र०

विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार लिखा है :—

"तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्ट गुणग्रहः।"

अप्पय जी ने केवल एक ही शब्द बदल कर इसी पंक्ति को ज्यों का त्यों रख दिया है।

"तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीय गुण ग्रहः।"

केशव और देव जी को छोड़ कर शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे उक्त रूप में ही लिखा है। भिखारीदास ने इसकी दो परिभाषायें यों दी हैं :—

१—"अलंकार तद्गुण कहौ, संगति-गुन गहि लेत।"
२—तद्गुन, तजि गुन आपनो, संगति-गुन गहि लेत॥

मतिराम ने इसका लक्षण बहुत ही संकीर्ण रूप में लेकर इसे केवल वर्ण या रंग पर ही आधारित माना है:—

"जहाँ आपनो रंग तजि, लेत और को रंग।"

नोट:—अन्य आचार्यों ने भी गुण से यहाँ रंग का ही अर्थ लिया है।

भूषण जी ने मतिराम जी की उक्त पंक्ति में 'लेत' के स्थान पर 'गहै' पद रख कर शेष को उसी तरह रख दिया है:—

जहाँ आपने रंग तजि, गहै और को रंग।

जसवन्तसिंह जी की पंक्ति और दास जी की पंक्ति में अक्षरशः साम्य एवं एक रूपता (एकता) है, अन्तर केवल यही है कि दास जी 'लेत' पद रखते हैं और सिंह जी 'लेइ' रखते हैं।

"तद्गुन, तजि गुन आपनो, संगति को गुन लेइ।"

बस इसी लक्षण को शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने भी अपने अपने ग्रंथों में लिखा है, किसी ने भी कुछ विशेषता नहीं दी।

नोट:—ध्यान रखना चाहिये कि उल्लास एवं अवज्ञा अलंकारों में गुण का अर्थ रंग नहीं लिया जाता, वरन् धर्म एवं दोष का विलोम अर्थ लिया जाता है, यही इनमें अन्तर है। किसी किसी आचार्य ने इसमें रंग के साथ रस, रूप, एवं गन्धादिक गुणों को भी रक्खा है।

—सम्पादक

पूर्व रूप

जहाँ कोई वस्तु अपने गुण को त्याग कर किसी अन्य समीपवर्ती वस्तु के गुण को ग्रहण कर ले और फिर उस ग्रहीत गुण को छोड़ कर पुनरेव अपने ही (पूर्व वाले) गुण को ग्रहण कर ले वहाँ पूर्वरूप माना जाता है। यहाँ भी रूप का अर्थ गुण ही लिया गया है।

कह सकते हैं कि तद्गुण में परगुण का ग्रहण और इसमें परगुण-ग्रहण के अनन्तर पुनरेव स्वगुण के ग्रहण का प्राधान्य रहता है, तद्गुण का यह कुछ अंश में विलोमरूप सा ही माना जा सकता है। यदि अपना ही गुण फिर न ग्रहण करे वरन् किसी अन्य (दूसरी) वस्तु के गुण का ग्रहण किया जावेगा तो यह अलंकार न होकर पूर्वोक्त तद्गुण ही रहेगा।

अप्पय जी ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार माना है, किन्तु मम्मट और विश्वनाथ आदि इसे तद्गुण का ही एक विशिष्ट रूप मानते हैं और इसी से वे इसे एक स्वतंत्र अलंकार के समान पृथक् नहीं देते।

अप्पय जी ने पूर्वरूप का लक्षण यों दिया हैः—

१—"पुनः स्वगुण-संप्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम् ।"
२—"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि ॥"

इस द्वितीय भेद से (जहाँ किसी वस्तु की विकृतावस्था के पश्चात् उसके पूर्वावस्था की अनुवृत्ति दिखलाई जावे वहाँ पूर्व रूप का द्वितीय रूप होता है) यह ज्ञात होता है कि गुण-प्राप्ति में ही यह अलंकार (एवं तद्गुण अलंकार भी) नहीं होता वरन् अवस्था, दशा एवं परिस्थिति की अनुवृत्ति में (तथा तद्गुण के लिये दशा ग्रहण या परिवर्तन में) भी यह अलंकार होता है।

दास जी ने पूर्वरूप का लक्षण यों दिया हैः—

"पाये पूरब रूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत ।"

मतिराम, भूषण, जसवन्तसिंह और लछिराम ने पूर्वरूप को स्वतंत्र रूप में नहीं दिया। कहना चाहिये कि उन्होंने इसे किसी भी रूप में नहीं दिया, इसका नाम भी उनके ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। गोविन्द कवि ने यों लिखा है और इसके यों आपने दो भेद अप्पय जी के समान दिये हैं :—

१—"बहुरि मिले गुन आपनो, जहाँ आन के संग।
२—वस्तु विनासेहू बहुरि, तरह पीछली होइ॥"

अप्पय जी के द्वितीय भेद में पूर्वावस्था की अनुवृत्ति का भाव यथार्थता के साथ यहाँ नहीं, वरन् इससे यही ज्ञात होता है कि जहाँ कोई वस्तु विनष्ट होकर फिर पूर्व की भाँति उत्पन्न हो जावे वहाँ ही पूर्वरूप होता है। इस विचार से इसे हम पूर्व रूप का एक स्वतंत्र या विशेष भेद मान सकते हैं।

गोकुल कवि ने पूर्वरूप का एक ही भेद दिया है:—

"तजि औरन कौ गुन जहाँ, गुन अपनोई लेत॥"

रामसिंह ने भी पूर्व रूप के दो भेद दिये हैं:—

१—"रूप आन को लेइ, तजि फिर निज रूपहिं लहै।
२—बिगरै वस्तु वही रँग रहै, पूरब रूप दूसरो कहै॥

इन दोनों ही भेदों में अपनी अपनी विशेषतायें है, प्रथम में तो गुण के (त्यों ही अवस्था या दशा के स्थान पर) या रंग के स्थान पर (जैसा मतिराम ने तद्गुण में लिखा है) आपने रूप को ही प्रधानता दी है, और दूसरे में वस्तु के विनाश होने तथा उसके रंग के अपरिवर्तित रहने पर ज़ोर दिया गया है। दूलह ने लिखा है:—

१—"फेरि पावै स्वगुण पूरब रूप रहे है।"
२—दूसरो पूरब रूप मिटै ना मिटाये……

यहाँ दूसरा भेद बहुत विस्तृत हैं, और यह प्रगट करता है कि जहाँ वस्तु या वस्तु सम्बन्धी अन्य गुणादि का विनाश न हो, वहाँ द्वितीय पूर्व रूप होता है, इस प्रकार इसमें अन्य लक्षणों से भिन्नता या कुछ विशेषता आ जाती है। पद्माकर जी ने ठीक गोविन्द जी के ही अनुकूल लिखा है और कदाचित् उनके श्लोक का अनुवाद ही कर लिया है:—

१—पूरब रूप गयो सुगुन, फेर लहै कर लेत।

२—वस्तु नसिंहुँ पिछली दसा, दोय सुपूरब रूप।

दूसरा भेद अप्पय जी के आधार पर आधारित तो अवश्य है किन्तु वह बिलकुल उसी के समान या वही नहीं है, दोनों में स्पष्ट अन्तर है और हम उसे गोकुल के द्वितीय रूप में दिखला भी चुके हैं।

नोट:—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें और उल्लास नामी अलंकार में भेद है, यद्यपि यों देखने से दोनों में कुछ अन्तर नहीं जान पड़ता। उल्लास अलंकार तो वहाँ माना जाता है जहाँ किसी वस्तु के गुण से (उसके देखने एवं अनुकरणादि करने से) किसी दूसरी वस्तु में गुणोत्पत्ति होती है, दूसरी वस्तु में ठीक उसी गुण की उत्पत्ति का होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं, जो गुण उसमें किसी अन्य वस्तु से सूचित किया गया है। उल्लास में सत्संग एवं उपदेशादि से भी गुणोत्पत्ति होती है, किन्तु यहाँ सम्पर्क से ही गुण का ग्रहण होता है और दोनों वस्तुओं (जिसका गुण अन्य वस्तु में जाता है और वह अन्य वस्तु जिसमें दूसरे का गुण सम्पर्क के प्रभाव से आता है) के गुण एक ही होते हैं। यह भी सम्भव है कि उल्लास के द्वारा किसी वस्तु के गुण से प्रभावित हो कर किसी अन्य वस्तु में उस वस्तु के प्रभावकारी गुण के समान अन्य गुण की भी उत्पत्ति हो, किन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ गुण शब्द का अर्थ विशेष रूप से रूप, रस, गंध, एवं रंग आदि ही है, किन्तु ऐसा उल्लास में नहीं है। उल्लास में गुण शब्द का तात्पर्य चारित्रिक गुणों से ही है। यही इन दोनों में अन्तर डालने वाली मुख्य बातें हैं।

इसके अन्य मुख्य रूप यों भी होते या हो सकते हैं :—

१—जहाँ कोई वस्तु कई वस्तुओं के गुणों को ग्रहण करे और इस प्रकार एक विशेष गुण वाली बन जावे।

अधर धरत हरि के परत, ओठ, दीठि, पट-ज्योति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष छवि होति॥

जहाँ कोई वस्तु वास्तव में अपना गुण छोड़कर अपने निकटवर्ती किसी अन्य वस्तु का गुण यथार्थ में ग्रहण करले।

तजि निम्बा निज बास को, रहि चन्दन के पास।
चन्दन ही ह्वै, देत है, सुकवि 'रसाल' सुबास॥

तद्गुणाभासः—जहाँ किसी वस्तु में उसके निकटवर्ती वस्तु का सा गुण दिखाई पड़े, और वस्तुतः उसने न तो उस वस्तु का गुण ही ग्रहण किया हो और न अपना ही गुण छोड़ा हो।

मुक्ता गूँगा ह्वै, लसत, लाल जलज कर माँहि।

माला रूप—जहाँ कोई वस्तु अपने गुण को छोड़ कर कई वस्तुओं के गुणों को ग्रहण करती हुई दिखलाई जाती है।

उत्प्रेक्षात्मक—जहाँ उत्प्रेक्षा के साथ तद्गुण हो।

कर कंजनि मुक्ता लसत, मानौं मूंगा लाल॥

इसी प्रकार इसमें उपमा एवं दृष्टान्तादि अन्य अलंकार भी रक्खे जा सकते हैं।

सूच्या—जहाँ ग्रहीत गुण की सूचना ही दी गई हो और वह सूच्य ही रक्खा गया हो, स्पष्ट रूप से न कहा गया हो। यथा उक्त उदाहरण में।

स्पष्टा—जहाँ स्पष्ट रूप से ग्रहीत गुण उस वस्तु में दिखला दिया गया हो।

कर कंजनि परि, लाल ह्वै, मोती विद्रुम लाग

अवस्थानुवृत्ति—जहाँ कोई वस्तु अपनी दशा को छोड़ कर किसी दूसरी समीपवर्ती वस्तु की दशा को प्राप्त हो जावे।

नोटः—इसके और भी अनेक रूप हो सकते हैं, विस्तार-भय से हम उन्हें नहीं दे रहे।

सामान्य

जहाँ अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत विषय की गुणों में समता के दिखलाने की इच्छा से दोनों में एकात्मीयता या एकरूपता (एकता) दिखलाई जावे, वहाँ सामान्यालंकार माना जाता है।

नोटः—यहाँ मुख्य बात, जो विचारणीय है, यही है कि चाहे प्रस्तुत विषय या वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के समान गुण हो या न हो, किन्तु उसमें (प्रस्तुत में) अप्रस्तुत के समान गुण का दिखलाना अभीष्ट ही होता है और इसीलिये उन दोनों में एकता या एकात्मीयता दिखलाई जाती है। यहाँ प्रस्तुत विषय अपने गुण का त्याग नहीं करता।

चंदन चर्चिति तन किये, धरि पुनि हीरक-हार।
धवल वस्त्र सजि कामिनी, चाँदनि सी पग धार॥

मम्मट जी ने लिखा हैः—

"प्रस्तुतस्य यदन्येन, गुण साम्य विवक्षया।
ऐकात्म्यं वध्यते, योगात्सामान्यमिति स्मृतम्॥

विश्वनाथ जी ने भी इसी प्रकार इसका लक्षण यों दिया हैः—

"सामान्यं प्रकृतस्यान्यतदात्म्यं सदृशैर्गुणैः।"

किन्तु अप्पय जी ने इसका लक्षण इन लोगों से कुछ पृथक सा दिया है।

"सामान्यं, यदि सादृश्याद्विशेषो नैव लक्ष्यते।"

अर्थात् जहाँ दोनों में सादृश्य से कुछ अधिक विशेषता न दिखलाई जावे। यदि विशेषता दिखलाई जावेगी तो यह एक अन्य विशेष रूप धारण कर लेगा। कुवलयानन्दकार ने जहाँ सादृश्य से कुछ भेद न जान पड़े, वहाँ ही इस अलंकार को माना है, और अभेद के भाव को भी प्रधानता दे दी है।

हमारे आचार्यों में से केशव और देव को छोड़ कर अन्य सभी मुख्य आचार्यों ने इसे अप्पय जी के ही अनुसार दिया है। दास जी ने लिखा है :—

"है सामान्य, मिलै जहाँ, हीरा फटिक सुभाय।"

और इस प्रकार आपने दिखलाया है कि जिस प्रकार हीरा और स्फटिक मणि में सादृश्य होता है और दोनों मिलते जुलते हैं उसी प्रकार जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तुओं में सादृश्य दिखलाया जावे, वहाँ सामान्यालंकार जानना चाहिये। मतिराम जी लिखते हैं—

"भिन्न रूप हू मैं जहाँ, पैयै कछु न विशेष।"

अर्थात् रूप-वैषम्य के होने पर भी जहाँ कुछ विशेषता न हो (वरन् सादृश्य ही हो)। भूषण जी ने इसे स्पष्ट करके यों दिया है :—

"भिन्नरूप जहँ सदृश ते, भेद न जान्यो जाय।"

जहाँ दोनों में रूप-वैषम्य के भी होने पर सादृश्य के कारण भेद न जाना जाये। जसवन्तसिंह ने भी इसी प्रकार लिखा है:—

"सामान्य जु सादृश्य ते, जानि परै न विशेष।

लछिराम जी लिखते हैं :—

"जहँ सादृश्य पदार्थ में, दुविधा नहिं अनुमान।

और गोकुल ने भी यों ही लिखा है :—

"वस्तु दोइ सम रूप की, जुदी न चाही जाति।"

बस इसी भाव को लेते हुए गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकरादि ने भी इसके लक्षण दिये हैं।

मीलित और वैसरूप्य

जहाँ किसी वस्तु के गुणों के द्वारा अन्य किसी ऐसी वस्तु के गुणों का, जो प्रथम वस्तु के ही समान गुण रखती है, तिरोधान होता हुआ दिखलाया जावे, अर्थात् जहाँ किसी वस्तु के गुणों के साथ उसी के समान गुणों से संयुक्त वस्तु के वे गुण, जो प्रथम वस्तु के ही गुणों के सदृश हैं, सब प्रकार अभेद-रूप से मिलते हुए (लीन-विलीन से होते हुए) दिखलाये जावें, वहाँ मीलित अलंकार माना जाता है।

मीलित शब्द का अर्थ है मिल जाना, इसी आधार पर इस अलंकार का चमत्कार स्थापित किया गया है। एक ही (एक ही प्रकृति एवं गुणवाली) वस्तुयें परस्पर में अभेद रूप से ऐसी मल जाती हैं कि उनमें से एक के गुण दूसरे के गुणों से तिरोभूत हो जाते हैं।

इसके दो मुख्य भेद किये गये हैं:—

१—स्वाभाविक गुणों का तिरोधानः—जहाँ दोनों वस्तुओं के नैसर्गिक गुण एक रूपता (एक प्रकृति) एवं सादृश्य-साम्य के आधार पर अभेद रूप से परस्पर हिल मिलकर तिरोभाव को प्राप्त होते हुए दिखलाये जाते हैं।

> पान-पीक अधरान में सखी लखी नहिं जाय।
> कजरारी अँखियान में, कजरा री ! न लखाय। का० क०

नोटः—यहाँ यमक के कारण मीलित का भाव चमक उठा है।

२—आगन्तुक-गुणों का तिरोभावः—जहाँ दो वस्तुओं के वे गुण जो नैसर्गिक न होकर किसी कारण से उनमें आ जाने वाले होते हैं, अभेद रूप से परस्पर लीन-विलीन से हो तिरोभूत हो जाते हैं।

नोटः—अब इन्हीं उक्त भेदों में से प्रत्येक के दो २ उपभेद प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तुओं के गुणों के तिरोहित होने के आधार पर और हो सकते हैं और फिर इनके द्वारा अन्य उपभेद भी हो सकते हैंः—

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ सादृश्य एवं एकरूपता के कारण गुणादिक अभेद रूप से परस्पर हिल-मिल कर लीन-विलीन एवं तिरोहित से होते हुए दिखलाये जाते हैं और इसी तिरोधान पर इसका समस्त चातुर्य-चमत्कार निर्भर रहता है।

यहाँ तद्गुण के सामान गुण-ग्रहण का प्राधान्य नहीं है और न यहाँ उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण को दूसरी वस्तु ग्रहण ही करती है, और न यहाँ किसी के गुण को दूसरी वस्तु के गुणों से उत्कर्ष ही प्राप्त होता है, यथा प्रथमोल्लास में होता है। इन्हीं कारणों से यह अलंकार इन सब अलंकारों से भिन्न और पृथक् है। मम्मट जी ने इसका लक्षण यों दिया हैः—

"समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यत् निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥"

दण्डी जी इसे इस प्रकार एक स्वतंत्र अलंकार न मानकर अतिशयोक्ति का ही एक विशेष रूप मानते हैं। विश्वनाथ जी लिखते हैंः—

"मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्य लक्ष्मणा"।

इससे स्पष्ट है कि किसी एक गुण की तुल्यता के ही कारण दो वस्तुयें परस्पर ऐसी गुप्त हो जाती हैं, कि एक वस्तु दिखलाई या जान ही नहीं पड़ती। अप्पय जी ने यों न लिखकर यों लिखा है:—

"मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एवं न लक्ष्यते"

इससे ज्ञात होता है कि आपके मतानुसार इसमें वस्तु का गुप्त हो जाना आवश्यक नहीं, उनमें सादृश्य के कारण से भेद न होना चाहिये। यह न ज्ञात हो कि उन वस्तुओं में कुछ भेद है, यह सम्भव है कि वे दोनों वस्तुयें स्पष्ट ही रहें, हाँ सादृश्य से उनमें भेद न जान पड़े। अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं लक्षणों के अनुसार इसे दिया है।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव जी को छोड़कर शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे लिखा है।

मतिराम जी ने लिखा है:—"एक रूप ह्वै जाति मिलि, जहाँ होत नहिं भेद" अर्थात् एक रूप होकर जहां दो वस्तुयें अभेद के साथ मिल जावें।

भूषण ने भी इसी प्रकार लिखा है, और यही बात जसवन्तसिंह ने भी कही है।

"सदृश वस्तु में मिलि जहाँ, भेद न नेक लखाय। —भूषण
मीलित सो, सादृश्य तें, भेद न जबै लखाय॥"

—जसवन्त०

यह अप्पय जी के श्लोक का अक्षरशः अनुवाद ही है।

भिखारीदास ने इसकी दो परिभाषायें यों दी हैं:—

१—है समान मिलितौ गिनौ, मिलित दुहूँ विधि दास।"

२—मिलित जानिये, जहँ मिलै, छीर-नीर के न्याय।"

प्रथम में तो आपने सामान्य और मीलित दोनों को दो रूप माने हैं और दूसरे में दो वस्तुओं का क्षीर-नीर न्याय से मिलना कहा है, किन्तु यह लक्षण ठीक नहीं जँचता, क्योंकि क्षीर-नीर में सादृश्य नहीं, वे सादृश्य के आधार पर नहीं मिलते, और नीर-दूध के साथ मिल कर दूध के ही रूप का हो जाता है तथा दूध के गुण को भी कुछ कम कर देता है, इसलिये यह न्याय इस अलंकार में पूर्णतया चरितार्थ नहीं होता।

लछिराम जी ने दास ही का अनुकरण किया है और ठीक उसी प्रकार लिखा है।

> क्षीर-नीर सों मिलत जहँ, ललित वस्तु के साथ।
> अलंकार बरनन करैं, ललित बेस गुन-गाथ॥"

गोकुल कवि ने लिखा हैः—

> "वस्तु दोइ सम रूप की, अवयव सों मिलि जाँय।
> सो मीलित, ज्यों दूध में, पानी परि न लखाय॥

इससे स्पष्ट है कि जहाँ सदृश्य या समान रूप वाली दो वस्तुयें अवयव सी होकर दूध और पानी के समान परस्पर मिल जाती हैं। यहाँ पूर्वार्ध लक्षण तो उपयुक्त है किन्तु उत्तरार्ध में वही बात आ जाती है जो दास जी के लक्षण में दिखलाई गई है।

गोविन्द ने लिखा हैः—

> "समता ते नहिं नेकहू, परै जुदाई जानि।"

रामसिंह, दूलह, और पद्माकरादि ने भी इसी लक्षण को प्रधान माना है कि इस अलंकार में सादृश्य-भाव के कारण भेद नहीं दिखलाया जाता। इससे स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने अप्पय जी के ही आधार पर इसे लिखा है।

गोकुल कवि ने इसी के साथ एक नया अलंकार वैसख्य के नाम से दिया है और उसका लक्षण यों लिखा है।

वैसख्य

"मीलित में जहँ एक को, बढ़ि गुन धर्म लखाय।
सो वैसख्य मिले सलिल, ज्यों मिश्री मधुराय॥"

अर्थात् मीलित अलंकार में दो वस्तुओं में से एक के गुण या धर्म जहाँ कुछ विशेष एवं बढ़े (विवर्धित) हुए रूप में दिखलाये जाते हैं किन्तु वे दोनों वस्तुयें ऐसा होते हुए भी इस प्रकार परस्पर मिलती हैं जैसे पानी में मिश्री मिल कर विलीन हो जाती है। मिश्री मिल कर या घुल कर पानी में सब प्रकार लीन एवं विलीन हो जाती है, साथ ही उसकी मिठास स्पष्ट ही रहती है, और पानी भी अपने विशेष गुण को स्पष्ट रूप से दिखलाता रहता है, उसमें उस गुण की विशेषता एवं वृद्धि रहती ही है। यह अलंकार अन्य किसी भी आचार्य के द्वारा नहीं दिखलाया गया।

नोटः— मीलित के मुख्य रूप ये हैं:—

१—स्वाभाविक गुणों का तिरोभाव
  १—दोनों वस्तुयें प्रस्तुत हों
  २—एक प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत हो
  ३—दोनों अप्रस्तुत हों
२—अगन्तुक गुणों का तिरोभाव
  १—दोनों वस्तुयें प्रस्तुत हों
  २—दोनों वस्तुयें अप्रस्तुत हों
  ३—एक प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत हो।

—सम्पादक

अतद्गुण

जहाँ किसी वस्तु का अपने निकटवर्ती अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण करना न दिखलाया जावे, अर्थात् जहाँ कोई वस्तु अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण न ग्रहण करे, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।

यह पूर्वोक्त तद्गुण अलंकार का विलोम एवं प्रतिद्वन्दी रूप है। इसके मुख्य दो भेद होते हैं:—

१—जहाँ कोई न्यून एवं हीन गुण वाली वस्तु अपने निकटवर्ती उस वस्तु का गुण न ग्रहण करे, जिसमें अधिक एवं विशेष गुण है, और ऐसी दशा में भी, जब गुण का ग्रहण करना सम्भव भी हो। अर्थात् हीन गुणवाली वस्तु अपने से अधिक गुणवाली वस्तु के गुण को ग्रहण करने की क्षमता एवं योग्यता रखते हुए भी उसे ग्रहण नहीं करती। यह रूप तद्गुणालंकार का विलोम है।

धनि ! धनि ! चपला धन्य तव, सहज ऊजरो गात।
जामें रँग घनश्याम को, नेकहु नाहिं समात॥

नोटः—जहाँ श्लिष्ट पदों के साथ अतद्गुण रक्खा जाता है वहाँ हम श्लिष्ट अतद्गुण कह सकते हैं। यथा उक्त उदाहरण में। यहाँ चपला, रँग, एवं घनश्याम पद श्लिष्ट होकर अन्य अर्थ भी देते हैं।

२—अप्रस्तुत (अप्रकृत) वस्तु के रूप-रंगादि को प्रस्तुत (प्रकृति) वस्तु जहाँ ग्रहण न करे।

सित सुरसरि, अस असित अति, जमुना-नीर नहात।
विमल वर्ण वर हंस पै, न्यूनाधिक न दिखात॥

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इस अलंकार और अवज्ञा में अन्तर है, यद्यपि यों देखने से दोनों में बहुत कुछ साम्य सा ही

दीखता है। अवज्ञा में जो गुण शब्द आया है वह दोष शब्द के प्रतिपक्षी के रूप या भाव में आया है, किन्तु यहाँ वही गुण शब्द रूप-रंग आदि के अर्थ में आया है। साथ ही वहाँ एक वस्तु के गुण से दूसरे में गुणोत्पत्ति नहीं होती, किन्तु यहाँ एक वस्तु के गुणादि (रूप-रंगादि) को दूसरी वस्तु ग्रहण ही नहीं करती। अवज्ञा में यह सम्भव है कि एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु में दोष भी उत्पन्न हो जावे या वह विशेष गुण न उत्पन्न हो वरन् और कोई दूसरा गुण उत्पन्न हो जावे, उसमें गुणों में साम्य एवं एकता की आवश्यकता नहीं, किन्तु यहाँ गुणों में पूर्ण साम्य एवं एकता की ही प्रधानता के भाव को लेकर गुण-त्यागन एवं गुण-ग्रहण करना दिखलाया जाता है। गुण-ग्रहण न होना या न करना ही यहाँ प्रधान है और इसी पर इस अलंकार का चातुर्य-चमत्कार निर्भर है, नहीं तो अवज्ञा और यह दोनों, विशेषोक्ति अलंकार के ही अन्दर आकर उसीके विशिष्ट रूपों के रूप में लिये जा सकेंगे। ध्यान रखना चाहिये कि विशेषोक्ति में कारण के होते हुए भी कार्य न होता हुआ दिखलाया जाता है, इसका कुछ न कुछ अंश अवज्ञा एवं अतद्गुण में भी दिखलाई पड़ता है, क्योंकि इन दोनों अलंकारों में भी गुणोत्पत्ति और गुण-ग्रहण के लिये सम्पर्क एवं सत्संग (सहयोग, साहचर्यादि) के रूप में कारण उपस्थित है फिर भी गुणोत्पत्ति एवं गुण-ग्रहण के रूप में कार्य नहीं होता।

इस विचार से इन्हें हम विशेषोक्ति के अन्तर्गत लेकर उसके विशिष्ट भेदों के रूप में मान सकते हैं, किन्तु इन दोनों अलंकारों में कुछ आचार्यों ने गुणोत्पत्ति एवं गुण-ग्रहण न होने पर ही चातुर्य-चमत्कार की प्रधानता को देखकर उल्लास और तद्गुण नामी दो पूर्वोक्त अलंकारों के विलोम रूपों के समान लेकर इनको स्वतन्त्र अलंकार मान लिया है।

मम्मट जी लिखते हैं—

"तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः" । क० प्र०

और इसी प्रकार विश्वनाथ जी भी लिखते हैं "तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ।"—सा० द०

यहाँ 'हेतौ' पद से यह स्पष्ट है कि कारण के होते हुए भी रूप का अननुहार होता है, यही विशेषता यहां देखने के योग्य होती है। अप्पय जी के मतानुसार इसमें सम्पर्क-प्रभाव की ही प्रधानता होती है—आप लिखते हैंः—

"संगतान्य गुणानंगीकारमाहुरतद्गुणः ।"

अर्थात्—साथ रहने पर भी दूसरे के गुणों को अनंगीकार करना (अंगीकार न करना ही) अतद्गुण का लक्षण है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी इसे लिखा है।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव जी को छोड़ कर शेष सभी प्रधान आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में लिखा है। दास जी ने लिखा है " सोइ अतद्गुन है, नहीं, संगति को गुण लेत ।"

इससे स्पष्ट है कि आपने अप्पय जी के ही मत को माना है और इसमें संगति या सम्पर्क के प्रभाव को निष्फल होते हुए दिखलाने को प्रधान माना है। इसी के साथ आपने फिर पूर्वरूप नामी अलंकार को यों लिखा हैः—

"पूर्वरूप गुन नहिं मिटै, भये मिटन के हेत ।"

इससे ज्ञात होता है कि पूर्वरूप को आप इसका एक विशेष रूप, सहचर या मित्र ही सा मानते हैं।

भूषण जी ने भी ठीक इसी प्रकार लिखा हैः—

"जहँ संगति ते और को, गुन कछूक नहिं लेत" ।

मतिराम जी ने इसके लक्षण में रंग-ग्रहण करने के भाव को रखकर इसे संकीर्ण रूप दे दिया हैः—

"जहाँ संग में और को, रंग कछू नहिं लेत।"

जसवन्तसिंह ने भी भूषण और दास जी के समान अप्पय जी के ही आधार पर इसे लिखा है।

"सोइ अतद्गुन संग ते, जब गुन लागत नाहिं।

शेष सभी मुख्य आचार्यों—जैसे लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह, और पद्माकर आदि ने भी इसी प्रकार लिखा है, किसी ने भी कोई विशेषता इसके लक्षण में नहीं दिखलाई।

नोटः—जहाँ कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ रह कर एवं उसमें लीन होकर भी अपना रंग रूप, एवं गुण न छोड़े और अपनी समीपवर्ती वस्तु के रंग या रूप का ग्रहण न करे, और उससे प्रभावित भी न हो (या प्रभावित हो भी तो) वरन् अपने रंग, रूप एवं गुण में और वृद्धि करे, (उसका गुण, समीपवर्ती वस्तु के गुण से प्रभावित होकर वृद्धि प्राप्त करता रहे) वहाँ हम विशिष्ट अतद्गुण कह सकते हैं—

या अनुरागी चित की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों २ बूड़ै श्याम रँग, त्यों २ उज्वल होय॥ —बिहारी

नोटः—इसी के पदों में श्लेष की पुट देकर इसे श्लेषात्मक भी कर सकते हैं, यथा उक्त उदाहरण में, इसी प्रकार इसमें अन्योक्ति, उदाहरण एवं दृष्टान्तादि अलंकारों का भी सामंजस्य कर सकते हैं। जहाँ अतद्गुण का केवल आभास ही रहता है वहाँ हम अतद्गुणाभास कह सकते हैं।

अनुगुण

जहाँ किसी वस्तु के नैसर्गिक गुण को किसी अन्य समीपवर्ती वस्तु आदि के सकाश से उत्कर्ष प्राप्त हो, वहाँ अनुगुण होता है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि अनुगुण शब्द का अर्थ है अनु (उपसर्ग) = पश्चात्, पीछे, पूर्वानुकूल + गुण = लक्षणादि, अर्थात् जहाँ किसी पूर्व गुण की पश्चात् काल में आवृत्ति हो और उससे उसमें कुछ विशेषता या अधिकता आ जावे। इसी शब्दार्थ के आधार पर उत्कर्ष का भाव यहाँ रक्खा गया है। यहाँ किसी वस्तु के गुणोत्कर्ष का (चाहे वह किसी भी साधन से हो) दिखलाया जाना ही मुख्य बात है।

काने, खोरे, कूबरे, कुटिल कुचाली जान।
तिय विशेष पुनि चेरि कहि, भरत-मातु मुसकान॥

—रा० च० मा०

मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार नहीं माना, किन्तु अप्पय जी ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में ही लिखा है और इसका लक्षण यों दिया हैः—

"प्राक्सिद्ध स्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः पर सन्निधेः।"

अर्थात् प्रथम ही से प्रसिद्ध अपने नैसर्गिक (स्वाभाविक) गुण को जहाँ पर सान्निध्य से उत्कर्ष प्राप्त हो। काव्य प्रकाश के टीकाकार ने इसे तद्गुणालंकार के ही अन्तर्गत माना है।

हमारे हिन्दी के प्रमुख आचार्यों में से केशव, और देव ने इसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया, शेष सभी आचार्यों ने इसे अप्पय जी के ही मतानुसार लिखा है। मतिराम जी ने इसकी परिभाषा संकीर्ण रूप में यों दी है—

सम रुचि, संगति और के, बढ़त आपनो रंग ।"

भूषण ने भी इसी प्रकार लिखा हैः—

"जहाँ और के संग ते, बढ़ै आपनो रंग ।"

दास जी ने ठीक अप्पय के ही अनुसार इसे यों दिया हैः—

"अनुगुन संगति ते जहाँ, पूरन गुन सरसाइ ।"

इससे यह स्पष्ट है कि संगति के प्रभाव से वह गुण जो प्रथम कुछ न्यूनावस्था में था, अपनी पूर्णावस्था के साथ विकसित हो जाता है। जसवन्तसिंह ने लिखा है कि इसमें पूर्वगुण का उत्कर्ष संगति से ही होता हुआ दिखलाया जाता हैः—

"अनुगुन संगति तें जबै, पूरब गुन सरसाइ ।"

लछिराम ने भी ठीक यही लक्षण लिखा है। गोकुल कवि ने चंद्रालोक के श्लोक का शुद्ध अनुवाद ही कर दिया हैः—

"पर सन्निधि ते सिद्ध गुन, ताको जहँ उतकर्ष ।"

गोविन्द, रामसिंह और दूलह ने भी इसी प्रकार लिखा है। पद्माकर जी ने गुण के स्थान पर सुगुण का प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट है कि अन्य आचार्यों के मतानुसार जहाँ संगति से पूर्व वाला सद्गुण विवर्धित हो वहीं यह अलंकार होता है, न कि जहाँ गुण (वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो) का ही उत्कर्ष हो। बस इतनी ही विशेषता आपके लक्षण से प्रगट होती हैः—

"संगति ते पूरब सुगुन, बढ़ै सुअनुगुन आइ ।
मुक्तमाल हिय हास ते, अधिक सेत ह्वै जाइ ॥"

वस्तुतः जहाँ किसी वस्तु का वह गुण जो उसमें स्वभावतः ही उपस्थित है, किसी अन्य के उसी प्रकार के गुण (या उसी गुण) के द्वारा, विवर्धित हो, अथवा अन्य वस्तु के उसी गुण (या उसी प्रकार के गुणों का अन्य अनुकरण करता हुआ)

उत्कृष्ट एवं विशिष्ट रूप में हो जावे वहाँ यह अलंकार माना गया है।

इसके मुख्यतया निम्न भेद और हो सकते हैं:—

१—सद्गुणात्मक—यथा उक्त उदाहरण में।

२—दुर्गुणात्मक—जहाँ किसी के दुर्गुण का उत्कर्ष किसी अन्य के सकाश से हो:—

"अनियारे तीखे बड़े, ऐसेहि वाके नैन।
अञ्जन-रंजित ह्वै भये, दिन दूने ये पैन॥"

३—प्रश्नात्मकः—जहाँ अनुगुण में प्रश्न भी हो।

४—लुप्ताशयः—जहाँ गुणोत्कर्ष का आशय लुप्त होते हुए भी सूच्य ही हो:—

५—साधनोत्कर्ष—जहाँ सम्पर्क या सान्निध्य की अपेक्षा अन्य प्रकार के साधनों से भी गुणोत्कर्ष हो।

६ गुणापकर्ष—जहाँ किसी वस्तु के सान्निध्य से किसी वस्तु का गुणापकर्ष हो।

"कनक कान्ति राधा सहित, हरित भये यों श्याम।
ज्यों दामिनि दुति सों, असित, अल्प होत घनश्याम॥"

उक्त उदाहरण को हम संकीर्ण और श्लेषात्मक रूप का भी उदाहरण कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ अन्य अलंकार (उपमा) की सहायता ली गई है और साथ ही श्लेष की भी पुट दी गई है।

नोटः—ध्यान रहे कि यहाँ गुण से न केवल रूप-रंगादि का ही तात्पर्य है वरन् सब प्रकार के गुणों का मतलब है।

—सम्पादक।

उन्मीलित और विशेषक

जहाँ दो वस्तुओं में सादृश्य के होने पर भी किसी विशेष कारण से उनमें भेद या अन्तर दिखलाई पड़े, वहाँ उन्मीलित अलंकार माना जाता है।

नोटः—यहाँ सादृश्य के प्रभाव से दोनों वस्तुओं में अभेद की भावना या प्रतीति हो ही जाती है, और फिर किसी विशेष हेतु से उसका प्रभाव क्षीण सा तो हो जाता है किन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता, इसी आधार पर मम्मट और उनके टीकाकार का यह मत है कि यह अलंकार मीलित का एक विशेष रूप ही है और एक स्वतंत्र अलंकार नहीं है। इसी प्रकार विशेषक (विशेष) भी सामान्य नामी अलंकार का ही एक विशेष भेद है। चंद्रालोक एवं कुवलानन्द में इन दोनों अलंकारों को स्वतंत्र स्थान दिये गये हैं और इन्हें मीलित और सामान्य के विलोम रूप या प्रतिद्वन्दी कहा गया है।

कुंद कलिन की मालिका, उर लहरति न लखाय।
ह्वै मलीन कुम्हिलाय जब, तब वह जानी जाय॥

विश्वनाथ जी ने भी मम्मट की भाँति इसे नहीं लिखा। अप्पय जी ने इसी के साथ "विशेषक" नामी अलंकार का भी लक्षण यों दिया है :—

"भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलित विशेषकौ।"

अर्थात् किसी विशेष हेतु से जब मीलित में भेद या अन्तर दिखलाई दे तब उसे उन्मीलित अलंकार मानना चाहिये। इसी प्रकार जब सामान्य नामी अलंकार में किसी प्रकार की विशेषता प्रतिभात हो तब वहाँ विशेषालंकार मानना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों अलंकार मीलित और सामान्य नामी अलंकारों के ही विशिष्ट रूप हैं।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशव और देव जी को छोड़ कर शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इन दोनों अलंकारों को प्रायः अप्पय जी के ही मतानुसार लिखा है।

मतिराम जी लिखते हैं:—

"जहँ मीलित, सामान्य में, पैयत भेद, विशेष।
उन्मीलित, सविशेष कवि, बरनत मति उल्लेष॥"

दास जी ने भी इसी प्रकार लिखा है:—

१—"जहँ मीलित, सामान्य में, भेद कछू ठहराय।
तहँ उन्मिलित, विशेष कहि, बरनत सुकवि सुभाय।"

२—"है विशेष उन्मिलित मिलि, क्यों हू जान्यो जाय॥

भूषण जी ने इन दोनों को पृथक् २ ही लिखा है:—

१—"सदृश वस्तु में मिलत पुनि, जानत कौनेहु हेतु।
उन्मीलित तासों कहत, 'भूषन' सुकवि सचेतु॥"

२—"भिन्न रूप सादृश्य में, लहिये कछू विशेष।"

जसवन्तसिंह ने भी इन्हें यों ही दिया है:—

१—"उन्मीलित, सादृश्य तें, भेद फुरै तब मानि।
२—यह विशेषक विशेष पुनि, फुरै जु समता माँझ॥"

लछिराम जी ने लिखा है:—

"परै भेद मीलित बिषे, उन्मीलित तहँ बेस।"

किन्तु विशेषक को आपने विशेष नाम से ही लिखा है, यद्यपि विशेष नामी एक स्वतंत्र अलंकार विशेषक से पूर्णतया पृथक् ही माना गया है।

"कछु विशेष समताहिं में, तहँ विशेष पर बेस।"

अर्थात् जहाँ समता (सादृश्य) में कुछ विशेषता हो वहाँ विशेषालंकार जानना चाहिये, अब यहाँ संदेह यह होता है कि यह

मीलित का एक भेद है या सामान्य का, क्योंकि यदि इसे हम विशेषालंकार (जिसे हम प्रथम दे चुके हैं और जो अन्य आचार्यों के द्वारा एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में अपनी एक स्वतंत्र परिभाषा के साथ, जो इस परिभाषा से पूर्णतया पृथक् है, दिया गया है) कहें तो उचित न होगा, क्योंकि इसकी परिभाषा विशेष की पूर्वोल्लिखित परिभाषा से सर्वथा विपरीत है। अब इसे हम या तो मीलित का एक विशिष्ट रूप कह सकते हैं या सामान्य का, किन्तु जो लक्षण यहाँ दिया हुआ है उस पर ध्यान देने से यह मीलित का ही एक विशिष्ट रूप जान पड़ता है, इसी लक्षण को देते हुये गोकुल कवि ने वैसरूय नामी एक विशेष रूप (मीलित का) लिखा है (देखो मीलितालंकार के अन्दर), इसे हम सामान्य का रूप नहीं कह सकते, क्योंकि इसका लक्षण विशेष के (जो सामान्य का एक रूप माना गया है) लक्षण से कुछ पार्थक्य रखता है।

गोकुल कवि ने उन्मीलित को यों दिया है:—

"जहँ मीलित गुन, रूप को, भेद कछू बिलगाय।"
उन्मीलित सुरसरि मिले, ज्यों जमुना लखि जाय॥

आपने मीलित के अन्तर्गत एक वैसरूय नामी विशेष भेद और दिया है और विशेषक अलंकार नहीं लिखा। साथ ही आपने विशेषालंकार भी नहीं दिया। गोविन्द जी के मतानुसार कदाचित् विशेषक भी उन्मीलित के समान मीलित का ही एक विशिष्ट रूप है :—

"समता में लखि भेद कों, उन्मीलित उर आनि।
जो विशेष दिखराय तौ, हिये विशेषक जानि॥"

यहाँ विशेषक का लक्षण स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया। आपने भी विशेषालंकार नहीं दिया।

रामसिंह, दूलह और पद्माकर जी ने भी उन्मीलित और विशेषक को ठीक अप्पय जी के ही मतानुसार (उनके ही श्लोक का अनुवाद करके) लिखा है, अर्थात् मीलित में भेद की प्रतीति के होने पर तो उन्मीलित और सामान्यालंकार में विशेषता की झलक के होने पर विशेषक की उत्पत्ति होती है।

नोटः – जहाँ मीलित में किसी हेतु से कुछ भेद या अन्तर जान पड़े, वहाँ उन्मीलित और जहाँ किसी कारण वश सामान्य में कुछ भेद वस्तुओं के आकार में जान पड़े वहाँ विशेषक कहना चाहिये। ध्यान रहे कि तद्गुण और अतद्गुण में रंग का ही प्राधान्य रहता है, किन्तु मीलित और उन्मीलित में रंग, रस और गन्धादि गुणों का। सामान्य एवं विशेषक में वस्तुओं के आकार को ही विशेष प्रधानता दी जाती है।

विशेषकोन्मीलित

"जहाँ विशेषक उन्मिलित, मिलैं भेद दरसाय।
कहु विशेषकोन्मीलित तहँ, कह 'रसाल' कविराय॥"

जहाँ विशेषक और उन्मीलित दोनों ही अन्तर प्रगट करते हुए परस्पर मिलकर एक प्रकार का मिश्रालंकार उत्पन्न करते हैं वहाँ विशेषकोन्मीलित माना जाता है।

ससि मैं मुख मैं भेद कछु, नेकु न परत लखाय।
बिन कलंक अरु बास ते, सिय-मुख जानो जाय॥"

ध्यान रहे कि उन्मीलित में केवल एक वस्तु में ही विशेषता-सूचक बात कही जाती है और विशेषक में केवल आकार की ही प्रधानता रहती है, जहाँ दोनों वस्तुओं में विशेषता के साथ ही साथ अन्य गुणों (रूप, रंग आदि) की भी प्रधानता होती है वहाँ विशेषकोन्मीलित कहा जाता है। —सम्पादक

सूक्ष्म

जहाँ किसी इंगित या इशारों से (नेत्र,भृकुटी आदि अंगों की भंगिमादिक चेष्टाओं या आकाराकृत्तियों से) किसी मार्मिक या रहस्यात्मक सूक्ष्म भाव या अर्थ को युक्ति के साथ प्रगट किया जावे वहाँ सूक्ष्म अलंकार माना जाता है।

सूक्ष्म शब्द का अर्थ ही इस बात को प्रगट करता है कि इस के द्वारा सूक्ष्म भाव की सूचना दी जाती है:—

"विट-हिय प्रश्न सहेट को, समुझि तिया परबीन।
लीला कमल समेटि हँसि, सैनन सूचन कीन॥ अ० क०

ध्यान रखना चाहिये कि इसमें आंगिक संकेतों के द्वारा ही मर्म की बात सूचित की जाती है और संकेतों की भावगम्यता का ही इसमें प्राधान्य रहता है। कह सकते हैं कि यह अलंकार नाटकीय अभिनय से सम्बन्ध रखता है और उसीके आधार पर यह स्थापित भी किया गया है, अतः इसे अभिनय-प्रधान-नाट्यालंकार कह सकते हैं।

अब हम देख सकते हैं कि इस अलंकार के उतने ही रूप हो जावेंगे जितने प्रकार के इशारे किये जा सकते तथा उनके द्वारा भावों को प्रकाशित या सूचित कर सकते हैं।

मम्मट जी ने कहा:—

"कुताऽपिलक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते॥ का० प्र०

इससे ज्ञात होता है कि जहाँ किसी प्रकार लक्षित एवं सूक्ष्म अर्थ को किसी धर्म से दूसरे पर प्रकाशित किया जाता है वहाँ सूक्ष्मालंकार होता है, किन्तु विश्वनाथ जी ने लिखा है कि इसके द्वारा किसी संलक्षित सूक्ष्म अर्थ या भाव को आकार या इंगित या भंग्या से किसी पर सूचित किया जाता है।

"संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥" सा० द०

इसी प्रकार अप्पय जी ने भी लिखा है:—

"सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतर साकूत चेष्टितम् ।"

इस प्रकार प्रायः सभी प्रधानाचार्यों ने इसमें चेष्टादि की ही प्रधानता मानी है ।

हमारे हिन्दी के प्रमुख आचार्यों ने भी इसे यों ही लिखा है। केशवदास ने भी इसे आकार-प्रधान कहा है:—

"कौनौ भाव-प्रभाव ते, जानै जिय की बात ।
इंगित ते, आकार ते, कहि सूक्षम अवदात ॥"

इससे स्पष्ट है कि आपने इसके ३ मुख्य भेद माने हैं:—

१—हाव-भाव प्रधान—
२—इंगित-प्रधान—
३—आकार-प्रधान—

तथा जहाँ सभी प्रकार हृदय स्थित मार्मिक बात जानी जाय।

भिखारीदास ने इसे ध्वनि एवं वस्तु-व्यंग्य के आधार पर ठहराया है और लिखा है :—

"चतुर चतुर बातैं करै, संज्ञा कछु ठहराय ।
तेहि सूक्षम भूषन कहैं, जे प्रवीन कविराय ॥"

फिर यों लिखा है:—

२—"संज्ञा ही बातैं किये, सूक्षम भूषन नाम ।"

मतिराम जी ने इसे अप्पय जी के आधार पर यों लिखा है:—

"जानि पराये चित्त की, ईहा जो आकूत ।
होय जहाँ, सूक्षम तहाँ, कहत सुकवि पुर हूत ॥"

गुलाब कवि ने इसी के साथ लिखा है:—

"पर आशय लखि जहँ क्रिया, करै सुसूक्ष्म विचार ॥"

इस प्रकार इसे सभी ने आँगिक या अन्य क्रियाओं पर आधारित माना है। भूषण ने इसे दिया ही नहीं। जसवन्तसिंह ने इसे यों दिया है।"

"सूच्छ पर आसय लखैं, सैनन में कछु भाइ।"

अर्थात् जहाँ नेत्रों के सैनों (इशारों) से दूसरे के आशय का ज्ञान किया जाये, आपने इस प्रकार इसमें नेत्रों के सैनों को ही प्रधान माना है, और इस प्रकार इसे बहुत संकीर्ण रूप दे दिया है। लछिराम ने भी इसमें चेष्टा को प्रधान माना है:—

"पर आसय को बूझि कै, चेष्टा व्यंग प्रकास।"

गोकुल ने इसकी दो परिभाषायें यों दी हैं:—

१—"तनु आधेय लहै परै, जहाँ सुतनु आधार।
तहँ सूक्ष्मलंकार है, बरनत सुमति उदार॥
२—चित्त-वृत्ति लखि और की, चेष्टा व्यंग्य समेत।
करै जहाँ सूक्ष्म तहाँ, कहत सुकवि जुत चेत॥"

प्रथम रूप को आपने अधिक और अन्योन्य के और दूसरे को चित्रोत्तर और पिहित के बीच में लिखा है, और दोनों को पृथक् पृथक् कर दिया है।

गोबिन्द ने भी यों ही लिखा है:—

"चित को आसय आन को, समुझेते जहँ कोइ।
अभिप्रायवारी करत, चेष्टा सूक्ष्म सोइ॥"

रामसिंह ने भी यों ही दिया है:—

"आशय लखि पर की सैननि में; पर को भाव जनावै।"

बस इसी प्रकार दूलह और पद्माकरादि ने भी लिखा है, और अप्पय जी के श्लोक का अनुवाद सा ही करते हैं।

देव जी ने भी इसे यों दिया हैः—

"संज्ञा सों प्रगटै अरथ, सूक्ष्म कहिये सोइ।"

अब हम देख सकते हैं कि इसका आधार केवल इशारा ही है और इसी को प्रायः सभी आचार्यों ने प्रधानता भी दी है। अतः इसके भेदानुसार इसके निम्न भेद किये जा सकते हैंः—

१—आंगित संकेत—नेत्र, भृकुटि, नासिका, मुख, हाथ आदि के इशारे से भाव का प्रकाशन।

२—आंगित संकेत या आकरादिः—(भावना या मनोवेगादि प्रकाशक—रोष-उदासीनतादि सूचक, स्वाभाविक लक्षण)।

३—साधन-सहाय्य सेः—जहाँ अन्य वस्तुओं की सहायता से इशारा किया जावे।

१—स्ववस्तु-द्वाराः—अपने शरीरादि के वस्त्र, भूषण या अन्य वस्तुओं की सहायता से।

अन्य वस्तु-द्वारा—किसी दूसरे की या अन्य बाहिरी वस्तु की सहायता से।

४—सांकेतिक शब्दों या पदों के द्वारा—जहाँ किसी गुप्त भाव को किसी विशेष शब्द या पद के द्वारा प्रगट किया जावे।

५—क्रिया-संकेत—कोई क्रिया करके जहाँ संकेत किया जावे।

नोटः—ध्यान रहे कि इसमें प्रायः किसी के सूक्ष्म कृत्य (चेष्टा, संकेतादि) को देख कर सूक्ष्म कृत्य ही के द्वारा कोई दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर देता या समाधान करता है। यहाँ दोनों ओर से संकेतादिक सूक्ष्म कृत्यों का होना आवश्यक है। किसी की तात्पर्य-सूचक क्रिया के उत्तर में कोई साभिप्राय चेष्टा या संकेत करता है। पिहित में ऐसा नहीं होता, वहाँ किसी के आंगिक आकार या चेष्टा से उसके गुप्त आन्तरिक भाव को समझ कर दूसरा व्यक्ति उसको प्रगट करने के लिये कोई तत्सूचक चतुर किया करता है।

और प्रगट करता है कि वह उसके भाव को जिसे छिपाया गया था जान गया है।

पिहित

जहाँ आकार के द्वारा किसी लक्षित अर्थ को सूचित किया जावे।

लग्यो स्वेद-कन-धार सों, तिय जल कुंकुम पेखि।
पुरुष पनो सूचित करि, हंसि सखि कर असरेखि॥

कुवलयानन्दकार ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार माना है, परन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यह पूर्वोक्त सूक्ष्मालंकार का ही एक विशेष भेद ठहरता है, और इसमें कोई विशेष विलक्षणता भी सूक्ष्म की अपेक्षा नहीं है। इसी कारण कदाचित् मम्मट, विश्वनाथ एवं अन्य आचार्यों ने इसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया, वरन् सूक्ष्म का ही एक विशेष रूप कहा है।

केशवदास और देव जी को छोड़ कर हिन्दी के अन्य प्रमुख आचार्यों ने भी इसे कुवलयानन्द के आधार पर एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में लिखा है।

भिखारीदास ने लिखा हैः—

"जहाँ छिपी पर-बात को, जानि जनावै कोइ।
तहाँ पिहित भूषन कहैं, छिपी पहेली सोइ॥

इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध गुप्त पहेली से भी है, या उसी की भाँति यह किसी दूसरे व्यक्ति की छिपी या गुप्त बात को प्रकाशित करता है। मतिराम जी ने ठीक कुवलयानन्द के ही आधार पर उसके श्लोक का अनुवाद ही सा करते हुये लिखा हैः-

"जानि पराई वृत्ति जहँ, क्रिया सहित आकूत।"

देखिये अप्पय जी लिखते हैं:—"पिहितं पर-वृत्तान्त ज्ञातुः साकूतचेष्टितम्"। अन्तर यही है कि श्लोक में पर-वृत्तान्त (हाल) दिया हुआ है और मतिराम ने इसके स्थान पर पराईवृत्ति (दूसरे की मनोवृत्ति) दी है। मतिराम जी के अनुसार इसमें दूसरे की मनोवृत्ति को जान कर क्रिया के साथ इशारा किया जाता है।

ठीक इसी प्रकार भूषण जी ने भी लिखा है:—

"पर के मन की जानि गति, ताको देत जनाय।
कछू क्रिया करि, कहत हैं, पिहित ताहि कविराय॥"

जसवन्तसिंह ने बहुत सूक्ष्म और व्यापक (साधारण) लक्षण लिखा है:—

"पिहित, छिपी पर बात को, जानि दिखावै भाइ।"

इसी के आधार पर कदाचित् दास जी ने भी लिखा है।

लछिराम जी ने भी यों ही लिखा है:—

"छप्यो हेरि बिरतांत पर, सहभावन दरसाय।"

गोकुल जी ने इसे व्यंग्य प्रधान एवं चेष्टात्मक माना है:—

"व्यंग्य सहित चेष्टा करै, पर-वृत्तान्तहिं जानि।
पीहित, रति श्रम-स्वेद लखि, बीजन दीन्हो आनि॥"

गोविन्द का भी यही भाव है:—

"पर-विरतन्त समुझि करै, चेष्टा साभिप्राय।"

बस क्रिया के द्वारा दूसरे के मन की बात को प्रकाशित करने ही को इसका लक्षण मान कर रामसिंह, दूलह, और पद्माकर ने भी इसे लिखा है।

नोट:—"पिहित" शब्द का अर्थ है आच्छादित करना या छिपाना। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि एक व्यक्ति अपना वृत्तान्त छिपाता है, किन्तु उसे उसकी किसी चेष्टादि के कारण जान कर

कोई दूसरा व्यक्ति कुछ ऐसी क्रिया या चेष्टा करता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने उस छिपे हुए मर्म को जान लिया।

—सम्पादक

गुप्त मर्म पर को समुझि करै क्रिया जहँ कोय।
तासों प्रगटै जानिबो, पिहित कहावै सोय॥

—अ० कौ०

उत्तर (प्रश्नोत्तर)

इस अलंकार को लोगों ने कई नामों से लिखा है, किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो आधार सबों का एक ही है।

जहाँ चमत्कृत चातुर्य के साथ किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न एवं उत्तर के द्वारा भाव या अर्थ को रोचकता के साथ प्रकाशित किया जाता है वहाँ यह अलंकार माना जाता है।

नोट:—ध्यान देने की बात है कि इस अलंकार पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका वार्तालाप (Dialogue) से भी बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, कह सकते हैं कि यह वार्तालाप सम्बन्धी अलंकार है, और प्रश्नोत्तर-चातुरी का प्रदर्शक है। चातुर्य-चमत्कारपूर्ण प्रश्न करना और उनका उसी प्रकार शीघ्रता से चातुर्य-चमत्कार के साथ उत्तर देना भी एक प्रकार की विशिष्ट एवं आवश्यककला है, और सभा-चातुरी का यह एक अंग-विशेष है। प्रश्नोत्तर-चातुर्य भी सराहनीय, उपार्जनीय एवं श्रवणीय होता है, इसमें भी मनोरंजकता, और चमत्कार-चातुर्य पूर्ण एक विचित्र प्रकार की रुचिर रोचकता होती है। इसे उर्दू में 'हाज़िर जवाबी' कहते हैं। वाक्-पटुता का यह एक सुन्दर अंग है। हम

देख चुके हैं कि आंगिक-संकेतों के आधार पर (जिनका विशेष प्राधान्य नाटक के अभिनयादि में ही होता है तथा जिनसे साधारण व्यवहार एवं बातचीत आदि में बहुत कुछ काम लिया जाता है तथा जिनको आवश्यकता एवं सहायता बहुत से स्थानों पर अनिवार्य ही सी ठहरती है—) हमारे आचार्यों ने उक्त कई अलंकारों की रचना की है, कदाचित् यह देखते हुये कि अभिनय-प्रधान नाटक भी साहित्य के सुन्दर एवं विशेष अंग माने गये हैं और उनमें भी मनोरंजक सौंदर्य एवं चमत्कार-चातुर्य होता है, हमारे आचार्यों ने वार्तालाप एवं वाक्चातुरी अथवा प्रश्नोत्तर-पटुता के आधार पर इस अलंकार की उत्पत्ति की है।

इस अलंकार के प्रथम दो मुख्य रूप दिये गये हैं:—

१—उन्नीत प्रश्नः—जहाँ व्यंग्य पूर्ण उत्तर सुन कर ही तत्प्रश्न की कल्पना हो सके। उन्नीत शब्द का अर्थ है:—उत् (उप०)= ऊपर या पूर्व+नीत (नी धातु-लाना, ले जाना)=ले गया हुआ, लाया हुआ, अर्थात् जहाँ पूर्ववर्ती प्रश्न खोज कर लाया गया हो।

"सुबरन खोजत हौं, फिरौं, सुन्दरि ! देश-विदेश।
दुलभ है यह समुझि जिय, चिंतित रहौं हमेश॥ —का क०

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें उत्तर साभिप्राय भी होता है और निरभिप्राय भी, अर्थात् उत्तरदाता (एवं प्रश्नकर्ता) का कुछ अभिप्राय या मंतव्य-विशेष रहता है, जो प्रायः व्यंग्यात्मक ही रह कर गुप्त होता हुआ भी सूच्य रहता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यहाँ कोई वाक्य (उत्तर वाला वाक्य) प्रश्न के उत्पन्न करने वाले कारण के रूप में नहीं होता, जैसा काव्यलिंग में होता है, हाँ वह प्रश्न का ज्ञान कराने वाला अवश्य होता है, उससे प्रश्न की कल्पना ही की जाती है।

इसी प्रकार इसे हम अनुमानालंकार से भी पृथक कर सकते हैं, क्योंकि अनुमानालंकार में साध्य वस्तु और तत्साधन दोनों दिये जाते हैं, और इसमें एक धर्मीनिष्ठ साध्य एवं साधन नहीं होते, यहाँ केवल उत्तर-वाक्य ही रहता है। कुवलयानन्द एवं अप्पय की अनुमति यह है कि इसमें व्यंग्यार्थपूर्ण उक्ति-चमत्कार, जो ध्वनि का विषय है, प्रधान होता है और अलंकार-चातुर्य नहीं, आवश्यकता इसी बात की है कि उक्ति के द्वारा व्यंग्य भाव को स्पष्ट रूप से प्रगट कर दिया जावे। इसी बात की पुष्टि ध्वनिकार ने भी इस प्रकार की है:—

"शब्दार्थ शक्त्या वा क्षिप्तो व्यंग्यार्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः॥"

अर्थात् शब्द अथवा अर्थ की शक्ति के द्वारा जहाँ कवि अपनी उक्ति से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर दे वहाँ अलंकार के विषय की ही प्रधानता माननी चाहिये, न कि ध्वनि की। मम्मट जी के काव्य प्रकाश की टीका लिखते हुये टीकाकार ने इसको एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में ही रखना उचित कहा है।

२—निबद्ध प्रश्नः—जहाँ कई प्रश्नों के किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिये जावें।

"कहा विषम ? है दैवगति, सुख कह ? तिय गुनवन्त।
का दुर्लभ ? गुन-गाहकहि, दुख ! दुरजनहिं अतन्त॥"

—का० क०

नोटः—इसे हम प्रश्नोत्तरमाला भी कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ कई प्रश्न और कई उत्तर होते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने इन दोनों भेदों के प्रश्नोत्तरों को व्यंग्य-युक्त साभिप्राय और व्यंग्य-रहित निरभिप्राय रूपों में दिखलाया है। द्वितीय भेद के व्यंग्य युक्त रूप को यों देखियेः—

"सुन्दरि ! कस तन दूबरो ? पर तिय बातन काह ।
तदपि कहौ ! कहि है पथिक ! जाके हौ तुम नाह ॥"

ध्यान रखना चाहिये कि यह द्वितीय भेद 'परिसंख्या" नामी अलंकार से पृथक ही है, क्योंकि यहाँ उत्तर अप्रसिद्ध है, किसी दूसरी वस्तु का वर्जन नहीं है, विषम उत्तरों के ही प्रधान होने से तात्पर्य है और वाच्यार्थ में ही यहाँ पर्याप्त विश्रान्ति है, किन्तु ऐसा परिसंख्या में नहीं होता, वहाँ उत्तर लोक-प्रसिद्ध होता है और उसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु के वर्जन से ही मंतव्य होता है, और यह वर्जन प्रधान भी होता है ।

द्वितीयोत्तरः—जहाँ प्रश्न-वाक्य में ही उत्तर रक्खा हो ।

'को कहियो जल सो सुखी, का कहिये पर स्याम ।
का कहिये जे रस बिना, को कहिये सुख वाम ॥"

—का क०

नोटः—उक्त उदाहरण को हम पद-भंग श्लेषात्मक प्रश्नोत्तर के रूप में भी मान सकते हैं, क्योंकि यहाँ 'को कहियो' प्रश्न के पदों को भंग करने से ('कोक हियो' करने से) उत्तर निकल आता है । जहाँ ऐसा न हो कर केवल शब्दों के वाच्यार्थ से ही उत्तर निकल आवे वहाँ इस भेद का शुद्ध रूप जानना चाहिये ।

तृतीयोत्तरः—जहाँ कई प्रश्नों का एक ही उत्तर हो । इसके भी दो भेद मुख्यतया हो सकते हैं:—

१—प्रश्न-गतोत्तर (दत्तोत्तर)—जहाँ प्रश्नों के साथ उत्तर भी चातुरी के साथ दिया हुआ हो ।

२—सूच्योत्तर—जहाँ उत्तर की सूचना ही दी गई हो, और उसे खोज कर बाहर से ही लाना पड़े ।

नोटः—उक्त भेदों के साथ श्लेषादि का सामंजस्य करके इसके अन्य कई उपभेद किये जा सकते हैं । उन्हें हम संकीर्णोत्तर के भेद

कह सकते हैं। सर्वत्र यह ध्यान रहना चाहिये कि चातुर्य-चमत्कार का ही प्राधान्य रहे, अन्यथा यह अलंकार ही न रह जावेगा। उक्त भेदों को अन्तर्लापिका एवं वहिर्लापिका भी कहते हैं:—

१—मंगल होत कहूँ 'सिवराज'
कहौ केहि के दुख होत विशेषै।
कौन सभा-बिच बैठि न सोहत,
को नहिं जानत चित्त परेखै॥
कौन निशा शशि को न उदोत भो,
का लखि कै विरही दुख लेखै।
बाँझ कुपूत बिना अँखियान, कुहू,
निसि मैं ससि पूरन देखै॥

२—को भेदत कुंजर-सिरहिं ? मुग्धा रति का बोल ?।
संम्बोधन नृ को कहा ?, रक्तपित्त को खोल ?॥
—उत्तर है, सिंहाननः

मम्मट जी ने इसे एक बहुत साधारण रूप में ही लिखा है:—
..................."उत्तर श्रुति मात्रतः"।

१—प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वासति।
२—असकृद् यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्॥ —का० प्र०

इस प्रकार उक्त प्रकारेण आपने इसके दो ही मुख्य भेद दिखलाये हैं:—

विश्वनाथ जी ने इसके ८ भेद इसका लक्षण यों देते हुये दिये हैं:—

"उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नये यदि।
यच्चासकृतसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्॥
"प्रश्नेऽसति यद्युत्तरात्प्रश्नस्योन्नेयः कल्पनं तदेकमुत्तरम्।

अपिच असकृत्प्रश्नेनसति यदसंभाव्यं संभावयितुमशक्यमस-कृतदुत्तरं प्रति वचनं तत्पुनरपरमुत्तरमिति योजना। अयंच उत्तरा-लंकारो द्विविधोऽपि प्रश्नोत्तरयोरन्यतरस्योभयोश्च साभिप्रायत्वेन निरभिप्रायत्वेन च चतुर्विध इत्यष्टधा।"

अप्पय जी ने इसको सूक्ष्म ही रूप में लिखा है और केवल दो ही मुख्य भेद दिखलाये हैं:—

१—किंचिदाकूत सहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्।

२—प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते॥

द्वितीय भेद को आपने "चित्रोत्तर" के नाम से लिखा है। इस प्रकार इस अलंकार के विषय में आचार्यों में खूब मत-भेद है, स्थानाभाव से हम उसे सूक्ष्म ही रूप में दे सके हैं।

हिन्दी के प्रमुख आचार्योंमें से मतिराम, जसवन्तसिंह और देव जी को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने इसे लिखा है, और पर्याप्त मत-भेद दिखलाया है, हम सूक्ष्मतया ही उसे यहाँ दे रहे हैं:—

केशवदास ने चित्र-काव्य एवं काव्य-चातुरी के प्रकरण में इसके निम्न भेद एवं लक्षण दिये हैं:—

१—गूढोत्तर—"उत्तर जाको अति दुरयो, दीजै केशवदास।"

२—एकानेकोत्तर—क—एकहि उत्तर में जहाँ, उत्तर गूढ़ अनेक।

ख—उत्तर एक समस्त को, व्यस्त अनेकन मानि।

जोरि अंत के वर्ण सों, क्रम ही बरण बखानि॥

३—शसनोत्तरः—तीनि तीनि शासननि को, एकहि उत्तर जानि।

४—प्रश्नोत्तरः—जोई आखर प्रश्न के, तेई उत्तर जान।

इसके पश्चात् आपने गतागत, अनुलोमानुलोमपादादि का वर्णन किया है, जो अलंकारों से सम्बन्ध न रख कर कला-चातुर्य-पूर्ण चित्र-वैचित्र्य से ही पूर्ण सम्बन्ध रखते हैं। आगे आपने

प्रहेलिका, अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका और मुरकी आदि का वर्णन किया है। इन सब में भी प्रश्नोत्तर अलंकार का सामंजस्य देखा जाता है।

भिखारीदास ने इसे उत्तर के ही नाम से न लिख कर प्रश्नोत्तर के नाम से ही लिखा हैः—

१—"उत्तर दीबे मैं जहाँ, प्रश्नौ परत लखाय।
२—छोड़ि वा कह्यो, वा कह्यो, प्रश्नोत्तर कहि जाय॥

इन दो रूपों के पश्चात् आपने एक रूप और दिया है और उसे आपने उत्तरोत्तर के नाम से यों लिखा हैः—

३—उत्तरोत्तरः—एक एक ते सरल लखि, अलंकार कहि सारु।
याही को उतरोत्तरै, कहै जिन्है मति चारु॥

किन्तु इसका सम्बन्ध विशेष रूप से प्रश्न और उत्तर से नहीं है, अतः हम इसे एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में पृथक् ही मान सकते हैं।

टीकाकार (सम्पादक) ने इसे कारण-माला का एक भेद माना है, और ऐसा ही हो भी सकता है।

भूषण जी ने उत्तर के स्थान पर प्रश्नोत्तर नाम रखते हुए इसे इस प्रकार लिखा हैः—

"कोऊ बूझै बात कछु, कोऊ उत्तर देत।
प्रश्नोत्तर ताको कहत, भूषण सुकवि सचेत॥"

इससे स्पष्ट है कि आप दो व्यक्तियों में होने वाले स्वाभाविक प्रश्नों और उत्तरों की शृंखला को ही प्रश्नोत्तर अलंकार मानते हैं, आपने इस प्रकार इसे वार्तालाप पर ही समाधारित माना है। और यही एक व्यापक एवं साधारण रूप तथा लक्षण देकर इसकी इतिश्री कर दी है।

लछिराम जी ने इसे चित्रोत्तर के नाम से लिखा हैः—

१—प्रश्नहि में उत्तर जहाँ, प्रथम भेद परमान।

२—बहुत प्रश्न को उतर इक, चित्रोत्तर जुन जान॥

इसके पश्चात् आपने गूढोत्तर दिया है, जिसे हमारे आचार्यों ने एक स्वतंत्र एवं पृथक् अलंकार माना है। हम भी उसे पृथक् ही दे रहे हैं।

गोकुल ने भी चित्रोत्तर के नाम से इसे यों लिखा हैः—

"चित्रोत्तर जहँ प्रश्न ते, उत्तर कही न आन।"

गोकुल कवि ने इसे केवल चित्र के ही नाम से यों लिखा हैः—

"प्रश्नहि में उत्तर, उतर, बहु प्रश्ननि को एक।
द्वै विधि चित्र विचित्र मति, कहत सुकवि सविवेक॥"

ठीक इसी प्रकार रामसिंह, और पद्माकरादि ने भी लिखा है, ये ही दोनों भेद इन्हीं लक्षणों के साथ इन्होंने भी दिखलाये हैं, और कोई विशेषता नहीं दी। दूलह जी ने इसके एक ही रूप को चित्र नाम से यों लिखा हैः—

"प्रश्न ही में एक दोय उत्तर अभिन्न, चित्र........."

इससे स्पष्ट है कि इसका विकाश केशव ने अच्छा किया है और आचार्यों ने तो इसे संक्षेप में ही लिखा है।

मतिराम जी ने भी चित्र नाम से एक ऐसा ही अलंकार लिखा है और उसके दो रूप यों दिये हैंः—

१—जहँ बूझत कछु बात कौं, उत्तर सोई बात।"

२—बहुती बातन को जहाँ, उत्तर दीजै एक॥

१—सरद चंद की चाँदनी, को कहिये प्रतिकूल।
सरद चंद की चाँदनी कोक हिये प्रतिकूल॥

२—को हरि बाहन, जलधिसुत, को निशि-सुषमा साज।
तहाँ चतुर उत्तर दियो, एक वचन द्विजराज॥

प्रश्नोत्तर के निम्न मुख्य रूप हो सकते हैं:—

१—द्वोव्यक्तिगतः—एक प्रश्नकर्ता और दूसरा उत्तरदाता हो।

२—एक व्यक्तिगतः—जहाँ प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों एक ही व्यक्ति हो, अर्थात् प्रश्नकर्ता ही अपने प्रश्न का उत्तर देता हो।

१—द्वोव्यक्तिगतः—क—एक पक्षीय, विपक्षीय। परिचित
ख—दोनों अपरिचित

प्रश्न—(जिज्ञासात्मक)

१—साभिप्राय २—अनभिप्राय और फिर १—साधारण २—विशेष फिर (पुनश्च) १—सूच्योत्तर—जो अपने उत्तर की सूचना देता हो।

क—स्वीकार सूचक

ख—अस्वीकार सूचक

२—गुप्तोत्तर (असूच्योत्तर)—जो अपने उत्तर की सूचना न दे, वरन् खोजने या विचारने पर उत्तर प्राप्त हो सके, यथा—बहिर्लापिका आदि में

३—लुप्तोत्तर—जहाँ प्रश्न ही में उत्तर रक्खा हो और तनिक ध्यान देने से मिल जावे। यथा अन्तर्लापिकादि एवं पहेली आदि में।

पुनश्चः—१—व्यक्ताशय—जहाँ प्रश्न का आशय व्यक्त हो।

२—अव्यक्त प्रश्न—जहाँ प्रश्न व्यक्त न हो किन्तु सूच्य ही हो, यथा पहेली आदि में। इसी प्रकार व्यक्त प्रश्न एवं व्यक्ताव्यक्तोत्तर के भेद जानो।

३—वक्र प्रश्न—जहाँ प्रश्न टेढ़े ढंग से किया गया हो।

पुनश्चः—१—व्यंग्यात्मक—जहाँ किसी प्रकार व्यंग्य का भाव भी प्रश्न में हो।

२—वाच्यात्मक—जहाँ प्रश्न का भाव या अर्थ स्पष्ट ही हो।

पुनश्चः—१—अनलंकृत—जहाँ कोई भी अन्य अलंकार न हो।

२—अलंकृत—जहाँ अलंकारों से प्रश्न पुष्ट हो।

१—श्लेषात्मक—जहाँ प्रश्नगत शब्द श्लिष्ट हो।

२—अन्योक्तिपूर्ण—एवं इसी प्रकार के अन्य रूप।

जिस प्रकार यहाँ प्रश्नों के भेदोपभेद किये गये हैं उसी प्रकार उत्तरों को भी हम यों विभक्त कर सकते हैं:—

उत्तरः—१—साभिप्राय २—अनभिप्राय

पुनश्च १—साधारण २—विशिष्ट

१—प्रश्न सूचकः—१—स्वीकार सूचक २—अस्वीकार सूचक

२—अप्रश्न सूचक—जो प्रश्न की सूचना न दे।

३—प्रश्नांशावृत्ति—जहाँ प्रश्नगत किसी वाक्य या पद की आवृत्ति उत्तर में हो।

क—पूर्ण—जहाँ प्रश्नात्मक पदों को छोड़ कर (यदि वे हैं) शेष पूर्ण वाक्य की आवृत्ति करके उत्तर दे दिया जावे।

ख—न्यूना—जहाँ प्रश्न के थोड़े ही से अंश की आवृत्ति उत्तर में हो।

पुनश्चः—१—शब्दात्मक—जहाँ केवल एक या दो ही शब्दों में उत्तर हो।

२—पदात्मक—जहाँ कुछ शब्दों के एक पद या वाक्यांश में उत्तर हो।

३—वाक्यात्मक—जहाँ एक या अधिक वाक्य उत्तर को पूर्ण करें।

४—संकेतात्मक—जहाँ आँगिक संकेतों से ही उत्तर दिया जावे।

पुनश्च—१—व्यंग्यात्मक—२—वाच्यात्मक—

पुनश्च—१—प्रश्नात्मकोत्तर जहाँ किसी प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा जावे वह भी प्रश्न वाची वाक्य ही सा हो।

२—अप्रश्नात्मक—उक्त रूप का विलोम रूप।

पुनश्चः—१—अनलंकृतः—जहाँ अन्य अलंकार न हो।

२—अलंकृत—जहाँ अलंकारों से उत्तर पुष्ट होः—

क—श्लेषात्मक—ख—अन्योक्तिपूर्ण एवं अन्य रूप।

प्रश्नोत्तराभास—जहाँ प्रश्नोत्तर का आभास मात्र ही हो।

नोटः—अन्तर्लापिका, और वहिर्लापिका के विषय में केशवदास ने यों लिखा हैः—

१—"उत्तर बरण जु बाहिरै, बहिर्लापिका होइ।
अन्तर अन्तर लापिका, यह जानै सब कोइ॥"

अर्थात् जहाँ प्रश्नों के उत्तर वाले शब्द या वर्ण बाहर से ही लाने पड़ें, छंद या प्रश्नों में वे न दिये हों, वहाँ तो वहिर्लापिका, और जहाँ वे (उत्तर सम्बन्धी वर्ण या शब्द) छंद में ही प्रश्नों के साथ दिये हों वहाँ अन्तर्लापिका होती है।

कहीं कहीं प्रहेलिका में भी प्रश्नोत्तर एवं वहिर्लापिका और अन्तर्लापिका का सामंजस्य होता है।

गूढोत्तर

इसे अप्पय, मम्मट, एवं विश्वनाथादि संस्कृत के आचार्यों ने नहीं लिखा, किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने इसे एक स्वतन्त्र अलंकार मानते हुए दिया है। कदाचित् संस्कृत के आचार्यों ने इसे उत्तर का ही एक भेद माना है। उत्तरकालीन आचार्यों ने इसका वही लक्षण दिया है जो साभिप्रायोत्तर का प्रथम दिया जा चुका है। जान पड़ता है कि इन लोगों ने इसे सरलता के ही कारण पृथक् लिखा है। हाँ, कुछ आचार्यों ने इसके लक्षण भी विलक्षण दिये हैं, जिनके देखने से जान पड़ता है कि यह एक स्वतन्त्र एवं पृथक् अलंकार ही है।

केशव ने तो इसे उत्तर का ही एक विशेष भेद मान कर यों लिखा है :—

"उत्तर जाको अति दुरयो, दीजै 'केशवदास'।
गूढोत्तर तासों कहत, बरणत बुद्धि विलास॥"

अर्थात्—जहाँ किसी प्रश्न का उत्तर बहुत निगूढ या छिपा हुआ दिया जावे, वहाँ गूढोत्तर कहना चाहिये। अब यह स्पष्ट नहीं कि उत्तर को गूढ़ एवं गुप्त रूप में रखने के लिये किन किन उपायों या साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिये। लक्षणा, व्यंजना आदि से भी, हमारी समझ में यहाँ पर्याप्त सहायता ली जा सकती है।

मतिराम जी ने लिखा है:—

"अभिप्राय सों सहित जो, उत्तर कोऊ देय।
तिहि गूढोत्तर कहत हैं, सुकवि सरस्वति सेय॥"

दास जी ने भी ठीक इसी प्रकार लिखा है:—

"अभिप्राय के सहित जो, उत्तर कोऊ देइ।
ताहि गूढ़ उत्तर कहत, जानि सुमति जन लेइ॥"

नोटः—अब देखिये गूढोक्ति का भी लक्षण और दोनों की तुलना कीजिये, अन्तर केवल यही जान पड़ता है कि इसमें उत्तर का भाव प्रधान रहता है और गूढोक्ति में प्रश्नोत्तर का भाव नहीं रहता, किन्तु साभिप्राय बात दोनों में निष्ठ है (उभयनिष्ठ है) अर्थात् दोनों में समान हैं।

"अभिप्राय जुत जहँ कहिय, काहू सों कछु बात।"

कह सकते हैं कि गूढोत्तर इस प्रकार की गूढोक्ति का एक विशिष्ट रूप ही है।

जसवन्तसिंह ने इसे यों लिखा हैः—

"गूढोत्तर, कछु भाव तें, उत्तर दीन्हे होत।"

भूषण जी ने इसे लिखा ही नहीं। लछिराम ने इसे ठीक मतिराम या दास जी के ही समान लिखा हैः—

"देय जहाँ उत्तर कोऊ, अभिप्राय के साथ।"

गोकुल कवि ने इसका एक विलक्षण लक्षण यों दिया हैः—

"गूढोत्तर, उत्तर जहाँ, चतुराई जुत होय।"

अर्थात् जहाँ चातुर्य-पूर्ण (किस प्रकार का चातुर्य? यह स्पष्ट नहीं है) उत्तर दिया गया हो वहाँ गूढोत्तर होता है। कह सकते हैं कि यह लक्षण बहुत कुछ केशव के ही मतानुसार दिया गया है।

गोविन्द ने इसके दो भेद यों दिये हैंः—

१—"अभिप्राय जुत ज्वाब जहँ, कहि गूढोत्तर सोइ।

२—प्रश्न जानि लीजै कहुँ, कहु पूछे पर होइ॥"

इससे स्पष्ट है कि आप वास्तव में उत्तरालंकार के दो भेदों के ही लक्षण दे रहे हैं न कि गूढोत्तर का लक्षण लिख रहे हैं।

"अभिप्राय सों उत्तर कहै" यों लिखकर रामसिंह जी मतिराम और दास के ही मतों को स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं।

ठीक इसी प्रकार मतिराम और दास के ही आधार पर दूलह और पद्माकर भी इसकी परिभाषायें लिखते हैं।

सांकेतिक गूढोत्तर

१—आंगिक—

२—पदार्थादि सम्बन्धी—

"होत कहा बन सखि सरै, बूझ्यो हरि हँसि हेरि।
चाउर, हरदी, पुंगिफल, गई सखी हँसि गेरि॥"

नोटः—जहाँ उत्तर का अभिप्राय एवं भाव गूढ या गंभीर होता है वही गूढोत्तर मानना चाहिये। इस शब्द का अर्थ भी यही है। इसके दो रूप हो सकते हैं, १—जहाँ केवल उत्तर ही कहा गया हो और उसी से उसके प्रश्न की कल्पना की जावे। २—उत्तर और प्रश्न दोनों स्पष्ट रूप से दिये गये हों।

उदात्त

जहाँ किसी वस्तु या विषय की अत्यन्त उन्नति या समृद्धि आदि का वर्णन किया जावे वहाँ उदात्त अलंकार माना जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि इसमें समृद्धि का उतना उत्कृष्ट एवं अत्यन्त वर्णन होता है कि जितनी उत्कृष्ट समृद्धि का होना वस्तुतः असम्भव ही होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि इसका आधार अत्युक्ति या अतिशयोक्ति ही है, और इसकी सम्भूति केवल कवि की कल्पना में ही होती है।

छाइ रही सम्पति सकल, आइ जनकपुर माँहि।
जानि परै ह्वै है नहीं, कछु कुबेरपुर पाँहि॥

इसका दूसरा रूप वहाँ होता है जहाँ किसी वर्ण्य (वर्णनीय) विषय या वस्तु की समृद्धि या महत्ता, किसी महिमा वाले महा पुरुष या पदार्थादि विषय के अंग-भाव के साथ (के कारण) दिखलाई गई हो।

यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यह उदात्त का हेत्वात्मक या आश्रित रूप ही है, क्योंकि इसमें वर्ण्य विषय की महत्ता का हेतु महापुरुष की महिमा के रूप में रहता है और उसी पर वर्णनीय वस्तु का गौरव आश्रित भी रहता है।

मम्मट जी ने ठीक इसी प्रकार इसे माना है:—

"उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महता चोपलक्षणम्" —का० का०

सम्पत से यहाँ समृद्धि-योग का और उपलक्षण से अंग-भाव का तात्पर्य है। ध्यान देना चाहिये कि इसमें अतिशय का भाव स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया, किन्तु विश्वनाथ जी ने स्पष्ट रूप से लिखा है:—

"लोकातिशय संपत्तिवर्णनोदात्त मुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतांगस्यांगं महता चरितं भवेत्॥" सा० द०

इससे ज्ञात होता है कि इसके एक रूप में अतिशय का और द्वितीय रूप में महापुरुष के अंगभाव का प्राधान्य रहता है। इसीको अप्पय जी ने सूक्ष्म रूप से यों रक्खा है—

"उदात्तमृद्धेश्चरितंश्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्" चं०, कु०

हिन्दी के प्रधान आचार्यों में से केशव को छोड़ कर शेष सभी ने इसे दिया है।

मतिराम ने इसे यों दिया है—

"सम्पति को अधिकार जो, अरु उपलक्षण और।
सो उदात्त द्वै भाँति को, बरनत कवि-शिर मौर॥"

तात्पर्य यह है कि यहाँ सम्पत्ति और उपलक्षण में अत्युक्ति की महत्ता होती है। भूषण ने भी यों ही लिखा है:—

"अति सम्पति बरनत जहाँ, तासों कहत उदात।
कै आनै सुलखाइये, बड़ी आन की बात॥"

इससे भी स्पष्ट है कि इसका आधार अत्युक्ति ही है, साथ ही इसके एक भेद में अन्य व्यक्ति की महत्ता का, बहुत कुछ अंश में किसी अन्य वस्तु पर, जो उसके सम्पर्क में रहती है, आरोपण सा होता है और उससे उस वस्तु में भी महत्ता आ जाती है।

जसवन्तसिंह ने केवल दूसरे ही रूप को लिखा है:—

"उपलच्छन दै सोचिये, अधिकाई सो उदात्त।"

भिखारीदास ने इसे इस प्रकार लिखा है:—

१—"है उदात्त, महत्त अरु, सम्पत्ति को अधिकार।
२—संपति की अत्युक्ति को, सब कवि कहैं उदात॥
जहँ उपलछन बड़ेन को, ताहू को यह बात।"

आपकी प्रथम परिभाषा द्वितीय का सूक्ष्म रूप ही हैं। इससे स्पष्ट है कि इसे अत्युक्ति का एक संकीर्ण रूप (संपत्यात्युक्ति) ही मानना चाहिये, क्योंकि इसमें उसी का प्राधान्य रहता है।

इसके दूसरे रूप में वे यह दिखलाते हैं कि बड़े आदमियों के उपलक्षण भी बड़े ही होते हैं। ठीक इन्हीं भावों के साथ लछिराम जी ने भी इसे लिखा है—

"संपति-महिमा को जहाँ, बरनै अधिक प्रवीन।
दीरघ जन उपलक्षणौं, है उदात्त रस लीन॥"

आपके ही समान गोकुल जी ने भी लिखा है—

"श्लाघ्य चरित रिधि अन्य को, अन्योपलछित होत।"

इसमें आपने चरित्र की प्रशंसा भी रख दी है। रामसिंह ने केवल चरित्र की ही प्रशंसा में यह अलंकार माना है:—

" चरित-प्रशंसा कीजे, तहँ उदात्त कहि दीजै ॥"

गोविन्द जी ने इसे कुछ और ही प्रकार से दिया हैः—

"कोऊ काहू का कितौ, अंग बखान्यो होइ।"
संपत्ति कै अति उक्ति कै, कहि उदात्त विधि दोइ ॥"

दूलह जी ने ठीक गोकुल जी के ही मतानुसार लिखा है, हाँ स्थान-महत्ता का भाव और रख दिया हैः—

"रिद्धिवन्त स्थान श्लाघ्य चरित भनै उदात......"

पद्माकर ने भी इन्हीं लक्षणों को माना है और यों लिखा है—

"अति उत्तम कछु वस्तु सो, है काहू को अंग।
कै समृद्धि अँग आन को, द्विविधि उदात अभङ्ग ॥"

देव जी ने कान्ति का भाव और बढ़ाकर इसे यों दिया हैः—

" उदात्त में अति बरनिये, सम्पति दुति अवलेप।"

अब सारांश यह हुआ कि इसमें अत्युक्ति के साथ होना चाहियेः—

१—सम्पति-वर्णन या समृद्धि आदि का वर्णन।

२—श्लाघ्य चरित्र का वर्णन।

३—महापुरुषों के बड़े उपलक्षणों का वर्णन।

४—कान्ति, महिमा आदि का वर्णन।

५—बड़ों से सम्बन्ध या सम्पर्क रखने वालों की महत्ता का वर्णन।

अब यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो यह अत्युक्ति का ही एक विशिष्ट रूप जान पड़ता है।

इसके अन्य रूप यों हो सकते हैंः—

स्पष्ट—जहाँ स्पष्ट रूप से समृद्धि एवं उपलक्षणों आदि का कथन होः—

सूच्याः—जहाँ केवल उनकी सूचना ही दी जावे।

"सुकवि 'रसाल' कहै कहा, जैसो कोशल धाम।
इतने ही ते जानिये, नृपति रहे तहँ राम॥"

नोटः—गुण, कर्म, स्वभाव एवं रूपादि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन को भी यहाँ ले सकते हैं, किन्तु प्रायः ऐसे वर्णन अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति ही में चले जाते हैं।

जिस प्रकार सम्पत्ति आदि के अतिशय वर्णन में उदात्त माना जाता है उसी प्रकार दीनता एवं निर्धनतादि (तथा नीच से सम्बन्ध रखने वालों की नीचता) के अतिशय वर्णन में हम 'अनुदात्त' (लघिष्ट एवं निकृष्ट) अलंकार मान सकते हैं। यह उदात्त का प्रतिद्वन्द्वी एवं विलोम होगा। साथ ही जहाँ उदात्त के भाव का आभास मात्र ही हो वहाँ हम उदात्ताभास तथा जहां उदात्त को अन्य किसी अलंकार से पुष्ट किया गया हो, वहाँ हम 'पुष्टोदात्त' कह सकते हैं।

भाविक

जहाँ भूत एवं भविष्य कालीन बातों का वर्णन वर्तमान एवं प्रत्यक्ष की भाँति किया जावे वहाँ भाविकालंकार माना जाता है।

"का सुख सुखमा बरनिये, ताकी सुकवि 'रसाल'।
जा ब्रज में बिहरत लगैं, अजहूँ रसिक गोपाल॥"

नोटः—यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यहाँ विस्मय का भी कुछ भाव भीतर भरा रहता है, अतः कह सकते हैं कि इसका कुछ थोड़ा सा सम्बन्ध अद्भुत रस से भी है, हाँ यह बात अवश्य है कि अद्भुत रस तो सब प्रकार पूर्णतया विस्मय-स्वरूप होता है, किन्तु यह विस्मय का हेतु-स्वरूप होता है। विश्वनाथ जी ने इसी बात को दिखलाते हुए यों लिखा हैः—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्यार्थं भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥"

अर्थात् भूत एवं भविष्यकाल सम्बन्धी अद्भुत पदार्थों को जहाँ प्रत्यक्षमाण रूप दिया जावे वहाँ भाविक जानना चाहिये।

मम्मटजी ने अद्भुतता का भाव नहीं रक्खा और एक साधारण परिभाषा यों दे दी है "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूत भाविनः।" इसी प्रकार अप्पय जी ने भी लिखा है, और आपने भी अद्भुतता का भाव नहीं दिया। "भाविक, भूतभाव्यर्थ साक्षात्कारस्य वर्णनम्"।

हिन्दी में केवल केशवदास को छोड़ कर शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे लिखा है, किन्तु इन लोगों ने इसे कुछ दूसरे ही आधार-प्रकार से दिया है। मतिराम जी ने तो अप्पय जी के ही आधार पर यों लिखा है—

"जहाँ भयो (भूत) भावी अरथ, बरनत हैं परतच्छ।"

ठीक इसी प्रकार भूषण ने भी दिया है—

"भयो, होनहारा अरथ, बरनत जहँ परतच्छ॥"

इसी प्रकार भिखारीदास जी भी लिखते हैं:—

"भूत, भविष्यत बात को, जहँ बोलत ब्रतमान।"

इससे यह भी प्रकट होता है कि जहाँ भूत एवं भविष्यत कालीन बात को वर्तमान काल में कहते हैं वहाँ यह अलंकार होता है। यदि इस प्रकार इसे लिया जावे तो यह पूर्णतया व्याकरण-सम्बन्धी एवं काल-सम्बन्धी अलंकार ठहरता है और इस सूत्र पर निर्भर होता हुआ जान पड़ता है—"वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा" यथा—'रामचन्द्र जी सीता एवं लक्ष्मण के साथ पंचवटी में आकर निवास करते हैं'—इसे ऐतिहासिक वर्तमान (Historic Present) काल कहते हैं, इसी प्रकार कहा जाता है कि "तीन ही चार दिन में

श्याम आ रहा है, अब विशेष विलम्ब नहीं है।" इस काल का प्रयोग प्रायः उपन्यासों, एवं नाटकों में विशेष रूप से देखा जाता है।

जसवन्तसिंह ने भी यों ही लिखा है—

"भाविक, भूत, भविष्य जो परतछ कहै बताइ।"

अन्य सभी प्रमुख आचार्यों ने भी इसका यही लक्षण दिया है, किसी ने भी कुछ विशेषता नहीं दिखलाई, अतः हम उनकी दी हुई परिभाषाओं का देना यहाँ उचित नहीं समझते।

देव जी ने इसके लक्षण में कुछ विशेषता यों दिखलाई है:—

"भूतरु भावी अरथ के, वर्तमान सु बखान।"

यहाँ तक तो आप अब आचार्यों के साथ ही चल रहे हैं किन्तु

"भाविक वस्तु गँभीर को, सोई भाविक जान।"

इस पंक्ति से वे सूचित करते हैं कि भाविक में जो बात कही जावे वह भाव-गाम्भीर्य रखती हुई गूढ़ार्थ युक्त हो। इस प्रकार यह एक विशेष भाव इस परिभाषा में आ जाता है।

इसी अलंकार के साथ भूषण जी ने एक और नया अलंकार दिया है, जो अन्य किसी भी आचार्य के द्वारा कदाचित् स्वतन्त्र रूप में नहीं दिया गया, वह यह है:—

भाविक-छवि

भूषण जी लिखते हैं—

"जहँ दूरस्थित वस्तु को, देखत बरनत कोय।
'भूषन' भूषन राजमनि, भाविक छवि सो होय॥"

भू० ग्र० पृ० ११४

अर्थात् जहाँ दूरवर्ती (दूरस्थित अर्थात् दूर स्थान वाली) वस्तु को कोई (इस प्रकार) देखता एवं कहता है (मानो वह समीप ही हो) वहाँ भाविक-छवि नामी अलंकार जानना चाहिये।

नोटः—भूत एवं भविष्य काल (दूरवर्ती समय) सम्बन्धी बातों को प्रत्यक्षीकृत रूप देने में जैसे चातुर्य-चमत्कार पूर्ण मनोरञ्जकता आती है वैसे ही वस्तुतः दूरवर्ती वस्तु का समीपवर्ती वस्तु के समान अनुभव करने एवं वर्णन करने में भी चमत्कार रहता है, अतः इसे भी अलंकार मानना चाहिये और इसका नाम भाविक-छवि होना चाहिये। विचार वास्तव में मौलिक और उचित ही है। कवि ऐसा करता ही है और ऐसे उदाहरण एक बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त भी होते हैं।

हाँ यह भी हो सकता है कि इसे भाविक का दूसरा भेद या रूप कह या मान लिया जावे और इसे स्वतन्त्र स्थान देकर पृथक् न रक्खा जावे।

भाविक के कुछ मुख्य भेद यों हो सकते हैंः—

सोत्प्रेक्षाः—का छवि सुख बरनन करै, ताकी सुकवि 'रसाल'।
बिहरत जा ब्रज भूमि मैं, अजौं मनौ गोपाल॥

संकीर्ण (यथा औपम्यात्मक)—जहाँ किसी अन्य अलंकार की भी पुट हो।

मन्दिर मथुरा के भले, जे हैं अति प्राचीन।
सुघर सबै विधि सजि रहे, जैसे बने नवीन॥

१—समय सूचक पदपूर्ण—जिसमें समय सूचक पद स्पष्ट दिये गये हों।

२—समय सूच्या—जिसमें समय की बिनीत सूचक शब्दों या पदों के ही अन्य प्रकार से सूचना दी गई हो। यथा—उक्त उदाहरण में।

नोटः—भामह ने भाविक को एक प्रकार का गुण माना है और लिखा है—"भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्ध-विषयः गुणः" और इस प्रकार आपने गुणों और अलंकारों को एक ही बना दिया है, जिस प्रकार दंडी महाराज ने दस गुणों को अलंकार (व्यापकार्थ में लेते हुए) कह कर दोनों को एक कर दिया है।

केशव ने प्रतिषेध की परिभाषा ऐसी दी है जो इस अलंकार की परिभाषा से समानता रखती है :—

"तीनहु काल बखानिये, भयो जु भावी होत।
कविकुल को कौतुक कहत, यह प्रतिषेध उदोत॥"

विधि

जहाँ किसी सिद्ध (प्रतिपादित) वस्तु या विषय के प्रसिद्ध विधान को छोड़ कर उसके स्थान पर कुछ विशिष्ट अर्थान्तर एवं अभिप्राय के साथ कल्पना के द्वारा पुनः नया विधान किया जावे, वहाँ विधि अलंकार माना जाता है।

रे हस्त ! दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्र मुनौ कृपाणं।
रामस्य गात्रमसि दुर्वह गर्भ-खिन्न,
सीता-विवासन-पटे ! करुणा कुतस्ते॥
—उत्तर रामचरित्र

मम्मट और विश्वनाथ आदि अन्य आचार्यों ने इसे नहीं लिखा। उक्त लक्षण अप्पय जी का ही लिखा हुआ हैः—

"सिद्धस्यैव विधानं यत्तदाहु विध्यलंकृतिम्।"

हिन्दी के प्रमुख आचार्यों में से केशव, भूषण और देव ने भी इसे नहीं लिखा, इन लोगों के मत से कदाचित् इसमें कोई अलंकारिता नहीं है। अन्य आचार्यों ने इसे अप्पय जी के ही आधार पर लिखा है। मतिराम ने लिखा है:—

"जहाँ सिद्धि ही बात कौ, करत प्रसिद्ध बखान।"

जसवन्तसिंह ने भी यों ही लिखा है:—

"अलंकार विधि, सिद्ध जो, अर्थ साधिये फेरि।"

बस ठीक इसी प्रकार लछिराम, गोकुल, गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर आदि ने भी लिखा है। प्रायः सभी आचार्यों ने अप्पय जी के ही श्लोक का अनुवाद किया है।

विधि के मुख्य रूप ये हो सकते हैं।

१—लोक-सिद्ध बात को फिर सिद्ध करना—

२—तर्क-सिद्ध बात को दूसरे प्रकार फिर सिद्ध करना—

३—किसी सिद्ध एवं प्रसिद्ध बात कौ किसी काल्पनिक तर्क से फिर सिद्ध करना।

नोटः—यहाँ सिद्ध विषय की सिद्धि का विधान रहता है किन्तु निरुक्ति में किसी भी मनमाने विषयार्थ की कल्पना की जाती है, यही दोनों में भेद है।

प्रतिषेध

जहाँ किसी ऐसे विषय या वस्तु का निषेध कुछ अर्थान्तर एवं अभिप्राय के साथ किया जावे, जिसका निषेध एवं अनुकीर्तन प्रसिद्ध एवं लोकप्रख्यात हो।

नहिं खरदूषन, बालि मैं, रावन त्रिभुवन-वीर।
नहिं कबन्ध-रन राम! यह, रावन-रन गंभीर॥

नोटः—प्रायः इसमें किसी (विपक्षी) का तिरस्कार भी किया जाता है और वह बहुधा व्यंग्य रूप में ही होता है, ऐसी दशा में इसे व्यंग्य प्रतिषेध कह सकते हैं।

क्रूर, कुटिल, कपटी शकुनि, यह है युद्ध अपेल।
नहिं चौपर को खेल यह, यह चौपट को खेल॥

विश्वनाथ एवं मम्मट आदि आचार्यों ने इसे अपने ग्रन्थों में एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में नहीं लिखा। जयदेव जी ने अपने चन्द्रालोक में तथा अप्पय जी ने अपने कुवलयानन्द में इसे इसी प्रकार स्वतन्त्र अलंकार ही मान कर लिखा हैः—

"प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्॥"

हिन्दी के प्रमुख आचार्यों में से केशव, भूषण और देव जी ने भी इसे नहीं लिखा, शेष सभी मुख्य आचार्यों ने इसे प्रायः अप्पय जी के ही मतानुसार दिखलाया है।

भिखारीदास ने इसे प्रतिषेधोक्ति के नाम से यों लिखा हैः—

"यह नहिं, यह प्रत्यक्ष ही, कहिये प्रतिषेधोक्ति।"

आपने इसे सहोक्ति, एवं विनोक्ति आदि के ही साथ रक्खा है।

मतिराम जी ने कुवलयानन्द के श्लोक का अनुवाद करते हुए इसे यों लिखा हैः—

"जहाँ प्रसिद्ध निषेध को, अनुकीरतन प्रकास।"

यों ही जसवन्तसिंह ने भी लिखा हैः—

"सो प्रतिषेध, प्रसिद्ध जो, अर्थ निषेधो जाइ॥"

ध्यान देने की बात है कि उक्त सभी लक्षणों में अर्थान्तर, अभिप्राय एवं विशेषार्थ का कुछ भी भाव नहीं दिया गया। हाँ किसी किसी टीकाकार ने अवश्यमेव इसे सूचित किया है। लछिराम जी ने अपनी परिभाषा में इसे स्पष्ट रूप से दे दिया हैः—

"अर्थ प्रसिद्ध निषेध करि, कहि कछु और बनाय।"

और इसी प्रकार पद्माकर ने भी अभिप्राय पर बल देते हुए इसे यों लिखा हैः—

"जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है, ताको बहुरि निषेध।
अभिप्राय-हित ठानिबो, यहै समुझि प्रतिषेध॥"

दूलह ने इसे एक और विशेषता के साथ लिखा है। वे इसे विधि-सिद्ध हेतु के अनुकथन न करने पर मानते हैंः—

"प्रतिषेध, विधि-सिद्ध हेतु-अनुकथन, निषेधन.....

गोकुल ने मतिराम के ही समान कुवलयानन्द के श्लोक का स्वतन्त्रतानुवाद किया है और गोविंद, एवं रामसिंह आदि ने भी वही भाव रक्खा है जो कुवलयानन्द में दिया गया है।

केशवदास ने इसका लक्षण भाविक के समान ही दिया हैः—

"तीनहु काल बखानिये, भयो जु भावी होत।
कविकुल को कौतुक कहत, यह प्रतिषेध उदोत॥"

प्रतिषेध के अन्य रूप यों भी हो सकते हैंः—

१—स्पष्ट—जहाँ निषेध एवं अर्थान्तर का भाव स्पष्ट हो। यथा—उक्त उदाहरणों में।

२—सूच्याः—जहाँ निषेध एवं अर्थान्तर का भाव स्पष्ट न होकर सूच्य ही हो।

कहत राम सन आय खल, रावन ह्वै अति क्रुद्ध।
अरे राम! समुझत कहा, याहि बालि कर युद्ध॥

नोटः—इसे हम प्रश्नात्मक प्रतिषेध भी कह सकते हैं, यदि इसी को यों रख दें तो यह शुद्ध रूप में हो जावेः—

भूल करत जो लखत यहि, राम! बालि कर युद्ध।

पुनश्चः—१ शुद्धा—जहाँ इसमें और किसी भी अलंकार का योग न हो।

१—संकीर्णाः—जहाँ किसी अन्य अलंकार का भी योग हो।

लखत अजामिलि सदृश मोहिं, धौं गज-गीध-समान।
हौं पापिन को नृपति मैं, तरिबो कठिन महान॥

नोटः—यहाँ उपमा और भ्रम के साथ प्रतिषेध का भाव रक्खा गया है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा आदि के साथ भी इसे रख सकते हैं।

मालाः—जहाँ कई वस्तुओं एवं विषयों (बातों) का निषेध अर्थान्तर से किया जावे। यथा उक्त उदाहरण में।

नोटः—इसके वाचक शब्द प्रायः निषेध सूचक शब्द ही होते हैं, यथा, नहिं, ना, न, जनि, मत आदि। जहाँ ये शब्द स्पष्ट न होकर केवल इनके भाव की सूचना ही देने वाले अन्य शब्द रहते हैं वहाँ लुप्त निषेध-वाचक कह सकते हैं।

प्रतिषेधाभास—जहाँ प्रतिषेध का आभास मात्र ही हो।

नोटः—ध्यान रहे कि शुद्धापन्हुति में सत्य वस्तु को छिपा कर उसके स्थान पर उसी के सदृश किसी अन्य वस्तु की कल्पना की जाती है और पर्यस्तापन्हुति में एक वस्तु के किसी गुण का आरोपण किसी दूसरी वस्तु में किया जाता है, किन्तु यहाँ प्रसिद्ध वस्तु का निषेध कर उसके स्थान पर कोई मनमानी वस्तु कल्पित की जाती है, यही इनमें भेद हैं।

———

अनुमान

जहाँ साध्य एवं साधन का वर्णन या कथन किया जावे, अर्थात् किसी साधन रूपी दृष्ट वस्तु के अनुभवाधार पर तत्सदृश या तत्सम्बन्धी अन्य उत्कृष्ट साध्य वस्तु का जहाँ अनुमान किया जावे, वहाँ अनुमानालंकार माना जाता है।

कामिनि-सेवक काम ह्वै, पालत उनके बैन।
गेरत निज सर ताहि पै, जेहि पै वे निज सैन॥

ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार यह अलंकार सब प्रकार न्याय या तर्क-शास्त्र के साध्य, साधक, एवं तदागत अनुमान-सिद्धान्तों पर निर्भर है, कहना चाहिये कि तर्क ही इसका मूल आधार है। अनुमान एक प्रकार का प्रमाण माना गया है। "प्रत्यक्षानुमानोप मानाप्तप्रमाणानि।"

यहाँ हम कुछ पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्ट कर देते हैं।

१—साध्यः—जिस वस्तु, पक्ष, विषय या बात को सिद्ध करना है अर्थात् जो सिद्ध की जावे, उसे साध्य कहते हैं।

२—साधन (हेतु):—जिसके द्वारा साध्य वस्तु को सिद्ध किया जावे।

३—व्याप्ति-सम्बन्ध—साध्य और साधन (हेतु) का प्रसिद्ध एवं अनुभवित (ज्ञात या दृष्ट) सम्बन्ध, जिसके होने से दोनों की सत्ता प्रतिपादित ठहरती है।

४—अनुमानः—व्याप्ति-सम्बन्ध के आधार पर किसी अदृष्ट वस्तु का अनुमान करना और उसे साध्य बनाना।

यह सब तो तर्क-सम्बन्धी बातें हुईं, यदि ये सब उपस्थित भी रहें किन्तु कवि-कल्पनाजन्य चातुर्य-चमत्कार वहाँ न हो तो अनुमान अलंकार की सत्ता वहाँ न मानी जा सकेगी, हाँ वहाँ

तर्कात्मक अनुमान अवश्य कहा जावेगा। अतः आवश्यक है कि व्याप्ति-सम्बन्ध के साथ साध्यादि में कवि-कल्पनोत्पन्न चातुर्य-चमत्कार भी अवश्य हो।

नाचन लागे मुदित मन, मोर अरी अभिराम।
आवन चाहत हैं 'सरस,' अब अवश्य घनस्याम॥
—'सरस'-सुधा

ध्यान रखना चाहिये कि अनुमान प्रायः तीन प्रकार का हो सकता है:—

१—सर्वथा निश्चित—जो ऐसे हेतु आदि से प्रतिपादित हो जो सर्वथा सत्य हों—यथा उक्त उदाहरण में।

२—अनिश्चित—जो निश्चित न होकर अनिश्चित ही सा हो।

३—संदिग्ध—जिसमें निश्चितता और अनिश्चितता दोनों हों।

जानत जग अरु सत्य यह, मधु-रिपु हैं गोपाल।
मधु आयो तौ आइहैं, वेऊ कहत "रसाल"॥

हाँ यह अवश्य है कि इसमें उत्प्रेक्षा की भाँति प्रतीति सर्वथा अनिश्चित ही नहीं रहती, वरन् वह निश्चित रूप में भी रहती है।

मालाः—जहाँ किसी विषय पर कई अनुमान किये जावें।

हरि नहिं आये, अजहुँ सखि, चित मों बड़ो अँदेस।
कुबजा राख्यो रोंकि धौं, लह्यो न मोर सँदेस॥

संकीर्णः—जहाँ इसकी पुष्टि अन्य अलंकारों से की गई हो।

नोटः—सम्भाव्य एवं असम्भाव्य दो रूप इसके और हो सकते और इसमें अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति का भी समावेश हो सकता है। अनुमानाभास— जहाँ अनुमान का आभास ही हो।

इसी अलंकार के समान अन्य प्रत्यक्ष, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, एवं ऐतिह्य ये आठ और अलंकार इन्हीं नामों के आठ प्रकार के प्रमाणों (तर्कशास्त्र गत) के आधार पर अप्पय आदि उत्तर कालीन आचार्यों ने और लिखे हैं, जिन्हें हम सूक्ष्म रूप में आगे दे रहे हैं। यहाँ हमें केवल यही स्पष्ट करना है कि इन अलंकारों को देख कर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि इनकी उत्पत्ति एवं कल्पना आचार्यों ने तर्क-शास्त्र के प्रभाव को ही देख कर की है, और उन्होंने यह समझा था कि तर्क का बहुत बड़ा अधिकार एवं अंश हमारे वार्तालाप एवं लिखने या कहने आदि में रहता है, क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क तर्क-प्रधान है और तर्क के ही आधार पर वह अपने सब कार्यों एवं व्यापारों को स्वभावतः करता है "Man is a rational animal" यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो जो कुछ भी हम कहते, सुनते या लिखते-पढ़ते हैं सब के आधार में तर्क की पुट कुछ न कुछ अवश्य ही रहती है। एक समय था जब भारत में दर्शन शास्त्र, धर्म, (Religion) और तर्क का पूर्ण प्रचार एवं प्रभावातंक था, हमारी धारणा है कि उसीसे प्रभावित हो कर हमारे कवियों एवं आचार्यों ने इन प्रमाणों को अलंकारों का रूप देकर काव्य-शास्त्र में ला रक्खा है। यह बात उत्तर-कालीन आचार्यों के ही द्वारा की गई है, पूर्वकालीन आचार्यों ने इन्हें अलंकार नहीं माना और न इन्हें अलंकार का रूप ही दिया है। भामह, उद्भट, दंडी, रुद्रट, आदि प्रधान आचार्यों ने इन्हें लिखा ही नहीं। उनका मत है और बहुत अंशों में वह ठीक भी है कि इनमें लोकोत्तरानन्द एवं मनोरंजक काव्य-चातुर्य-चमत्कार का नितान्त अभाव ही सा रहता है और ये ही बातें काव्य में विशेष रूप से सापेक्ष्य हैं। श्री भोजराज ने ही उक्त आठ प्रमाणालंकारों का सबसे प्रथम महर्षि जैमिनि के इन्हीं आठों प्रमाणों के आधार

पर प्रमाणालंकारों के नाम से लिखा था, तभी से अन्य आचार्य आपका अनुकरण करते हुए अपने ग्रंथों में इन्हें लिखते आये।

मम्मट जी ने इसे यों लिखा है:—

"अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः।" —का० प्र०

इसमें चमत्कारादि का भाव नहीं दिया, वरन् एक शुद्ध एवं साधारण अनुमान का लक्षण जैसा तर्क-शास्त्र में पाया जाता है दे दिया है।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय इसका प्रारम्भ ही हुआ था, कवियों एवं आचार्यों ने इन्हें प्रथम ही प्रथम तर्कशास्त्र से लाकर काव्य में रक्खा था इसी से इनमें कुछ विशेष विकास या काव्य-चमत्कार का रंग नहीं आ सका था।

विश्वनाथ जी ने लिखा है:—"अनुमानं तुविच्छित्या, ज्ञानं साध्यस्य साधनात" यहाँ विच्छित्या (अलंकारादिकृत वैचित्र्या) पद स्पष्ट रूप से दो बातें सूचित करता है:—

१—विश्वनाथ के समय के आसपास अनुमान को काव्य का चमत्कृत रूप प्राप्त हो गया था, इसी से इसमें वैचित्र के होने का भाव स्पष्ट रूप से विश्वनाथ के द्वारा दिया गया है और उसका इसमें होना आवश्यक एवं अनिवार्य भी कहा गया है।

२—विश्वनाथ जी रसवादी होते हुए भी काव्य में अलंकृत (अलंकारकृत) वैचित्र्य का होना अनिवार्य एवं अत्यावश्यक मानते हैं, अतः कहना चाहिये कि आपका यथार्थ झुकाव अलंकृत वैचित्र्य की ओर अवश्य था और आप इसके पक्ष में ही थे। अब इसी की टीका करते हुए टीकाकार जी लिखते हैं:—

"अनुमानं स्वार्थ, परार्थ भेदेन द्विधा।"

यत्र मया यमवगतोऽर्थः इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः स्यात्तत्स्वार्थम्। यत्र परेणावगतस्य वस्तुनः प्रतिपादनात्पर प्रत्यायकत्वं तत्परार्थम्।" अर्थात् अनुमान के दो भेद हैं:—

१—स्वार्थः—जहाँ मेरा यह अनुमान है ऐसा अर्थ अवगत हो या ऐसा निश्चित परामर्श हो, वहाँ स्वार्थानुमान है। और
२—परार्थः—जहाँ किसी दूसरे के द्वारा अवगत की हुई वस्तु के प्रतिपादन से परावगत (परप्रत्यायकत्व) का निश्चय हो वहाँ परार्थानुमान होता है।

विश्वनाथ जी ने इस अलंकार के पश्चात् "हेतु" अलंकार (जिसे हम भी आगे दे रहे हैं) लिख कर एक नया अलंकार और दिया है, वह है:—

अनुकूलालंकार

आपने इसका लक्षण यों दिया है:—

"अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धिचेत्।"

अर्थात जहाँ किसी प्रतिकूल विषय या बात का अनुकूलानुबन्ध किया जावे। इसे अन्य आचार्यों (हिन्दी और संस्कृत दोने के) ने नहीं लिखा।

हमारे हिन्दी के प्रमुख आचार्यों में से भूषण को छोड़ कर अन्य किसी आचार्य ने इसे (अनुमानालंकार को) नहीं लिखा।

भिखारीदास ने इसका कोई लक्षण नहीं लिखा, हाँ इसके आपने उदाहरण अवश्य दिये हैं।

भूषण जी ने लिखा है:—

"जहाँ काज ते हेतु कै, जहाँ हेतु ते काज।
जानि परत अनुमान तहँ, कहि भूषन कविराज।"

अर्थात अनुमान दो रूपों में होता है:—

१—जहाँ कार्य से हेतु का अनुमान हो।

२—जहाँ हेतु से कार्य का अनुमान हो॥

गुलाब कवि ने इसमें से एक ही रूप लिया है:—

"कारण के जाने जहाँ, कारज जान्यो जाय।
है अनुमान अलंकृती, कवि गुलाब के भाय॥"

× × ×

नोट:—उक्त परिभाषायें बहुत संकीर्ण हैं, अनुमान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, वह न केवल कार्य-कारण पर ही घटित होता है वरन् सर्वत्र ही होता है।

हेतु

जहाँ कार्य और कारण का अभेद दिखलाया जावे, वहाँ हेतु अलंकार होता है।

मोहिं परम पद मुक्ति सब, तव पद-रज घनश्याम।
तीन लोक को जीतबो, मोहिं बसिबे ब्रजधाम॥

—का० क०

यहाँ कार्य और कारण में एकरूपता दिखलाई गई है।

नोट:—हमारी समझ में जहाँ किसी कार्य का कारण कवि-कल्पना जन्य चातुर्य-चमत्कार एवं वैचित्र्य के साथ दिया जावे वहाँ ही हेतु अलंकार मानना चाहिये। हेतु अलंकार भी वैसे ही तर्क-सम्बन्धी अलंकार है जिस प्रकार अनुमान अलंकार तर्कात्मक है। हम देख चुके हैं कि हेतु का बहुत बड़ा अंश, प्रभाव, एवं आवश्यकार्थ हमें अपने कथनादि में मिलता है, इसीसे उसकी पुष्टि

होती है। साथ ही हमने यह भी देखा है कि हमारे कतिपय अलंकारों में इसका बहुत आवश्यक एवं सहायक हाथ रहता है, यथा हेतूत्प्रेक्षादि में। इसलिये हमें इसे एक आवश्यक अलंकार मानना चाहिये। इसका दूसरा रूप यों भी होता है:—

२—जहाँ कार्य और कारण एक ही साथ एकत्र कहे या रक्खे जावें।

मरु मग लौं तेरा अधर, विद्रुम छाय लखाय।
कहु अलि! मन किहि को न यह, प्यास विकल करवाय॥
—का० क०

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें कार्य और कारण का भाव अनिवार्य है, इन्हीं दोनों का अभेद (एक रूपता) एवं एक साथ वर्णन देना चाहिये, क्योंकि यदि ऐसा न हो कर उपमेय एवं उपमान का अभेद दिखलाया जावेगा तो रूपकालंकार हो जावेगा। कुछ विद्वानों (जैसे मम्मट एवं उनके काव्य प्रकाश के टीकाकार) का मत है कि इसे काव्यलिंग अलंकार का ही एक भेद या रूप मान कर उसीके अन्तर्गत रखना चाहिये, किन्तु अन्य प्राचीन एवं उत्तर कालीन आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार ही माना है।

मम्मट जी ने इसे नहीं लिखा। विश्वनाथ जी ने इसे यों दिया है:—

"अभेदेनाभिधाहेतुहेतोर्हेतुमतासह"

आपने इसके अन्य भेद या रूप नहीं दिये। अप्पय जी ने इसके दो रूप यों लिखे हैं।

१—"हेतोर्हेतुमता सार्ध्यं वर्णनं हेतु रूच्यते।
२—हेतु हेतुमतोरैक्यं हेतु केचित् प्रचक्षते॥"

इन दोनों को हम ऊपर दिखला ही चुके हैं।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से देव को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने इसे लिखा है। केशवदास ने इसे एक विलक्षण रूप देकर यों दिखलाया है:—

वे लिखते हैं:—हेतु होत है भाँति द्वै, बरनत सब कविराय।
केशवदास प्रकाश करि, बरणि अभाय सुभाय॥

आपने इस प्रकार इसका लक्षण तो स्पष्ट रूप से नहीं दिया (कदाचित् शब्दार्थ ही को तदर्थ पर्याप्त समझा हो) किन्तु इसके दो रूप स्पष्ट रूप से इस दोहे में दिखलाये हैं अर्थात्:—

१—अभाव हेतु और २—सुभाव हेतु अर्थात् किसी वस्तु के अभाव का कारण और उसके स्वभाव (स्वाभाविक) या सत्ता का कारण जहाँ दिया जावे। इनके बाद आपने दोनों का एक मिश्रित रूप भी दिया है, अर्थात् ३—सुभावाभाव हेतु, इन सब की भी आपने परिभाषायें स्पष्ट रूप से नहीं दीं, हाँ इनके उदाहरण अवश्य दिये हैं।

भिखारीदास ने अप्पय जी के ही अनुसार इसके दो रूप यों दिये हैं:—

१—"या कारन को है यही, कारज, या कहि देतु।
२—कारज कारन एक ही, कहै जानियत हेतु॥"

मतिराम जी ने केवल इसके ३ रूप यों ही लिखे हैं, इससे स्पष्ट है कि आपने विश्वनाथ जी के ही आधार पर इसे दिया है:—

"जहाँ हेतु मत साथ ही, कीजै हेतु बखान।"

भूषण जी ने दास जी के प्रथम रूप ही को लिखा है:—

१—यह निमित्त यह ही भयो, यों जहँ बरनन होय।"

जसवन्तसिंह ने कुवलयानन्द के अनुसार इसके दो रूप यों दिये हैं:—

१—"हेतु अलंकृत दोइ जब, कारन-कारज संग।
२—कारन-कारज ये जबै, बसत एक ही अंग॥"

ध्यान देना चाहिये कि आपके दूसरे भेद में यह विशेषता है कि कार्य और कारण को एक ही वस्तु के अंग कहा गया है, ये एक ही (एक ही रूप में अभेदता के साथ) नहीं कहे गये।

लछिराम जी ने समय और स्थान के हिसाब से इसके दो भेद माने हैं।

१—कार्य-कारण का एक ही समय में साथ साथ होना।

२—इनका एक ही स्थान में होना (एक ही समय या भिन्न भिन्न समयों में)।

आपने अभेदता एवं एकरूपता आदि के भावों को प्रधानता नहीं दी, जैसा अन्य आचार्यों ने किया है। यदि इन भावों को भी उक्त भेदों के साथ रक्खा जावे तो कई उपभेद हो सकते हैं, पाठक उन्हें स्वयमेव देख सकते हैं; विस्तार-भय से हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

१—कारन-कारज क्रम सहित, साथ हेतु इक मानि।
२—इक थल कारन, कारजै, बास दूसरी ठानि॥

—रा० क० त०

गोकुल कवि ने कार्य-कारण का एक ही साथ होना, यही भेद लिखा है:—

"हेतुमान के संग जहँ, हेतु कही तहँ हेतु।"

गोविन्द, रामसिंह, दूलह और पद्माकर ने कुवलयानन्द के ही आधार पर (उसके श्लोकों का) अनुवाद ही करते हुए इसके दो भेदों के लक्षण यों दिये हैं।

१—जहाँ काज के संग ही, कीन्हों हेतु बखान।
२—बरन्यो सुकविन एक करि, जहाँ काज अरु हेतु॥

—गोविन्द

१—"हेतुमान सँग हेतु बखानै......
२—कारन-कारज होइ, वस्तु एक मैं दोय जब।" —रामसिंह
१—" हेतुमान सहित बखानै हेतु......
२—हेतु हेतुमान को अभेद बरनन दूजो "...... —दूलह कवि

पद्माकर ने यों लिखा है:—
१—"हेतु हेतुमत साथ ही, हेतु कह्यो जिहि ठाम।
२—इकता कारज-हेतु की, हेतु कहत सुकविन्द ॥"
मतिराम जी ने इसके ३ रूप यों दिये हैं:—
१—" जहाँ हेतुमत साथ ही, कीजै हेतु बखान।
२—जहाँ हेतुमत हेतु को, बरनत एक स्वरूप।
३—जहँ समर्थिबे अर्थ को, प्रगट समर्थन होय। "

यह तृतीय लक्षण आपका नया है। यह बहुत कुछ काव्यलिंग से मिलता-जुलता है। इसे अन्य आचार्यों ने काव्यलिंग ही माना है।

देव जी लिखते हैं:—

"हेतु सहित जहँ अरथ पद, हेतु बरनिये सोइ।"

आपने इसके भेदोपभेद नहीं दिये।

हेतु के अन्य मुख्य रूप यों भी हो सकते हैं।

अहेतु हेतुकृत—जहाँ वास्तविक कारण के स्थान पर अन्य काल्पनिक कारण को ही किसी अर्थ का कारण कहा जावे।

"आर्यधर्म रक्षाहि हित, भयो शिवा अवतार।"

वाचक शब्द:—इसके वाचक शब्द हैं:—हेतु, हेतु, काज, कारण लागि, लगि एवं इसी प्रकार के अन्य शब्द। जहाँ ये शब्द स्पष्ट रूप से दिये जाते हैं वहाँ तो व्यक्त वाचक हेतु और जहाँ ये लुप्त

रहते हुए कारण का भाव ही सूचित करते हैं वहाँ लुप्त वाचक हेतु मानना चाहिये।

भेदः—समयानुसार—(१) कार्य-कारण का समीपवर्ती समयों में होना।

स्थानानुसार—(१) कार्यकारण का समीपवर्ती स्थानों में होना।

इनके एकरूपता (एवं अभेदता) एवं पृथकता के भावों के आधार पर कई रूप हो सकते हैं। विस्तार-भय से हम यहाँ नहीं दे रहे।

परस्पर

मतिराम जी ने यह अलंकार नवीन ही दिया है, अन्य आचार्यों ने इसे नहीं लिखा।

इसका लक्षण आप यों लिखते हैं:—

"जहाँ परस्पर उपकरत, तहाँ परस्पर नाम।

अर्थात् जहाँ दो पक्ष एक दूसरे का उपकार करें, वहाँ परस्परालंकार होता है।

तुहि राखी सखि ! लाल करि, निज उर की बनमाल।
तैं राख्यौ करि लाल निज, कंठमाल को लाल॥

—ल० ल०

नोट:—यदि इस प्रकार हम परस्परोपकार पर यह परस्पर नामी अलंकार मान लें (और मानना ही चाहिये, क्योंकि एक आचार्य ने माना भी है) तो परस्पर अपकार के स्थान पर भी हमें अपकार नाम से इसका विलोम रूप एक अलंकार और मानना चाहिये।

अब इन दोनों रूपों के (१—परस्परोपकारात्मक और २—परस्परापकारा के) सम, न्यून और अधिक के आधार पर तीन तीन रूप और हो जावेंगे।

देव जी ने भी कुछ निम्नाङ्कित नये अलंकार दिये हैं:—

१—'प्रेमः—कहिये जो अति प्रिय वचन, प्रेम बखानौ ताहि।'

२—सुक्रमोक्तिः—उपमा अरु उपमेय को, क्रम सुक्रमोक्ती आहि॥

अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान एक क्रम से रक्खे जावें।

आपके उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रथम कई उपमेय रख कर उनके उपमानों को यथाक्रम रखना ही इसका मूल लक्षण है।

अब इसे यदि हम एक स्वतन्त्र अलंकार मान लें तो इसके निम्न भेद और हो सकते हैं:—

१—उपमेयोपमान क्रम :—जहाँ प्रथम जिस क्रम से उपमेय हों उसी क्रम से उनके उपमान भी हों।

२—उपमानोपक्रमः—जहाँ प्रथम उपमान फिर क्रम से उनके उपमेय हों।

३—परस्पर क्रमः—जहाँ एक उपमेय (फिर उसका उपमान) फिर दूसरा उपमेय और उसका उपमान इस प्रकार क्रम से एक माला हो।

नोटः—इसे हम उपमेयों एवं उपमानों की यथाक्रम माला भी कह सकते हैं। इसी प्रकार केवल उपमेयों या केवल उपमानों की भी माला हो सकती या होती है।

देख्यो एक अचल अनूपम बाग। इत्यादि में —सूरदास

३—संकीर्णः—"अलंकार जामैं बहुत, सो संकीरण होइ।"

४—आशीषः—चाह चित्त अभिलाष की, आसिष बरनै सोइ।

नोटः—यह एक प्रकार का संकर एवं संसृष्टि का विशिष्ट रूप है। ध्यान रहे कि यहाँ दो या कई अलंकार संकर एवं संसृष्टि की भाँति मिलते नहीं, वरन् अलग ही रहते हैं, हाँ, वे एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। मिश्रालंकार में दो अर्थालंकार मिलकर एक नया अलंकार बनाते हैं। यही इन सब में विशेषता है।

रसालंकार

उत्तरकाल में रस-सिद्धान्त का साहित्यिक क्षेत्र में प्राधान्य एवं प्राबल्य बड़े ही वेग से हो गया था, और यहाँ तक इसकी महत्ता बढ़-चढ़ गई थी कि इसके सामने अलंकार-सिद्धान्त को दब ही सा जाना पड़ा, और उसका प्राधान्य इसके सम्मुख बहुत ही कम रह गया। अलंकार-वादियों ने ऐसे समय में अपने पक्ष को पुनर्जीवन देने एवं बल-प्रदान करने के लिये, ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकार के कुछ थोड़े से अलंकारों की कल्पना की गई, जिनका सम्बन्ध सीधे सीधे रस ही से हो। बस निम्नांकित अलंकार काव्य-क्षेत्र (अलंकार-क्षेत्र) में आ गये। इन्हें हम यहाँ सूक्ष्म रूप में ही दे रहे हैं। यह अवश्य हुआ है कि अलंकार के कट्टर अनुयायियों एवं प्रमुख आचार्यों ने इन्हें अलंकारों की कक्षा में स्थान नहीं दिया, वरन् इन्हें रस-सिद्धान्तों के ही साथ रक्खा है, कतिपय आचार्यों ने इन्हें अलंकार ही नहीं माना और इसीसे इन्हें अपने अलंकार-ग्रंथों में दिया भी नहीं। जिन आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों पर ग्रंथ लिखे हैं उन्होंने इन्हें रस के अध्याय में दिया है, किन्तु जिन्होंने केवल अलंकारों का ही वर्णन किया है उन्होंने इन्हें नहीं दिया। यथा, भूषण, मतिराम, (मतिराम के ललित ललाम पर टीका करते हुए गुलाब कवि ने इन्हें अलग से अवश्य लिख दिया है) दूलह, रामसिंह, गोकुल और गोविन्द आदि।

१—रसवत

नोटः—रस, भाव आदि पदार्थों को ध्वनि-सिद्धान्त-वादियों ने असंलक्ष्य ध्वनि के ही रूप एवं भेद कहे हैं, वहाँ ये प्रधान हो कर ध्वनि की संज्ञा से अलंकार्य रूप में आ जाते हैं। हाँ, जिस समय ये सब अप्रधान या गौण रूप में ही रहते हैं तब ये गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत माने जाते हैं और अलंकार्य न रह कर अलंकार ही हो जाते हैं।

सूक्ष्मतः यों कहना चाहिये कि जब रस एवं भाव आदि दूसरों के अंग या अपरांग हो जाते हैं और केवल वाच्यार्थादि की ही शोभा को बढ़ाते हैं तब गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत हो कर ये अलंकारों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

जहाँ भावादि में से किसी के अंग के रूप में रस की सत्ता दिखलाई जाती है वहाँ रसवत अलंकार माना जाता है।

भिखारीदास ने लिखा हैः—

"जहँ रस को कै भाव को, अंग होत रस आइ।
तेहि रसवत भूषन कहैं, सकल सुकवि-समुदाइ॥"

यथाः—भूल्यो फिरै भ्रम-जाल में जीव कै,
ख्याल की खाल में फूल्यो फिरैहै।
काम के तेज निकाम तपै,
बिन राम जपे बिसराम न पैहै॥"

यहाँ भयानक रस शान्तरस का अंग है, अतः यहाँ रसवत है। गुलाब कवि ने इसे यों दिया हैः—

इक रस, रस को अंग ह्वै, कै स्थाई को होय।
कै व्यभिचारी भाव कौ, अंग, सुरसवत जोय॥ —ज० ज०

जयति जयति योगीन्द्र मुनि, कुंभज महा अनूप।
देखे ताके चुलुक में, कच्छप, मच्छ, सरूप॥

यहाँ अद्भुत रस रतिभाव का अंग है, अतः रसवतालंकार है। इसी प्रकार लछिराम और दूलह ने भी लिखा है।

केशवदास ने लिखा है:—

"रसमय होय सु जानिये, रसवत 'केशोदास'।"

देव जी ने भी लिखा है:—

"नौ हू रस में सरसता, जहाँ सुरसवत होइ।"

प्रेयस

जहाँ पर कोई भाव किसी दूसरे का अंग हो कर प्रदर्शित होता है और इस प्रकार अत्यंत प्रिय एवं रोचक हो जाता है वहाँ प्रेयस अलंकार माना जाता है।

भिखारीदास जी लिखते हैं:—

"भावै जहँ ह्वै जात है, रस भावादिक-अंग।
सो प्रेयालंकार है, बरनत बुद्धि उतंग॥"

—का० नि० पृ० ४५

दुरे दुरे तकि दूरि तें, राधे आधे नैन।
कान्ह कँपित तुव दरस तें, गिरि डगलात गिरै न॥

यहाँ कम्प भाव का अंग शंका भाव हुआ है अतः यहाँ प्रेयस अलंकार मानना चाहिये। गुलाब कवि ने भी इसी प्रकार लिखा है:—

"भाव होय अँग भाव कौ, कै रस कौ अँगचार।
सुहै प्रेय कहै याहि कौं, कवि भावालंकार॥
कब बसि मधि बाराणसी, धरि कौपीनहिं चीर।
हे हर 'शिव' शंकर जपत, फिरि हौं गंगा-तीर॥"

यहाँ शान्त रस का अंग हो कर चिन्ता जो संचारी भाव है प्रकाशित हुआ है अतः यहाँ प्रेय अलंकार है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इस अलंकार को किसी ने प्रेय और किसी ने प्रेयस के नाम से लिखा है।

लछिराम और दूलह ने भी इसे इसी प्रकार प्रेया नाम से दिया है।

ऊर्जस्वि

जहाँ किसी प्रवृत्ति में अनुचित रीति से आक्रमण किया गया हो अथवा जहाँ भावाभास या रसाभास किसी रस एवं भाव का अंग हो, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार मानना चाहिये।

"लखि बन फिरत पुलिंद, नृप ! तो अरि ललनान सों।
प्रेम करत स्वच्छंद, तजि निज प्रिय वनितान कों॥"

यहाँ राज-महिषियों में भीलों के प्रेम का होना अनुचित है, यह रसाभास है, साथ ही रिपु-ललनाओं का प्रेम भीलों में नहीं है, ऐसी दशा में रति दोनों पक्षों में निष्ठ नहीं है, कवि की जो राज से सम्बन्ध रखने वाली रति है उसका रसाभास अंग है, अतः यहाँ रसाभास भाव का अंग है, बस इसीसे यहाँ ऊर्जस्वि अलंकार है।

दास जी लिखते हैं:—

"काहू को अँग होत रस, भावाभास जु मित्त।
ऊर्जस्वी भूषन कहैं, ताहि सुकवि धरि चित्त॥"

इसी प्रकार गुलाब कवि भी लिखते हैं:—

"रसाभास जहँ अंग भास को होय वर।
अथवा भावाभास भाव को अंग तर॥
सो ऊर्जस्वित होत भाव रस अनुचितहि।
भावाभास रु रसाभास क्रम-सहित लहि॥"

यथा—बन बन भीलन सँग रमत, तुव वैरिन की बाम।
अरु अरि तुव गुन गनत नित, प्रबल प्रतापी राम॥

इसी प्रकार लछिराम और दूलह आदि ने भी लिखा है।

केशव और देव ने इसे विलक्षण लक्षण के साथ लिखा है। केशव जी लिखते हैं:—

"तजै नवीन हँकार को, यद्यपि घटै सहाय।
ऊर्ज नाम तासों कहैं, 'केशव' कवि कविराय॥"

देव जी लिखते हैं:—

"अहंकार गर्वित वचन, सो ऊर्जस्वल होइ।"

इससे स्पष्ट है कि आप इसमें गर्वोक्ति की महत्ता एवं सत्ता मानते हैं, कह सकते हैं कि गर्वोक्ति को ही आप ऊर्जस्वल कहते हैं।

समाहित

जहाँ पर भाव-शान्ति ही रस का अथवा भाव-शान्ति ही भाव का अंग हो, वहाँ समाहित अलंकार माना जाता है।

दास जी लिखते हैं:—

"काहू को अँग होत है, जहँ भावन की साँति।
समाहितालंकार तहँ, कहैं सुकवि बहु भाँति॥"

यथा—राम धनुष टंकार सुनि, फैल्यो सब जग सोर।
गर्भ स्रवाहिं रिपु-रानियाँ, गर्व स्रवहिं रिपु जोर॥

यहाँ गर्व भाव शान्ति ही भयानक रस का अंग है।

केशव दास ने इसका विलक्षण ही लक्षण दिया है, वे लिखते हैं:—

"हेतु न क्यों हूँ होत जहँ, दैव योग तें काज।
ताहि समाहित नाम कहि, बरनत कवि सिरताज॥"

अर्थात् जहाँ किसी भी कारण के न होने पर भी केवल दैव-योग से ही कोई कार्य होजाता है वहाँ समाहित नामी अलंकार माना जाता है।

गुलाब कवि ने लिखा है:—

" अंग होय रस को जहाँ, भाव साँति कै होय।
भाव साँति अंग भाव को, जानि समाहित सोय॥"

इसी प्रकार लछिराम ने भी दिया है:—

"जित भावन को साँत, अंग, काहू को ह्वै बेस।"

दूलह ने लिखा है:—

"भाव प्रशमन की अवस्था भाव-शान्ति जानौ,
तहाँ कवि 'दूलह' समाहित जतायो है॥"

पद्माकर जी ने भी इसी प्रकार लिखा है। देव जी ने ठीक केशव दास जी के ही आधार पर इसे उसी प्रकार यों लिखा है:—

"जहँ कारज करतव्य कौं, साधन विधि-बल होइ।
अकस्मात ही "देव" कहि, कहौं समाहित सोइ॥"

इससे ज्ञात होता है कि इन दोनों आचार्यों ने किसी अन्य आचार्य का अनुकरण किया है या इसे पूर्णतया अलंकार ही बना दिया है, इसे भाव एवं रस से नितान्तमेव अलग कर दिया है।

विश्वनाथ जी ने भी वही लिखा है जो ऊपर दिया गया है इससे स्पष्ट है कि उक्त आचार्यों ने उन्हीं के आधार पर इसे लिखा है। ' 'भाव प्रशमस्येतराँगत्वं समाहितमित्यर्थः।"

नोटः—उक्त अलंकारों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सब अंगांगी सम्बन्ध पर ही समाधारित हैं। एक रस एवं भाव दूसरे रस एवं भाव का अंग होकर उसे पुष्ट करता हुआ उत्कर्ष देता है। यही विशेषता यहाँ रोचकता का कारण होती है।

—सम्पादक

भावालंकार

इन्हें भी रसालंकारों का अंग या भेद मानना चाहिये, क्योंकि इनका भी सम्बन्ध रसों एवं उनके भावों से ही है। यदि वास्तविक बात कही जावे तो इनको अलंकार कहना ही न चाहिये, यदि अलंकार शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जावे जिस अर्थ में उसका प्रयोग साधारणतः होता है अर्थात् संकीर्णार्थ में—विचार या भाव-प्रकाशन में भाषा का रूप-वैचित्र्य रखना—किन्तु यदि अलंकार का अर्थ सौंदर्यकारक साधन से ही लिया जावे तो अवश्यमेव इन्हें हम अलंकार कह सकते हैं।

भावों से सम्बन्ध रखने वाले मुख्यतः ३ अलंकार ही हैं:—

भावोदय

"होय अंग रस कौं जहाँ, भावोदय कै होय।
भावोदय अँग भाव को, है भावोदय सोय॥"

अर्थात् जहाँ रस के अंग रूपी किसी भाव या भाव के किसी अंग का उदय हो, वहाँ भावोदय अलंकार माना जाता है।

यथा—सुनि गुन मोहन के रहैं, हिय हुलसी अति बाम।
चहत विचारि २ उर; कब मिलि हैं घनश्याम॥ —ल० ल०

भिखारीदास ने भी यों ही लिखा है:—

"रसभावादिक को जु कहुँ, भाव उदय अँग होय।
भावोदय वत तेहि कहै, दास सुमति सब कोय॥"

बस इसी प्रकार अन्य आचार्यों (लछिराम, पद्माकर और दूलह आदि) ने भी लिखा है किसी ने भी कुछ विशेषता नहीं की है।

भावसंधि

भाव संधि जहँ अंग रसहि को कै जहाँ,
भाव संधि है अंग भाव को वर तहाँ।
भाव संधि है जुरैं विरुद्ध जु भाव ही,
भाव संधि तिहिं नाम समस्त बतावहीं॥

अर्थात् जहाँ रस एवं भाव का भाव-संधि ही अंग के रूप में हो और जहाँ विरोधी भाव मिलते हों वहाँ भाव संधि कही जाती है।

यथा—चलत वीर संग्राम कौं, लखि बिलखीं निज बाल।
अरुन बरन तन मैं उन्हें, विपुल पुलक ततकाल॥

दास जी भी इसी प्रकार लिखते हैं:—

"भाव संधि अंग होइ जो, काहू को अनयास।
भाव संधिवत तेहि कहैं, पंडित बुद्धि विलास॥"

यथा—पिय अपराध अगाध तिय, साधु सुनेकु गनै न।
जानि लजो हैं होहिंगे, सोहैं करति न नैन॥

इसी लक्षण को अन्य आचार्यों ने भी लिखा है।

भावसबल

जहाँ भाव-सबलता ही किसी रस या भाव का अंग हो, अथवा जहाँ अनेक भाव-उत्पन्न हों, वहाँ भावसबलतालंकार माना जाता है।

"भाव तथा रस-अंग जहँ, भाव सबलता होय।
उपजैं भाव अनेक जहँ, भाव सबलता सोय॥"

दास जी लिखते हैं—

"भाव-सबलता 'दास' जो, काहू को अँग होय।
भाव-सबलता तेहि कहैं, कवि, पंडित सब कोय॥"

यथाः—बंसीधर बनमाल धर, हरि उर माँहि रसाय।
कित मैं, कित वह, कित मिलन, सजनी ब्योंत बताय॥

ठीक इसी प्रकार गुलाब, लछिराम और दूलह आदि ने भी दिया है, किसी ने भी कुछ विशेषता नहीं दिखलाई।

नोटः—जिस प्रकार अलंकार आ कर रसों एवं गुणों के उपकारक एवं उत्कर्षक होते हैं उसी प्रकार उक्त रसवत एवं भावोदय आदि भी होते हैं, इसीलिये इन्हें आचार्यों ने अलंकारों की कक्षा में रक्खा है।

—सम्पादक

श्लेष (अर्थ सम्बन्धी)

आचार्यों में श्लेष अलंकार पर बहुत मत-भेद रहा है और अद्यापि चला ही जा रहा है, इसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं।

रुद्रट (६०० सन्) ने इसे अपने अलंकारों के ४ आधारभूत सिद्धान्तों में से एक माना है, और एक व्याज श्लेष नाम का अलंकार (जिसे भामह और मम्मट आदि ने व्याज स्तुति के नाम से लिखा है) भी दिया है। उद्भट के ही समय से श्लेष को दो रूपों या भेदों में रखने (शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष के रूपों में रखने) और अन्यान्य समस्त अलंकारों से इसको सम्बद्ध करके इसकी प्रधानता के स्थापित करने का विवाद प्रारम्भ हुआ है। उद्भट का मत है कि श्लेष ही समस्त अलंकारों से प्रबलतर सिद्ध होता है, यह जिस किसी भी अलंकार के साथ आता है उसे अपने प्रभाव से प्रभावित करके दबा ही सा देता है। दंडी जी ने भी अपना विचार यों ही दिया है कि श्लेष प्रायः सभी अलंकारों

के साथ आ सकता या आही जाता है और ऐसी दशा में वह उन्हें विशेष चमत्कार से चमत्कृत कर देता है। यह अवश्य है कि इससे प्रसाद गुण में कुछ न्यूनता और काव्य में कुछ गूढता आ जाती है (क्योंकि इससे अर्थान्तर की उत्पत्ति हो जाती है) किन्तु जब इसके गूढ अर्थान्तर की ग्रंथि सुलझ कर खुल जाती है तो वस्तुतः आनन्द द्विगुणित हो जाता है। अस्तु—

विद्वान आचार्यों ने श्लेष को दो रूपों में रख दिया है :—

१—अर्थ श्लेषः—जो शब्द स्वभावतः ही (वास्तव) में एकार्थक (एकार्थ वाची, या एक ही अर्थ देने वाले) हैं उनके ही द्वारा जहाँ एक से अधिक कई अर्थों का अभिधान हो, वहाँ अर्थ सम्बन्धी श्लेषालंकार माना जाता है।

नोटः—ध्यान रहना चाहिये कि इसमें शब्द यथार्थ में एक ही अर्थ वाला रक्खा जाता है, किन्तु शब्द श्लेष में ऐसा शब्द रक्खा जाता है जो अनेकार्थ वाची होकर कई अर्थों का (भिन्न भिन्न अर्थों का) देने वाला होता है। अर्थ श्लेष में भावान्तर का और शब्द श्लेष में अर्थान्तर का ही प्राधान्य एवं प्राबल्य होता है।

अर्थ श्लेष में प्रसंगादि के आधार पर भावान्तर तो हो जाता है किन्तु उससे उसके अभिधा-शक्ति-प्रदत्त अर्थ का निषेध, प्रतिरोध एवं नियंत्रण नहीं होने पाता। जहाँ इसके विपरीत एक वाच्यार्थ के कारण प्रसंगादि के द्वारा अभिधेयार्थ का प्रतिरोध हो जाता है और उसके पश्चात् अन्य व्यंगार्थ का प्रस्फुटन एवं प्रकाश होता है वहाँ ध्वनि आ जाती या मानी जाती है। हाँ वहाँ व्यंग्यार्थ का कथन या प्रकाशन प्रधानता से नहीं होता, और ऐसा अर्थ-श्लेष में होना भी न चाहिये।

अर्थ श्लेष और शब्द श्लेष को पृथक् करने तथा उनको पहिचानने के लिये यही विशेष रूप से देखना चाहिये कि उस स्थान पर उस (श्लिष्ट) शब्द के स्थान पर उसका पर्यायी वाची अन्य शब्द रख देने से श्लिष्टता बनी ही रह जाती है या नहीं और अर्थ या भाव उसी प्रकार चरितार्थ होता रहता है या नहीं। पर्यायीवाची (उसी अर्थ को देने वाला अन्य शब्द) या समानार्थवाची शब्द रखने से यदि श्लेष का भाव बना रहता है और पर्यायी वाची शब्द भी उसी प्रकार वहाँ (प्रसंगानुकूलार्थ एवं अभीष्टार्थ के साथ) चरितार्थ होता हुआ ठीक बैठ जाता है, तब तो वहाँ अर्थ-श्लेष मानना चाहिये, किन्तु यदि पर्यायीवाची शब्द के रखने से श्लेष का चमत्कार नहीं रह जाता और वह नितान्त ही विनष्ट हो दूर हो जाता है तब वहाँ शब्द श्लेष ही मानना चाहिये।

रंचहि सों ऊँचे चढ़ै, रंचहिं सो घटि जाँहिं।
तुलाकोटि, खल, दुहुन की, सदृश रीति जग माँहि॥

—का० क०

यहाँ यदि रंचादि श्लिष्ट शब्दों के स्थान पर नैकहिं आदि जो उनके पर्यायीवाची शब्द हैं रख दिये जावें तो भी श्लिष्टार्थ में अन्तर नहीं पड़ता इसी लिये यहाँ अर्थ-श्लेष होगा।

२—शब्द-श्लेष—इसका वर्णन हम अपने पूर्वार्ध में दे ही चुके हैं, अतः अब हमें यहाँ उसे फिर देने की आवश्यकता नहीं।

श्लेष

नोटः—केशवदास ने इसके लक्षण में यों कहा हैः—

"दोय, तीन, अरु भाँति बहु, आनत जामें अर्थ॥"

फिर आपने दो, तीन, चार और पाँच अर्थ वाले श्लिष्ट पदों के उदाहरण दिये हैं। तदनन्तर जैसा हमने अपने पूर्वार्ध के पृ० २३६ में कहा है कि आपने इसके निम्न रूप, जो विलक्षण हैं, दिये हैं।

१—तिनमें एक अभिन्न पद, और भिन्न पद जानि।
श्लेष सुबुद्धि दुवेष के. 'केशवदास' बखानि॥

अभिन्न पद का उदाहरण दे कर, लिखा है:—

२—भिन्न पद:—'पद ही पद सों काढ़िये, ताहि भिन्न पद जानि।'

३—उपमा श्लेष—
'भिन्न भिन्न पुनि पदनि के, उपमा-श्लेष बखानि।'

४—'बहुरयो एक अभिन्न क्रिय, और विरुद्ध क्रिय आन।
सुनि विरुद्ध कर्मा अवर, नियम विरोधी मान।'

अर्थात्—५—अभिन्न क्रिया श्लेष
६—विरुद्ध क्रिया श्लेष
७—विरुद्ध कर्मा श्लेष
८—नियम श्लेष
९—विरोधी श्लेष

इस प्रकार आपने इसके ९ भेद करके उन्हें उदाहरणों के द्वारा समझाया ही है, लक्षण उनके नहीं दिये।

देव ने लिखा है:—'जहाँ काव्य के पदनि मैं, उपजैं अर्थ अनन्त।'
अलंकार अश्लेष सों—

इस प्रकार आपने इसे "शब्दाः कामधेनवः" के सिद्धान्त पर समाधारित माना है। आपने इसके भेद नहीं दिये।

श्लेष के अन्य भेद यों भी हो सकते हैं:—

१—शाब्दिकः—१—द्वयार्थक २—अनेकार्थक

२—वीप्सात्मक—जहाँ किसी शब्द की पुनरुक्ति हो, और देखने में तो वहाँ उस शब्द की आवृत्ति एक ही अर्थ के साथ की गई हो, किन्तु उस आवृत्ति से एक पृथक् शब्द की या शब्दयुग्म की ऐसी उत्पत्ति हो जावे कि उसका अर्थ शब्दों के वास्तविक अर्थों से पूर्णतया पृथक् या भिन्न ही हो। ऐसे स्थान में

वीप्सालंकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द की आवृत्ति एक अर्थ के साथ उस अर्थ पर बल देने के लिये नहीं होती जो वीप्सार्थ नितान्त आवश्यक है।

यथाः—दल (पत्र, समूह) + दल = दलदल (पंक) रामराम प्रणाम या नमस्कार तथा घृणित, निंद्य।

जब इस प्रकार के शब्द युग्म (वीप्साभास* सम्बन्धी) का कोई अन्य अर्थ होता है और इस प्रकार उसमें श्लिष्टता स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है तब हम इसे शब्द युग्मक-श्लेष कह सकते हैं

२—पदात्मक श्लेषः—जहाँ कई शब्दों से बने हुए एक पूर्ण पद या वाक्य का प्रयोग एक से अधिक अर्थों या भावों के साथ स्पष्ट रूप से होता है तब हम उसे पदात्मक श्लेष कह सकते हैं।

नोटः—इसके भी दो रूप हो सकते हैं:—१—सभंग २—अभंग।

गर्वोक्ति

जहाँ कोई कवि या अन्य व्यक्ति गर्व एवं अहंकार (अहम्मन्यता) के साथ कुछ कहता है वहाँ गर्वोक्ति अलंकार मानना चाहिये।

इसके मुख्यतया निम्न रूप किये जा सकते हैं, और इनके उदाहरण भी पाये जाते हैं।

१—सिंहनादः—जहाँ कोई कवि अपने ही विषय में गर्व पूर्ण प्रशंसात्मक वाक्य कहता है। इसके कई रूप हो सकते हैं, स्थानाभाव से हम नहीं दे रहे। मुख्यतया इसके दो रूप होते हैं।

* जहाँ वीप्सा का आभास मात्र हो, अथवा किसी शब्द की आवृत्ति एक ही अर्थ में हो, किन्तु उससे उस अर्थ में बल न आता हो, वहाँ वीप्साभास मानना चाहिये।

क—साधारण परिचय—

ख—विशिष्ट रूप—जहाँ कुछ विशेषता के साथ कवि अपना परिचय देता है।

फिर आय बसे उनकी नगरी जिनकी उपमा है उरोजन की।
तब काहे न 'दीन' बुढ़ापेहु में उपजे मन मौज मनोजन की॥

ग—गर्व-पूर्ण—जहाँ अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति के आधार पर या बिना इनके भी कवि अपनी प्रशंसा गर्व के साथ करता है।

१—कहत सिहाइ केते प्रतिभा प्रभाव देखि........

२—सुनि 'रतनाकर' की रसना रसीली नैकु
ढीली परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं।

२—वक्रोक्तिमूला:—जहाँ कवि अपने पिता एवं गुरु आदि की गर्व पूर्ण प्रशंसा करता हुआ इससे अपनी महत्ता को स्थापित करता है और फिर अपने विषय में भी कुछ गर्वोक्ति देता है।

सुमिरि महेश शारदा को प्रेम नेम लाय।
गाय गन-नायक विनायक कौ ध्याऊँ मैं॥
जोरि जुग पानि गुरुवर श्री रसाल जू कौ,
जिनको दुलारो प्यारो अनुज कहाऊँ मैं॥

—'सरस'

३—जब कवि यों अपने विषय में गर्वोक्ति करता है कि वह उसकी ओर से न होकर किसी अन्य व्यक्ति (जो मान्य एवं प्रतिष्ठित होता है), की ओर से उसके लिये कही जाती है।

क—लौकिक—कहत सिहाइ केते प्रतिभा प्रभाव पेखि।

ख—दैविक—आवति गिरा है 'रतनाकर' निवाजन कौं

ग—कहति गिरा यौं गुनि कमला उमा सों चलौ।

—गंगा व०

—जहाँ कवि अपनी प्रशंसा गर्व के साथ करता हुआ दूसरे कवि की निन्दा करता है।

—सुकवि नरेश ने बना के कविराज छोड़े.........

हम फिर इसे निम्न रूपों में रख सकते हैं :—

१—शुद्धाः—जहाँ गर्वोक्ति में अन्य अलंकारों का संयोग न हो।

२—संकीर्णा—जहाँ गर्वोक्ति के साथ अन्य अलंकारों की भी सहायता ली गई हो।

क—अन्योक्तिगर्भाः—रहत सदाई रस रासि के पियासे हम...

—'रसाल'

नोटः—इसे श्लिष्टोक्ति भी कह सकते हैं।

ख—रूपकात्मकाः—यथा उक्त उदाहरण में।

रावरे भरोसे के सिंहासन विराजे रहैं।

ग—अत्युक्ति मूलाः—

घ—अतिशयोक्तिमूलाः—

ङ—व्याजस्तुति गर्भा

च—अप्रस्तुत (एवं प्रस्तुत) प्रशंसात्मक

छ—देवस्तुति मूला

इन्हीं के साथ जहाँ ध्वनि, एवं व्यंग्य की भी पुट गर्वोक्ति में होगी, वहाँ हम ध्वन्यात्मक एवं व्यंग्यात्मक रूप मान सकते हैं।

दैन्योक्ति—जिस प्रकार कवि गर्वोक्ति के द्वारा अपने विषय में कुछ कहता है, उसी प्रकार वह अपना दैन्य एवं निरभिमानतापूर्ण लाघव भी प्रकट करता है, यद्यपि वह वस्तुतः एक उच्चकोटि का बड़ा कवि होता है। अपने दैन्य भाव से ही वह अपना गौरव स्थापित करने में समर्थ होता है।

मन्दः कवि यशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।

प्रसादोक्ति—जहाँ कवि अपनी गौरव पूर्ण-उन्नति एवं प्रतिष्ठा आदि को दिखलाता हुआ उसे अपने गुरु या इष्टदेव की कृपा का ही फल स्वरूप बताता है।

१—कवि-द्वारा अपने विषय में (सिंहनाद)
२—कवि-द्वारा अन्य के विषय में
३—अन्य व्यक्ति के द्वारा अपने विषय में
४—अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्य के विषय में

क—प्रशंसात्मक }
ख—निन्दात्म } शुद्ध और व्यंग्य

१—शुद्धा—जहाँ इसका सम्बन्ध अन्य अलंकारों के साथ न हो।

२—संकीर्णा—जहाँ इसके साथ अन्य अलंकार भी रहते हैं:—
क—अन्योक्तिगर्भा
ख—रूपकात्मक
ग—सव्याजस्तुति
घ—अप्रस्तुत प्रशंसात्मक अथवा
प्रस्तुत प्रशंसात्मक
ङ—देवस्तुति मूला
च—अत्युक्तिमूलक
छ—अतिशयोक्तिगर्भा

पुनश्च

१—ध्वन्यात्मक
२—व्यंग्यात्मक

दैन्योक्ति

जहाँ कवि अपना दैन्य एवं निरभिमानतापूर्ण लाघव प्रकट करता है, यद्यपि वह वस्तुतः एक उच्चकोटि का बड़ा कवि होता है

यथाः – मन्दः कवि यशः प्रार्थी, गमिष्याम्युपहास्यताम्।

प्रसादोक्ति

जहाँ कवि अपनी उन्नति एवं प्रतिष्ठा आदि को दिखलाता हुआ उसे अपने किसी गुरुजन या इष्टदेव की कृपा का ही फल स्वरूप कहता है।

१—घर घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिन, ते अब राम सहाय॥

२—ऐहो ब्रजराज इमि सकल समाज माँहि,
रंग 'रतनाकर' पैं रावरी कृपा कौ है।

कतिपय आचार्यों ने कतिपय ऐसे अलंकारों की भी कल्पना की जिनको अन्य किसी भी आचार्य ने उनसे पूर्व नहीं लिखा था। खेद है उनके इन नवीन अलंकारों को उनके पश्चात् अन्य आचार्यों ने न जाने क्यों पूर्ण रूप से नहीं अपनाया।

हम यहाँ कुछ ऐसे ही नवीन अलंकार दिखलाते हैं। हमारे आचार्य केशवदास ने निम्न अलंकार नये दिये हैं:—

१—क्रम और गणनाः—

आदि, अन्त भरि बर्णिये, सो क्रम 'केशवदास'।
अरु गणना सो कहत हैं, जिनकी बुद्धि प्रकास॥

यहाँ आपने, काव्य में जिन संख्या सूचक शब्दों का प्रयोग होता है उनकी एक लम्बी सूची सी दी है, यथाः—एक आत्मा, चक्र, रवि, एक शुक्र की दृष्टि, इसी प्रकार २, ३, ४ आदि के सूचक शब्द भी दिये हैं।

२—प्रेमालंकार—कपट निपट मति, गै जहाँ, उपजै पूरण छेम।
ताही सों सब कहत हैं, 'केशव' उत्तम प्रेम॥

३—अमित—जहाँ साधनै भोग है, साधक की सुभ सिद्धि।
अमित नाम तासों कहत, जाकी अमिट प्रसिद्धि॥

४—आशीष—मात, पिता, गुरु, देव, मुनि,
कहत जु कछु सुख पाय।
ताहीं सों सब कहत हैं,
आशिष कवि कविराय॥

नोटः—इसे इसी प्रकार हमारे देव जी ने तथा संस्कृत में भामह और दंडी ने भी आशीः नाम से लिखा है।

जिस प्रकार आशीर्वाद को इन आचार्यों ने एक प्रकार का स्वतन्त्र अलंकार मान लिया है उसी प्रकार हम शाप (स्राप) को भी एक प्रकार का स्वतन्त्र अलंकार मान सकते हैं। इन दोनों अलंकारों का विस्तृत वर्णन हम आगे कर रहे हैं।

५—विपरीतः—कारज साधक को जहाँ, साधन बाधक होय।
याही सों विपरीत यों, कहैं सयाने लोय॥

६—सुसिद्धालंकारः—साधि साधि औरै मरै,
औरै भोगै सिद्धि।
तासों कहत सुसिद्ध सब,
जे हैं बुद्धि समृद्धि॥

७—प्रसिद्धालंकारः—साधन साधै एक सब,
जुगवै सिद्धि अनेक।
तासों कहत प्रसिद्ध सब,
'केशव' सहित विवेक॥

८—प्रहेलिकाः—बरणत वस्तु दुराय जहँ,
कौनहुँ एक प्रकार।
तासो कहत प्रहेलिका,…………

उक्ति

संस्कृत के प्राचीन एवं अन्य आचार्यों के ग्रंथों में यह अलंकार स्वतंत्र रूप से नहीं दिया गया। हाँ, इसके आधार पर अन्य प्रकार के कई स्वतंत्र अलंकार जैसे अत्युक्ति, गूढ़ोक्ति, वक्रोक्ति एवं लोकोक्ति आदि अवश्य दिये गये हैं।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास ने इसे एक पूर्ण रूप से स्वतंत्र अलंकार मान कर स्पष्टतया यों लिखा है :—

"बुद्धि, विवेक, अनेक बल, उपजत तर्क अपार।
तासों कवि-कुल उक्ति कहि, बरनत अमित अपार॥

अर्थात् जहाँ बुद्धि एवं विवेकादि के बल पर किसी विशेष प्रकार के तर्क की उत्पत्ति कवि अपनी प्रतिभा एवं कल्पना के द्वारा करता है वहाँ उक्ति नामी अलंकार माना जाता है।

भिखारीदास ने युक्ति नामक एक अलंकार (और इसी नाम से अन्य आचार्यों ने भी एक अलंकार लिखा है जिसे हम प्रथम ही दिखला चुके हैं) लिखा है, किन्तु जहाँ आपने इसका लक्षण

दिया है वहाँ उक्ति शब्द का ही प्रयोग किया है, साथ ही युक्ति नाम देकर एक दूसरा अलंकार भी आपने इससे पृथक् लिखा है जिसे हम अपने युक्ति अलंकार के वर्णन में लिख ही चुके हैं। भिखारी दास ने, ज्ञात होता है, इसे एक स्वतंत्र अलंकार मान कर यों लिखा है :—

"क्रिया-चातुरी सों जहाँ, करै बात को गोप।
ताहि उक्ति भूषण कहैं, जिन्हैं काव्य की चोप॥"

इससे स्पष्ट है कि इसमें क्रिया-चातुरी का ही प्राधान्य है, केशव के लक्षण से यह ज्ञात होता है कि इसमें तर्क-चातुर्य की ही प्रधानता होती है। इस शब्द का प्रयोग यों साधारणतः कवि लोग उसी स्थान पर प्रायः करते हैं जहाँ कवि अपनी प्रतिभापूर्ण कल्पना के द्वारा किसी बात को विशेष चातुर्य-चमत्कार के साथ रख कर वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य दिखलाता हुआ उसे विशेष रोचक, कुतूहल-कारी एवं मनोरंजक या समाकर्षक बना देता है। इस प्रकार इसमें वक्रोक्ति का ही प्राधान्य आ जाता है।

अन्य आचार्यों ने युक्ति अलंकार तो लिखा है, जिसे हम प्रथम दिखला चुके हैं, किन्तु इसे नहीं दिया।

केशवदास ने इसके ५ भेद यों लिखे हैं:—

१—वक्रोक्तिः—"केशव सूधी बात में, बरणत टेढो भाव।
वक्रोकति तासों कहत, सदा सबै कविराव॥"

२—अन्योक्तिः—

औरै प्रति जु बखानिये, कछू और की बात।
अन्य उक्ति यह कहत हैं, बरनत कवि न अघात॥

नोटः—इन दोनों को हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

३—व्यधिकरणोक्तिः—

औरहि मैं कीजे प्रगट, औरहि के गुण-दोष।
उक्ति यहै व्यधिकरन की, सुनत होत संतोष॥

४—विशेषोक्तिः—

"विद्यमान कारन सकल, कारज होइ न सिद्ध।
सोई उक्ति विशेष मय, 'केशव' परम प्रसिद्ध॥"

५—सहोक्तिः—

हानि, वृद्धि, शुभ, अशुभ कछु, करिये गूढ प्रकास।
होय सहोक्ति सुसाथ ही, वर्णत 'केशवदास'॥

अब देखिये कि इनमें से प्रत्येक रूप अपनी विशेषता रखता है। साथ ही इसके देखिये कि आपने युक्ति को किस प्रकार लिखा हैः—

"जैसो जाको बुद्धि-बल, कहिये तैसो रूप।
तासों कविकुल युक्ति यह, बरणत बहुत सुरूप॥"

भिखारीदास ने इसके भेदोपभेद नहीं दिये, किन्तु इसके पश्चात गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, लोकोक्ति, निरुक्ति छेकोक्ति आदि को स्वतंत्र अलंकारों के रूप में लिखा है। आपने श्रुति-पुराणोक्ति नामी एक और रूप दिया है किन्तु इसका लक्षण स्पष्ट रूप से न दे कर केवल उदाहरणों से ही इसे समझा दिया है। कदाचित् आपने इसीलिये इसका लक्षण नहीं दिया, क्योंकि इसके नाम ही से इसका लक्षण स्पष्ट हो जाता है।

भेद

वक्र, अन्य, व्यधिकरण कहि, और विशेष समान।
सहित सहोकति में कही, उक्ति सुपंच प्रमान॥

—केशव

प्रमाणालंकार

श्री भोज जी ने ही सब से प्रथम प्रमाणालंकारों को महर्षि जैमिनि के द्वारा लिखे गये तर्क शास्त्र सम्बन्धी ६ प्रमाणों के आधार पर उठा कर अलंकार-शास्त्र में ला रक्खे हैं। आप के पूर्व अन्य किसी भी प्रमुख आचार्य ने इन्हें अपने ग्रंथ में नहीं लिखा जिससे स्पष्ट है कि वे लोग इन्हें अलंकार न मानते थे और न भोज के समय तक ही इनकी गणना अलंकारों में ही की गई है। भोज जी के पश्चात् भी प्रायः बहुत थोड़े ही से आचार्यों ने इन्हें अलंकार मान कर अलंकारों के साथ लिखा है।

यही बात हमारे हिन्दी के आचार्यों ने भी की है। बहुत थोड़े ही से ऐसे प्रमुख आचार्य हैं जिन्होंने इन्हें लिखा है।

तर्क-सम्बन्धी प्रमाणों की संख्या के विषय में भी मत-भेद है। किसी २ के मत से वे ८ हैं—१—प्रत्यक्ष, २—अनुमान, ३—उपमान, ४—शाब्द, ५—अर्थापत्ति, ६—अनुपलब्धि, ७—सम्भव, ८—ऐतिह्य किन्तु न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध महर्षि ने केवल प्रथम ४ प्रमाणों को ही प्रधान और मुख्य माना है, शेष प्रमाणों को इन्हीं के अन्तरंग कहा है। वैशेषिक दर्शन में केवल दो प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान को ही मुख्य कहा है और दूसरे सभी प्रमाणों को इनके ही अन्तर्गत माना है।

यद्यपि भोज जी ने इन्हें अलंकारों के साथ रख कर अलंकारों की संख्या का विकास तो किया है, किन्तु इनमें कुछ विशेष चातुर्य-चमत्कार एवं सौंदर्य न होने के कारण इन्हें अन्य आचार्यों ने अलंकारों में नहीं रक्खा। हम भी इन्हें सूक्ष्म रूप में ही यहाँ दिखला दे रहे हैं। मम्मट आदि आचार्यों ने भी इन्हें नहीं लिखा।

हमारे प्रमुख आचार्यों में से भिखारीदास ने लिखा है:—

"कहुँ प्रतच्छ, अनुमान कहुँ, कहुँ उपमान दिखाइ।
कहूँ बड़ेन कौ वाक्य लै, आत्मतुष्टि कहुँ पाइ॥
अनुपलब्धि, सम्भव कहूँ, कहुँ लहि अर्थापत्य।
कवि प्रमान भूषन कहैं, बात जु बरनै सत्य॥"

आपने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, संभव, अर्थापत्ति के लक्षण नहीं दिये, केवल उदाहरणों से ही इन्हें दिखला दिया है। आपने कुछ और भेद भी इनके दिखलाये हैं, और नये रूप भी दिये हैं:—जिनके लक्षण और भेद (रूप) आपने दिये हैं, उन्हें हम नीचे दे रहे हैं:—

१—शब्द-प्रमाण—"श्रुति पुरान की उक्ति दै, लोक उक्ति दै चित्त।
वाक्य प्रमान जु जानिये, शब्द प्रमान सुमित्त॥"

इसके निम्न भेदों के उदाहरण ही आपने दिये हैं, लक्षण नहीं।

क—श्रुति पुराणोक्ति, ख—लोकोक्ति प्रमाण।

२—आत्मतुष्टि—अपने अंग सुभाव को, दृढ़ विश्वास न हाहिं।

इसके उदाहरण के पश्चात् अनुपलब्धि, सम्भव और अर्थापत्ति के उदाहरण ही मात्र देकर आपने वचन प्रमाण का (कदाचित् इसे आपने शब्द प्रमाण से पृथक् माना है) उदाहरण दिया है।

गुलाब कवि ने ललित ललाम में प्रमाणालंकार और जोड़ दिये हैं। आपने लिखा है:—

१—प्रत्यक्षः—"ईंद्रिय अरु मन ये जहाँ, विषय आपनौ पाय।
ज्ञान करै प्रत्यक्ष तहँ, कहँ गुलाब कविराय॥

२—अनुमानः—कारण के जानै जहाँ, कारज जान्यो जाय।

नोटः—इसे हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

३—उपमानः—उपमा की सादृश्य तैं, बिन देख्यो उपमेय।
जानि परै उपमान सो, अलंकार है सोय॥"

नोटः—इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महर्षि जैमिनि एवं अन्य तर्क-शास्त्राचार्यों के समय में भी अलंकार-शास्त्र का प्रचार एवं प्राधान्य था।

४—शब्द—"जहाँ शास्त्र अरु लोक को, बचन प्रमाण बखान।
५—अर्थापत्ति—जहाँ व्यर्थ मैं अर्थ कौं, और जोग सों थाय।
६—अनुपलब्धि—जानि परै नहिं वस्तु कछु,
अनुपलब्धि है सोय।
७—संभव—जहँ सम्भव है, वस्तु को, सम्भव नाम सु होय।
८—ऐतिह्य—सु ऐतिह्य प्राचीन कोउ, चलि आई जु कहानि।
ताको वक्ता प्रथम को, नहिन परै पहिचानि॥"

इसी प्रकार पद्माकर और दूलह ने भी लिखा है। शेष अन्य आचार्यों ने इन्हें छोड़ ही दिया है।

किसी किसी आचार्य ने इसके साथ, आगम और अभाव इन दो अन्य अलंकारों को भी प्रमाणालंकार के अन्दर माना है।

भोजराज ने भी इन्हीं अलंकारों को प्रमाणालंकारों के अन्दर दिया है।

वरदानालंकार।

सूच्याः—जहाँ शब्दों के द्वारा आशीषादि का भाव स्पष्ट न हो, हाँ वह अन्य प्रकार से सूचित अवश्य हो।

चिरजीवहु जोरी जुरै, सफल होहिं सब काम।

वरदानः—जहाँ कोई देवता या देवोपम महापुरुष किसी पर प्रसन्न हो उसे वर देता है।

१—स्वाभीष्ट—
२—याचित—जो प्रसन्न अति मोहिं पर, तौ प्रभु यह वर देहु।
जहँ जहँ जन्म धरौं तहाँ, सदा राम-पद नेहु॥

३—अभिलषित—मन जाहि राँच्यो मिलै सो
वर सहज सुन्दर साँवरो।

—जहाँ वर आदि की याचना की जाती है वहाँ हम याँचालंकार भी कह सकते हैं। इसे और भी विस्तृत रूप देकर हम याँचालंकार कर सकते और फिर उसके भी अन्य रूप रच सकते हैं।

विरुद्धाशीषः—जहाँ देखने में तो ऐसा जान पड़े कि दुराशीष दिया गया है, किन्तु वस्तुतः दिया शुभाशीष ही गया हो।

नोटः—पीछे देखो कि देव और केशवदास इसके लक्षण क्या देते हैं।

आशीष और स्राप

आशीष (आशीः) नामी अलंकार के विषय में हम कुछ प्रथम ही कह चुके हैं, और इसका लक्षण भी लिख चुके हैं, यहाँ पर हम इसके कुछ मुख्य रूपों या भेदों को ही दिखलाना चाहते हैं।

यद्यपि आचार्यों ने इसके भेदोपभेद नहीं दिये हैं तथापि यदि हम चाहें तो उदाहरणों के आधार पर इसके भेद या रूप कर सकते हैं।

हमारी समझ में इसके निम्न मुख्य रूप हो सकते हैं:—

१—शुद्धः—जहाँ स्वाभाविक रूप से ही किसी व्यक्ति को कोई दूसरा व्यक्ति आशीर्वाद दे। इसके निम्नाङ्कित भेद या रूप और हो सकते हैं:—

क—व्यक्तिगतः—"सुनु सिय। सत्य अशीष हमारी।
पूजहि मन-कामना तुम्हारी॥"

ख—व्यापक—जहाँ किसी जाति-समूह, प्रजावर्ग या देशादि को आशीर्वाद के रूप में मंगलकामना के साथ कुछ कहा जावे।

प्यारे भारत देश की, बाढ़े सिद्धि-समृद्धि।
भारतवासिन को तथा, हाय शान्ति-सुख-वृद्धि॥

नोटः—हम उक्त रूपों को इस प्रकार भी रख सकते हैं:—

१—दैविकः—देवता के द्वारा या देवोपम महापुरुष के द्वारा

२—आर्ष या गुरुजन के द्वारा—सफल मनोरथ होहिं तुम्हारे।

३—कवि द्वारा—" राजन्नभ्युदयोऽस्तु "

स्पष्टाः—जहाँ शब्दों के द्वारा आशीष का भाव स्पष्ट हो।

" सुनु सिय सत्य आशीष हमारी "

सूच्याः—जहाँ क्रिया एवं अन्य पदों से आशीष का भाव सूचित हो।

चिरजीवहु, जोरी जुरै, सफल होहिं सब काम।"

वरदान—जहाँ कोई देवता या देवोपम महापुरुष वर प्रदान करता है।

१—स्वाभीष्टः—

२—याचितः—

३—अभिलषितः—

नोटः—इसी प्रकार हम यांचा नामी अलंकार भी मान सकते हैं:—

विरुद्धाशीषः—जहाँ देखने में तो दुराशीष सा जान पड़े किन्तु वास्तव में वह शुभाशीष ही हो। इसमें प्रायः श्लेष का ही प्राधान्य रहता है, अतः इसे कुछ अंश में श्लिष्टाशीष भी कह सकते हैं:—

यथाः—विषं भुंक्ष्व महाराज! सह पुत्रैः सह बाँधवैः।
बिना केन बिना नाभ्यां, कृष्णाजिनमकल्मषम्॥

विष भोगौ भूपाल मणि, सहित पुत्र परिवार।
बिन ककार ह्वै ना रहित, कृष्णाजिन सुखसार॥
—पं० कुंजबिहारी लाल

जरैं बरैं तेरे पिया, जरैं बरैं सुख साज।
कह 'रसाल' कवि, सत्य यह, पूरन होवहिं काज॥

हेत्वात्मकः—जहाँ आशीष देने का हेतु भी दिया गया हो।
मालाः—जहाँ आशीषों या वरदानों की माला हो।

स्राप

जहाँ कोई देवता या देवोपम महापुरुष किसी पर कुपित होकर उसे स्राप देता है, वहाँ हम (आशीष के समान) शाप या स्राप अलंकार कह सकते हैं।

इसके मुख्यतया निम्न रूप हो सकते हैं:—

शुद्धः—" मानिषाद् प्रतिष्ठांत्वम् अगमाशाश्वती समाः।"
यत्क्रौंच मिथुनादेकं अवधीः काम मोहितम्॥

नोटः—जहाँ शाप का हेतु भी दिया जाता है वहाँ हम हेत्वात्मक शाप भी कह सकते हैं। यथा उक्त उदाहरण में।

स्पष्टः—जहाँ शापादि शब्दों के द्वारा शाप का भाव स्पष्ट हो।

सूच्याः—जहाँ शाप का भाव केवल सूचित ही हो। यथा उक्त उदाहरण में।

" कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी।"

जहाँ देखने में तो वह आशीष सा हो किन्तु हो वस्तुतः वह शाप।

मोहन मत तुम्हरो करैं, प्रेम न नेम न चारु।

नोटः—इसमें श्लिष्ट पदावली का ही प्रायः प्राधान्य होता है, या अन्य प्रकार भी (वाकूछल आदि से) ऐसा कर सकते हैं।

मालाः—जहाँ शापों की एक माला ही हो।

भाषासम

कवि जहाँ काव्य में कई प्रकार की भाषाओं (उनके शब्दों, पदों, एवं वाक्यों) का समावेश एवं सामंजस्य करता है, वहाँ भाषा-सम नामी अलंकार माना जाता है।

ध्यान देना चाहिये कि इसका सम्बन्ध भिन्न भिन्न भाषाओं के संमिश्रण से ही है, अतः इसे हम भाषा मूलक अलंकार कह सकते हैं। इस अलंकार का दर्शन हमें प्रथम भट्टी काव्य (संस्कृत में) और केशव मिश्र के अलंकार शेषर में प्राप्त होता है। अन्य प्रमुख आचार्यों ने इसे प्रधानता नहीं दी और इसे कोई विशेष चमत्कार एवं चातुर्य-पूर्ण मनोरंजक अलंकार न मान कर नहीं लिखा। केशव मिश्र एवं भट्टीकार के मत से जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का संमिश्रण होता है वहाँ यह अलंकार माना जाता है। यदि हम यह परिभाषा मान लें तो यह हमारे हिन्दी-काव्य में चरितार्थ न हो सकेगी, इसीसे अब हमारे आचार्यों ने इसके लक्षण में यों लिखा है, कि जहाँ कई प्रकार की भाषाओं का मेल हो। ऐसा लिखने से उनका तात्पर्य यही है कि जहाँ हिन्दी, उर्दू, और फारसी (व अंग्रेजी) का संमिश्रण हो वहाँ भाषासम होता है।

हमारी समझ में इस अलंकार की व्यवस्था यों करना उचित है। भाषासमः—जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की देश-प्रचलित भाषाओं का (साहित्यिक भाषाओं) का संमिश्रण हो।

नोटः—यदि देश-प्रचलित पद न रक्खा जावेगा तो काव्य में अपरिचित भाषायें आकर उसे दुर्बोध एवं अबोध बना कर दूषित कर देंगी, और उसमें अप्रयुक्त दोष आ जावेगा।

साथ ही यदि साहित्यिक पद भाषाओं के साथ में न रक्खा जावेगा तो ग्रामीण भाषाओं के शब्द आ जाने से उसमें ग्राम्य दोष एवं भाषा शैथिल्य आदि दोष आजावेंगे।

ध्यान रखना चाहिये कि कवि अन्य भाषाओं के उन्हीं शब्दों एवं पदों का प्रयोग अपने काव्य में कर सकता है (और ऐसा ही उचित एवं रम्य भी है) जिनका प्रचार एवं प्रयोग देश एवं समाज तथा वहाँ उस समय में बाहुल्य हो कर उन्हें सर्व साधारण एवं व्यापक सा बना रहा हो।

इस अलंकार के मुख्यतया ये रूप हो सकते हैं:—

१—हिन्दी प्रधानः—जहाँ हिन्दी के भिन्न भिन्न रूपों का सामंजस्य हो—यथाः—ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अवधी, उर्दू आदि—

क—बोली प्रधानः—जहाँ हिन्दी भाषी भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषाओं का संमिश्रण हो। यथा, बुंदेली, बनारसी आदि—

२—स्वदेशीय भाषासमः—जहाँ अपने देश के प्रान्तों की भाषाओं का संयोग हो यथा, बंगाली, पंजाबी, हिन्दी आदि—

३—अन्यदेशीयः—जहाँ अन्य देशीय ऐसी भाषाओं के शब्दों एवं पदों का प्रयोग हो, जिनका प्रचार देश एवं समाज में बाहुल्य से है यथा, फारसी, अरबी, अंग्रेज़ी आदि—

भषासम—भेद

ध्यान रहना चाहिये कि इस अलंकार का प्रयोग या इससे साहाय्य उसी स्थान एवं समय पर लेना चाहिये, जहाँ एवं जिस समय कवि के इसकी वास्तव में आवश्यकता एवं अनिवार्यता प्रतीत हो, और बिना इसके काम ही न चलता हो तथा इससे काव्य में रोचकता, स्वाभाविकता एवं उपयोगिता के साथ चमत्कार आ जाता हो। अतः जहाँ निम्न बातें हों वहाँ ही इसका प्रयोग करना उचित होगाः—

१—जहाँ किसी पात्र से कवि अपनी भाषा (हिन्दी) नहीं बोलवा सकता, क्योंकि वह अन्य देशीय होकर हिन्दी से परिचित नहीं। अतः कवि अपने पात्रों से उसी की भाषा का प्रयोग करावे और ऐसे ही स्थान एवं समय पर इसका प्रयोग करे। उसके ऐसे पात्र यदि कुछ अंशों में हिन्दी भी बोल सकते हैं तो उनसे भाषा सम का प्रयोग स्वाभाविक एवं उचित होगा।

२—जहाँ उर्दू एवं अंग्रेज़ी आदि के शब्द एवं पद जो लोक-(देश एवं समाज)—प्रयोग-प्रचार के बाहुल्य से चिर प्रचलित हो सर्व साधारण एवं व्यापक से हो गये हैं, और ये किसी अर्थ एवं भाषा को सब प्रकार यथार्थता एवं स्वाभाविक सत्यता के साथ सरल सुबोधता से व्यक्त करते हैं, तथा उनके पर्यायीवाचक शब्द हिन्दी में या तो हैं ही नहीं, या यदि हैं भी, तो क्लिष्ट, दुर्बोध, अप्रयुक्त एवं अपरिचित से ही हैं।

जहाँ अन्य भाषा की शब्दावली या पदावली से काव्य में कोई विशेष मनोरंजक सुन्दरता, चमत्कृत रोचकता एवं शिष्ट काव्य-चातुरी आती हो।

इन तथा ऐसी अन्य आवश्यकताओं को छोड़ कर कवि को और किसी साधारण दशा (स्थान एवं समय) में भाषासम का प्रयोग न करना ही समीचीन होगा, उसे साधारणतया अपनी काव्य-भाषा को शुद्ध रूप ही में व्यवहृत करना चाहिये। ऐसा न करने तथा व्यर्थैव भाषासम का प्रयोग करने से उसमें भाषा-ज्ञान की न्यूनता एवं भाषा की शिथिलता के दोष ही प्रतिभात होते हैं। इसका प्रयोग श्रुतकाव्य (पाठ्यकाव्य) में तो वैसा नहीं होता जैसा दृश्य काव्य या नाटक में होता है, अतः इसका प्रयोग यदि नाटकों में ही विशेष रूप से (नाटकों के भाषा-गद्य, एवं उनमें आने वाली कविता या पदों में) होना अच्छा है। नाटक में ऐसा नियम भी है कि पात्र अपनी ही अपनी शुद्ध भाषा बोलते हुए दिखलाये जावें। जान पड़ता है, कि कवियों ने इसी के आधार पर इसे जन्म (नाटकों में विशेषतया) देकर साहित्यिक-काव्यालंकारों में भी रख दिया है।

प्रहेलिका

प्रहेलिका को वास्तव में अलंकार न कहना चाहिये, जब तक उसमें अलंकारोचित चातुर्य-चमत्कार एवं कवि-प्रतिभाजन्य काव्य-कला का कौशल न हो।

प्रहेलिका काव्य-कला-कौतुक का वह कुतूहलकारी भेद जिसमें किसी वस्तु या पदार्थ को गुप्त रूप में रखते हैं किन्तु उसको खोज निकालने के लिये कुछ आवश्यक एवं उपयुक्त संकेत सूच्य रूप में दे दिया जाता है।

इसे हिन्दी के आचार्यों ने तो अलंकार ही नहीं माना, संस्कृत के भी प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों ने इसे कोई भी स्थान नहीं दिया। हाँ उत्तरकालीन कुछ आचार्यों ने इसे लिखा है। यदि इसका कुछ भी विचार किया जावे तो केवल इसके उक्त साहित्यिक रूप का ही विचार किया जाना चाहिये न कि इसके उस साधारण रूप का जिसका प्रचार प्रायः अशिष्ट ग्रामीण लोगों एवं स्त्री-बच्चों में पाया जाता है।

इसके मुख्यतया निम्नांकित रूप होते हैं:—

१—शाब्दिक—जिसका सम्बन्ध किसी शब्द विशेष से ही है।

२—अर्थात्मक—जिसका सम्बन्ध किसी विशेष अर्थ या भाव से हो। इसके मुख्य दो भेद हो सकते हैं।

क—साभिप्राय—जिसमें किसी अभीष्टार्थ का प्राधान्य हो।

ख—साधारण—जो केवल साधारण रूप में ही हो।

३—स्पष्टा—जिसमें शब्दों के द्वारा प्रहेलिका का भाव स्पष्ट हो या जिसमें प्रहेलिका तथा पहेली आदि शब्द दिये हों।

४—सूच्या—जिसमें प्रहेलिका का भाव सूच्य ही रहे।

५—सप्रश्ना—जिसमें प्रश्नों का समावेश हो।

६—प्रश्नोत्तरात्मक—जिसमें प्रश्नों के उत्तर भी दिये हों।

क—जिसमें उन वर्णों से मिलकर उत्तर बनता हो जो प्रश्नों से सम्बन्ध रखते हैं। यह वर्ण स्पष्ट एवं सूच्य भी होते हैं।

> रथचक्र समाकारं स्त्रीलिङ्गम् त्वत्तरम्।
> जकारादौ बकारान्ते यो जानाति स पण्डितः।
>
> उत्तर—जलेबी

ख—अव्यक्ता:—जिसमें उत्तर के वर्ण सूचित तो किये गये हों किन्तु वे अव्यक्त रूप में ही हों। यथा:—

आदि कटे ते सब को पालै। मध्य कटे ते सबको मारै।
अन्त कटे ते सब को मीठा। सो खुशरो हम आँखिन दीठा॥

उत्तर—काजल

गः—गुप्त स्पष्टोत्तर—जहाँ उत्तर स्पष्ट होता हुआ भी गुप्त रहे। यथाः—

बारे से वह सब को भावै, बढ़ा हुआ कुछ काम न आवै।
मैं कह दिया है उसका नाम, अर्थ करौ कै छाँडौ गाम॥

उत्तर—दिया अथवा दीपक

घः—दत्तोत्तर—जिसमें उत्तर गुप्त रीति से दिया हुआ रहता है।

चः—अदत्तोत्तरः—जिसमें उत्तर दिये हुए संकेतों के आधार पर बाहर से सोचकर लाना पड़ता है।

नोटः—अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका इन्हीं उक्त रूपों के विशेष रूप हैं।

पहेलाः—पहेली या प्रहेलिका के कुछ विस्तृत रूप को पहेला कहते हैं और वह प्रायः इसी शब्द से सूच्य भी रहता है।

मुकरीः—प्रहेलिका का यह एक विचित्र रूप है इसमें रूपक और अन्योक्ति की भी पुट रहती है और प्रायः श्लिष्ट पदों से ही इसमें सहायता ली जाती है और इसमें एक प्रकार से दो जनों के बीच में Dialogue या वार्तालाप सा रहता है।

अठयें दसयें मो घर आवै, भाँति भाँति की बात सुनावै।
मेरो तापै अति एतबार, कहु सखि साजन, नहिं, अखबार॥

नोटः—इसे हम दत्तोत्तर के अन्दर भी रख सकते हैं क्योंकि इसमें प्रायः उत्तर दिया ही रहता है।

वर्ण सञ्चयात्मकः—जिसमें अभीष्ट शब्द के जो अभीष्ट पदार्थ की संज्ञा के रूप में रहता है, वर्ण क्रमानुसार चरणों की आदि या अन्त में दे दिये जाते हैं और उनका संचयन कर लेने से उत्तर प्राप्त हो जाता है।

नोटः—इसी के समान जहाँ उत्तर सम्बन्धी शब्दों का संचयन करना पड़ता है वहाँ शब्द-संचयात्मक रूप कहा जा सकता है।

प्रहेलिका में अभीष्ट वस्तु या विषय से सम्बन्ध रखने वाली उन सभी बातों या गुणों (लक्षणों) को सूचना स्पष्ट रूप से दे दी जाती है जो उस वस्तु के जानने अथवा पहिचानने में विशेष रूप से सहायक और प्रधान होते हैं। प्रहेलिका के और भी उपभेद हो सकते हैं, विस्तार-भय से उन्हें हम नहीं दे रहे हैं।

आवश्यक नोटः—हमारे आचार्यों ने चित्र सम्बन्धी अलंकारों की भी कल्पना की है हम विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं; साथ ही चूँकि उनका सम्बन्ध काव्यालंकार तथा सौंदर्य से न होकर काव्य-कला के कौतुक एवं कौशल से ही है, अतः उनका यहाँ देना हम उचित नहीं समझते। चित्रालंकारों तथा कुतूहलकारी काव्यकला के कौतुकों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हम अपने दूसरे ग्रंथ में जिसका नाम "चित्रचन्द्रिका" है दे रहे हैं। पाठक उसी में उन्हें देख सकते हैं।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि निम्नांकित अलंकार संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के द्वारा दिये तो गये हैं किन्तु वे सर्वमान्य होकर प्रचलित नहीं हुए और उत्तरकालीन आचार्यों ने उनको नितान्तमेव छोड़ दिया है, इसीलिये हम उनको यहाँ नहीं दे रहे हैं।

नाम अलंकार	...	लेखक
१—वार्ता	...	रुद्रट
२—अहेतु	...	भोजराज
३—वितर्क	...	भोजराज
४—भाव	...	भोजराज और वाग्भट्ट
५—साम्य	...	भोजराज
६—उक्ति और समाधि	...	केशव मिश्र (गुणों के रूप में)
७—अन्य	...	वाग्भट्ट व उद्भट
८—अपर	...	"
९—पूर्व	...	"
१०—मत	...	"
११—उभयन्यास	...	"
१२—आशीः	...	वाग्भट्ट, भामः दण्डी, देव
१३—सङ्कीर्ण	...	"

ऋतु, वसु, ग्रह, शशि विक्रमी, संवत, कार्तिक मास ।
शुक्ल पूर्णिमा, ग्रन्थ यह, कियो 'रसाल' प्रकास ॥

समाप्तम्

RESPONSIBLE OPINIONS

ON

THE "ALANKAR PIYUSH."

MAHAMAHOPADHAYA

DR. GANGA NATH JHA,

M. A., D. LIT., LL. D.

Vice-Chancellor, the Allahabad-University,

Allahabad.

In his foreword attached to the 1st book—" The Alankar Piyush " Purvardh writes :—

" The work of the Hindi-Department in the Allahabad-University has been going on for only 5 years. I knew that during this time several candidates of ability had come out of this Department, but I had no such hope that some one of them would have so much courage (interest) and capacity as to produce such a work on such a deep subject. Hence, when this copy of the Alankar Piyush came before me, I felt extremely glad. Besides what has been given in it from the works in Sanskrit, very much has been written about the Hindi literature and poetics.

It is specially in these parts that the knowledge and ability of the writer shines brightly.

The interest of the author is praiseworthy. If he goes on well with his long life, he is sure to increase the reputation (honour) of the University."

(Sd.) Ganga Nath Jha.

Mithila,
The Georga Town,
Allahabad.
Dated the 12th March, 1929.

THE HON'BLE
PT. SHYAM BEHARI MISRA, M.A.
RAI BAHADUR,
Diwan, Tikamgarh State, (C. I.)
Ex-Member of the Executive Council,
Allahabad-University

Writes :—

" I went through your ' *Alankar Piyush,*' it has been very learnedly written, with great labour and research work. I congratulate you for your undisputable or unquestionable success. By writing this work, you have really done a good service to Hindi.

We have a large number of works on Alankaras, or in a way, there is a multiplicity of them, but your work is thoroughly praiseworthy.

14-6-29. (Sd.) Shyam Behari Misra.

Pt. AMAR NATH JHA, M.A.
The Member of the Executive Council,
English Department,
The Allahabad-University, Allahabad.

In his letter writes :—

My Dear Mr. Shukla,

" I have now been able to go through your excellent book. It is unique in many ways and is a production of which an older scholar may well be proud. It bears evidence of wide reading and independent thinking. You are one of the few Research Scholars in the University who have produced such a good work during the period of their residence."

Sincerely Yours,
(Sd.) Amarnath Jha.

Senate House,
Allahabad.
Dated the 17th July, 1929.

Rai Bahadur,

Pt. SHUKDEO BEHARI MISRA, B. A.

Dewan, Chhatarpur State, (C. I.)

In his letter dated the 11th June 1929.

Writes:—

"I have read your work the "*Alankar Piyush*" from the beginning to the end with my fullest attention The language of the work is good, and it contains the best historical account or treatment of works and views of the old Sanskrit Scholars.

The chief glory of the work, consists in the historical treatment of the subject. The accounts of the kinds of Alankaras are also in full detail. The work goes to be a detailed study. Good labour (work) has been done with the old Sanskrit works. On the whole, the work is an example of its kind and stands unique."

(Sd.) Shukdeo Behari Misra.

Prof. BHAGAWAN DIN "DIN",

The Hindi Department,

The Hindu University, Benares.

In his letter writes :—

"Having seen the book my pride fell down. Such a good and great work is being done by my District fellow. I pray to God to give you fame and

name in the field of literary work (service). When will its second volume be published and out ?"

(Sd.) Bhagawan Din,
"Din."

MR. DHIRENDRA VERMA, M. A.,
The Head of the Hindi Department,
The Allahabad-University,
Allahabad.

Writes, and publishes in the 'Bharat'—a Hindi Weekly.

" In Hindi, The " *Alankar Piyush* " is the first work of its kind. From the very beginning the Alankar Shastra has been the very favourite subject of the Author. Having passed the M. A. Examination, the writer did special study of this subject in the Hindi Department of the Allahabad-University, and hence his intelligence acquired keener edge. The Alankar Piyush is the result of the Author's constant thinking and labour.

In Hindi, there has been no such comparative and historical study and treatment of the Alankar Shastra and the Alankaras (figures of the poetic speech) as yet. As far as I know, there is no such complete work on this subject in any other Modern Language of India. At several places, the author has

expressed his good original ideas or views on Alankaras.

My idea that the line of scholars of poetics had come to a close in the 19th century, will, now prove doubtful."

(Sd.) Dhirendra Verma.

Hindi Department,
The University of Allahabad.
26-4-1929.

विद्वानों की कुछ मुख्य सुसम्मतियाँ

टीकमगढ़, C. I.
१४—६—२६

श्रीयुत माननीय (Hon'ble) आनरेबुल पं० श्यामबिहारी जी मिश्र एम० ए० रायबहादुर, दीवान टीकमगढ़ राज्य से लिखते हैं:—

प्रियवर श्री शुक्ल जी, नमस्कार!

आपका ताः १८ मई का पोस्टकार्ड ठीक समय पर मिला था, तदर्थ धन्यवाद। उत्तर में विलम्ब हो गई सो क्षमा करियेगा।

मैंने आपका "अलंकार पीयूष" देखा। वह अत्यंत योग्यता एवं श्रम के साथ बहुत खोज करके लिखा गया है और मैं आपको आपकी निर्विवाद सफलता पर बधाई देता हूँ। आपने यह ग्रंथ लिख कर हिन्दी का वास्तविक उपकार किया है। हमारे यहाँ अलंकार-ग्रंथ यों तो अनेकों हैं वरन् उनकी एक प्रकार से भरमार ही है, पर आपकी पुस्तक अत्यंत प्रशंसनीय है।

भवदीय
श्यामबिहारी मिश्र

श्रीयुत राय बहादुर पं० शुकदेव विहारी जी मिश्र बी० ए० दीवान छतरपुर राज्य से लिखते हैं:—

दानापुर
११—६—२६

प्रिय महाशय !

अलंकार पीयूष पूर्वार्ध' ग्रन्थ पर आपने जो मेरी सम्मति माँगी सो अब मैं उस ग्रन्थ को साद्यन्त ध्यान पूर्वक पढ़ चुका हूँ। ग्रन्थ की भाषा अच्छी है और उसमें संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों एवं विचारों का श्रेष्ठ ऐतिहासिक कथन है। ग्रन्थ का मुख्य गौरव ऐतिहासिक विवेचन में है। अलंकारों के उपाँगों का भी कथन बहुत अच्छा है। ग्रन्थ का आकार विस्तृत अध्ययन की ओर चलता है। प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों पर अच्छा परिश्रम हुआ है। कुल मिला कर ग्रन्थ अद्वितीय एवं अनुपमेय है।

भवदीय
शुकदेव विहारी मिश्र

कवि-सम्राट श्रीयुत पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय "हरिऔध" बनारस से लिखते हैं:—

बनारस
१७—६—२६

श्रीमान् पण्डित जी, प्रणाम !

'अलंकार पीयूष' की प्राप्ति मैं सादर स्वीकार करता हूँ—इस ग्रंथ के प्रणयन में आपने जो परिश्रम किया है, और जिस गवेषणा से काम लिया है, वह अभिनन्दनीय है। अब तक हिन्दी में कोई भी अलंकार-ग्रन्थ इस योग्यता से नहीं लिखा गया। मतानुमतियों की भी न्यूनता नहीं है, किन्तु नवीन उद्भावकों का भाग कहाँ है ? आप

उच्चकोटि के ग्रन्थ-प्रणेता हैं, अतएव आपकी कृति का मुझको गर्व है, और मैं उसको प्रशंसा खुले दिल से करता हूँ। आशा है, ग्रन्थ का समादर होगा।

भवदीय,
"हरि औध"

अलङ्कार पीयूष (पूर्वार्द्ध)

[लेखक—श्रीयुत पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०]

'अलंकार पीयूष' हिन्दी में अपने ढंग की प्रथम रचना है। प्रारम्भ से ही अलंकार शास्त्र लेखक का अत्यन्त प्रिय विषय था। हिन्दी में एम० ए० करने के उपरान्त गत वर्ष प्रयाग-विश्व विद्यालय के हिन्दी-विभाग में रह कर लेखक ने इसी विषय का विशेष अध्ययन किया। इस कारण लेखक की बुद्धि अपने प्रिय विषय में और भी अधिक पैनी तथा सतर्क होगई। यह 'अलंकार पीयूष' ग्रन्थ लेखक के कई वर्षों के निरन्तर विचार तथा परिश्रम का फल स्वरूप है।

अलंकार शास्त्र तथा अलंकारों की ऐसी तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचना हिन्दी में तो अभी तक हुई ही नहीं है, जहाँ तक मुझे विदित है भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में भी इस विषय पर ऐसा सर्वांगपूर्ण ग्रंथ नहीं है। बहुत से स्थलों पर लेखक ने अलंकारों के संबंध में अपने स्तुत्य मौलिक विचार भी प्रकट किये हैं। मेरी यह धारणा की हिन्दी-काव्याचार्यों की परम्परा १९वीं शताब्दी में ही समाप्त हो गई थी अब कदाचित भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होकर रहेगी।

हिन्दी-विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग।

धीरेन्द्र वर्म्मा।
२६—४—१९२९
("भारत" पत्र से)